

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DTATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

६६

१९५५

आचार्यपरिमलपद्मगुप्तनिरचित

नवसाहसार्द्धचरितम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार —

शास्त्री जितेन्द्रचन्द्रभारतीय एम. ए.

(साहित्याचार्य, साहित्यरत्न)



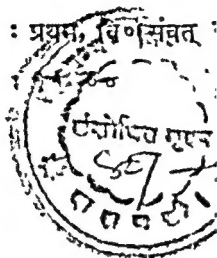
चौरवम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि. सं. संवत् :

मूल्य



© The Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Varanasi-1
(INDIA)

1963

Phone : 3076

THE
VIDYABHAWAN'S SANSKRIT GRANTHAMALA
66
६६

80953

THE
NAVASĀHASĀNKACHARITAM

OF

ĀCHĀRYA PARIMALA; PADMAGUPTA

With Prakāśa Hindi Commentary, Introduction etc ,

By

Shastri Jitendrachandra Bhāratiya M. A.

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN, VARANASI-1
1963

दो शब्द

एम० ए० द्वितीय वर्ष में मैंने आदरणीय गुरुवर भी अण्पर महोदय से प्रबन्ध लिखने की अपनी अभिलाषा व्यक्त की। गुरुवर ने परिमलपद्मगुप्त के नवसाहसार्द्धचरित को ६ सगें तक अनूदित करने की प्रेरणा दी। उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप ही इस ग्रन्थ पर कार्य करना प्रारम्भ किया गया। इसके लिये पद्यप्रदर्शक की आवश्यकता थी। स्वयं गुरुवर ने अक्षेप गुरुदेव डा० सत्यव्रतसिंह को आदेश दिया और वे मेरे पद्यप्रदर्शक नियुक्त हुये। बाद में फिर मैंने १८ सगों का ही पूर्ण अनुवाद कर डाला।

पद्मगुप्त ने जिस कार्यनिर्माण-कौशल और प्रतिभा का परिचय इस ग्रन्थ में दिया, उसी को दृष्टि में रखकर इस महाकाव्य पर विचार प्रकट किये गये हैं।

नवसाहसार्द्धचरित सख्त साहित्य का उत्तम कोटि का महाकाव्य है। इसमें त्रिपय की मनोहर दृग से यथार्थ विवेचना, अनुमृति एवं अभिव्यक्ति का सुन्दर प्रकाशन हुआ है। भाव, भाषा, दृढ़, रस और शैली तथा अलंकार इन सब का औचित्यपूर्ण समावेश इस काव्य में देखकर ऐसा अनुभव होता है कि परिमलपद्मगुप्त मानो कविमूर्धन्य कालिदास का ही प्रतिनिधित्व कर रहा हो।

यह काव्य यद्यपि सरल है, फिर भी कहीं-कहीं और किन्हीं-किन्हीं प्रसगों में कुछ श्लोक ऐसे भी हैं, जिनका अर्थ करना दुरूह-सा हो जाता है, केवल मूलपाठ के आधार पर यह कार्य मली माँति सपन्न नहीं हो पाता। इसके लिये यज्ञ-तन्त्र सन्स्करणों में जो कई प्रकार के पाठ दिये गये हैं, उनको देखने से और मूल के साथ उनकी सगति लगाने से कुछ का अर्थ तो समझ में आ जाता है, किन्तु कुछ में आति बनी रहती है। किन्तु मेरी इस उलझन को गुरुवर भी डा० सत्यव्रतसिंह ने सुझाया। भी डा० सत्यव्रतसिंह जी ने विवेचना-पूर्ण दृष्टि से देखकर मुझे न समझाया होता, तो उन कतिपय श्लोकों के अर्थ की सगति बैठाने में श्रमधिक असुविधा होती।

इस काव्य की उपलब्ध प्रतियों में पाठभेद के कई रूप हैं। कहीं-कहीं तो अक्षर भी छूट गये हैं। इन सब बातों पर विशेष ध्यान रखकर ही अनुवाद किया गया है।

इसके पश्चात् तो जैसे-जैसे विवेचना की जाने लगी, वैसे ही वैसे कार्य करने में अधिक आनन्द आने लगा और नवसाहस्रंशचरित की विशेषता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगी। १ से ६ सर्ग तक लगभग ७६२ श्लोकों का अनुवाद करने के पश्चात् आलोचना का कार्य किया गया। चूँकि इस काव्य की चर्चा संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र पायी जाती है, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अपने समय में यह अवश्य प्रसिद्ध रहा होगा।

—जितेन्द्रचन्द्र भारतीय

भूमिका

संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्यपरम्परा

जब हम संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्यपरम्परा पर विचार करने लगते हैं तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान ऐतिहासिक शब्द पर जाता है। इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? विभिन्न विद्वानों ने इसका क्या अर्थ लिया है? और इसे किस अर्थ में लेना चाहिये, यह बात विचारणीय हो जाती है। इतिहास लिखना और काव्यनिर्माण करना—ये दोनों बातें भिन्न हैं। यदि इतिहास शब्द से जातिगत इतिहास या वंश क्रमानुसृत घटनाओं का वर्णन करना ही लिया जाय, तब तो सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और जातिगत अनेक प्रकार के इतिहास का ग्रहण करना होगा। इतना ही अर्थ लेकर यदि इस शब्द की उपादेयता देखी जायगी, तब तो ऋग्वेदकाल से लेकर रामायण, महाभारत (जैसे इतिहास ग्रन्थों) तक की ऐतिहासिक महाकाव्य माना जाना चाहिये। पर हम देखते हैं कि इन ग्रन्थों की कोई भी इतिहास मानने के लिये तैयार नहीं है। कारण कि ऐसा मान लेने पर वेदों की अपौरुषेयता और रामायण महाभारत की धार्मिक काव्यता ही नष्ट हो जाती है। इतना ही नहीं, फिर तो कालिदास और मगध, भारवि और माघ आदि कवियों के ग्रन्थ भी ऐतिहासिक महाकाव्य हो जायेंगे। अतः ऐतिहासिक शब्द का उपयुक्त अर्थ लगाना सर्वथा अनुचित है। और यदि विधियों तथा उन उन घटनाओं की ठोस वर्णन सामग्री से युक्त काव्य की ही ऐतिहासिक काव्य कहा जायगा, तब आज इतिहास को निर्दिष्ट करने वाले काव्य भी ऐतिहासिक फोटि में न आ सकेंगे।

यदि केवल वंशानुक्रम ही लिया जायगा तो उसके साथ काव्य में जितनी सामग्री कल्पना के आधार पर उपस्थित की गई है, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जायगा। इससे काव्यनिर्माण का उद्देश्य और महत्त्व ही लुप्त हो जायगा। इसके विपरीत साहित्यिक दृष्टिकोण से वहाँ कहीं भी हम देखते हैं, काव्य में इतिहासात्मकता तो कम और काव्यात्मक भावना अधिक मिलती है। अतः वहाँ इतिहास गौण हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'ऐतिहासिक काव्य' शब्द भ्रामक हो जाता है। अतः इस शब्द का इतना ही अर्थ लेना समुचित होगा—“वह काव्य, जिसमें इतिहासोपयोगी सामग्री

विद्यमान हो ।” इतिहास के तत्त्वों का उपयोग करनेवाली सामग्री वाला काव्य ही ऐतिहासिक काव्य कहा जा सकता है । इस प्रकार की बात मान लेने पर जिसमें उपदेशात्मकता, धार्मिकता या सांस्कृतिक चेतना का बाहुल्य होगा, वह ग्रन्थ इस कोटि में नहीं आ सकेगा । व्यापक अर्थ न लेकर सामान्य अर्थ को ग्रहण करने पर ही यह बात निश्चित हो सकती है कि कौन काव्य ऐतिहासिक काव्य है ।

इस दृष्टिकोण से संस्कृत साहित्य में हम हर्षचरित, गौडवध, नवसाहसक-चरित, विक्रमांकदेवचरित और राजतरंगिणी को ऐतिहासिक काव्य की कोटि में रख सकते हैं ।

इन काव्यों के पूर्व के उपलब्ध काव्यों में ऐतिहासिक प्रवृत्ति नहीं पाई जाती । क्यों ? यदि कहा जाय कि वाणभट्ट आदि कवि राजाभित्त कवि थे, इसलिए इन लोगों ने अपने आध्यदाताओं की प्रशंसा पर ही विशेष ध्यान दिया और ऐतिहासिक तत्त्वों का समावेश आपाततः किया, तो प्रश्न उठता है कि कालिदास को भी तो राजाभय मिला था, फिर उसने अपने आध्यदाता के समक्ष अपने-आपको सच्चा स्वामिभक्त और प्रशंसक सिद्ध करने का प्रयास क्यों नहीं किया ? कालिदास ने भी अपने आध्यदाताओं की प्रशंसा की है, पर वह इतनी ध्वन्यात्मक हो गई, उसमें इतनी भंगिमा और अन्योक्ति का सा भाव आ गया कि उसका रूप ही बदल गया । उसकी ऐतिहासिकता ने काव्य का चोला पहन कर अपने को बिलकुल ही ढँक लिया । यह कालिदास की असाधारण प्रतिभा का ही फल था । यदि यह कहा जाय कि महाकवि वाणभट्ट आदि ने खुद ऐसा किया तो क्या वह चाटुकार थे ! नहीं ! यह नहीं माना जा सकता । कारण कि उनकी कविता को पढ़ने पर यह भली-भाँति विदित होता है कि वहाँ काव्यानन्द की कमी नहीं है, वह दरबस चित्त को द्रवीभूत कर ही देता है । उस काव्यानन्द में किसी रूप में भी चाटुकारिता का आभास नहीं मिलता, और फिर दरबारी कवियों की भाँति यदि अपने आध्यदाताओं को ही प्रसन्न करना इनका ध्येय होता तो वे उन्हें केवल ऐसे रूप में चित्रित करते, जिससे उनका चरित्र अतिरक्षित होकर एक चमत्कारिक काव्यरूप में रह जाता । परन्तु ऐसा नहीं हुआ । इससे यह विदित होता है कि इस ऐतिहासिक काव्यनिर्माण में कोई न कोई ऐसी भावना काम करती रही है, जिससे वे लोग इस प्रकार के चरित्रों को लेकर काव्यनिर्माण करने लगे ।

कालिदास ने अपने ग्रन्थों की रचना आदर्श महापुरुषों की कथावस्तु के आधार पर की । रामायण और महाभारत के महान् चरित्र कालिदास

के सामने थे। माघ, भारवि, भवभूति आदि में भी यह प्रवृत्ति उपलब्ध है, किन्तु उत्तरकालीन कवियों में इस परम्परा के निरसीत एक दूसरी परम्परा परिलक्षित होती है, जिसमें ख्यातिप्राप्त लौकिक राजाओं की कथावस्तु को आधार मानकर काव्यनिर्माण की प्रवृत्ति पायी जाती है।

तो क्या कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति और बाणभट्ट आदि के बीच के समय में ही उन महापुरुषों के चरित्रों में ऐसे कोई तत्व न रह गए थे, जिनपर आगे चलकर भी लोग काव्य निर्माण करते ? ऐसा मानने में कुछ संकोच होता है। जहाँ इस प्रकार के राजचरितों को लेकर आगे बढ़ने की जो प्रवृत्ति बाणभट्ट और उनके परवर्ती कवियों में देखी गई है, हो सकता है कि वह इसलिये हो कि इन लोगों ने सोचा हो कि भारतीय जीवन के अधिष्ठातृमूल प्रसिद्ध आदर्शों के प्रतीक चरित्रों को काव्य का रूप देने में कालिदास की क्षमता और समता को पाना कठिन है, और ख्यात होना तो अभीष्ट है, अतः इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों के मार्ग को त्याग कर एक ऐसी वस्तु उठाई, जो नवीन दृष्टिकोण की थी, और जनजीवन से दूर भी न थी। उसीको लेकर इन्होंने अपनी काव्यप्रतिमा का परिचय देना प्रारम्भ किया। फिर यह भी सम्भावना हो सकती है कि जिन राजाओं की इतिवृत्तात्मक कथावस्तु लेकर ये लोग चले हैं, वे अपने समय में ऐसे मान्य, भद्रेय और ख्यात रहे हों, जिन्हें जनता आश्चर्य गौरव की दृष्टि से देखती रही हो। अतः अपने काव्य की गौरवान्वित करने के लिये और इस भाँति जनता के बीच अपने पूर्ववर्ती कालिदास आदि कवियों जैसी ख्याति प्राप्त करने के लिये भी इन कवियों ने इस प्रकार की इतिवृत्तात्मक काव्यनिर्माण की दिशा की ओर पैर बढ़ाया।

यही कारण रहा होगा कि ऐतिहासिकता इन कवियों के काव्य में ग्यून रही और काव्यनिर्माण की प्रवृत्ति अधिक बलवती। अन्यथा ये इतिवृत्त का ही उल्लेख विशेष रूप से करते और इस भाँति करते कि ऐतिहासिक ही कहे जाते, पर बात तो यह रही कि अपनी ख्याति के लिये ही इन्होंने काव्यनिर्माण की नवीन परम्परा अपनाई, और सम्भवतः इसलिये बाणभट्ट न गद्यशैली का भी आश्रय लिया। बाणभट्ट के पश्चात् होनेवाले कवियों के काव्यों को देखने से और उनके काव्यों के नामकरण से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि बाणभट्ट के हर्षचरित में जितनी ऐतिहासिकता मिलती है, उतनी गौडवध में नहीं, और नवसाक्षात्कचरित तथा विक्रमादित्यचरित में तो वह और भी कम होती हुई प्रतीत होती है। हाँ, राजतरंगिणी में

काव्यमयी प्रवृत्ति न्यून और ऐतिहासिक प्रवृत्ति कुछ अधिक पाई जाती है। उसका कारण यही है कि राजतरंगिणी का निर्माता कल्हण तीन सौ वर्ष पुराने राज-वंशों का और तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अपने दृष्टिकोण से संवीक्षण करने में लगा हुआ था। अतः उसका कार्य इन अन्य कवियों की प्रवृत्ति से कुछ भिन्न ही हो जाता है। सूक्ष्म विचार के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्य-परम्परा की जो प्रचुर प्रवृत्ति पाई जाती है, उसका उद्गम वाणभट्ट का हर्षचरित ही है।

हर्षचरित

हर्षचरित एक ऐसी प्रथम ऐतिहासिक कृति है, जिसमें काव्य के साथ-साथ ऐतिहासिकता की भी रक्षा हुई है। हर्षचरित में हर्षवर्धन के वंश-प्रवर्तक पुरुष से लेकर वंशक्रमवर्णन, युद्ध में सम्मिलित राजाओं का वर्णन, और अन्त में हर्ष के राज्य का विस्तार, उसकी दिग्विजय, उसकी लोकप्रियता, न्यायप्रियता आदि का वर्णन बड़ी रोचक समस्तगद्यात्मक शैली में किया गया है।

हर्षचरित के इतिवृत्त का वर्णन आलंकारिक और भावप्रधान ढंग से किया गया है। कविवर वाणभट्ट ने उसमें केवल अपने आश्रयदाता के इतिवृत्तात्मक जीवन का ही दर्शन नहीं कराया है, अपितु इसके पूर्व अपनी वंशोत्पत्तिक्रम का और अपनी कई पीढ़ियों तक का विवरण दिया है। इस काव्य में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में भी वही बात कही जा सकती है, जो संस्कृत के अन्य ऐतिहासिक काव्यों के विषय में कही जा सकती है, कि वे अतिरञ्जनापूर्ण हैं। पर यह हर्ष की बात है कि इस काव्य की नमस्त ऐतिहासिक घटनाएँ आधुनिक इतिहासकारों ने सत्य स्वीकृत कर ली हैं। और वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि हर्षचरित में वर्णित घटनाएँ समसामयिक इतिहास के अनुसंधान के लिए उपयोगी सिद्ध हुई हैं। वाणभट्ट की इसी विशेषता को देखकर संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक महाकाव्यों के निर्माताओं में सर्वप्रथम वाणभट्ट का ही नाम आता है :

वाणो वाक्पतिराजश्च पद्मगुप्तस्तथैव च ।

विल्हणः कल्हणश्चैते प्रसिद्धा ऐतिहासिकाः ॥

गौडवध

इसके पश्चात् वाक्पतिराजदेव के गौडवधो (गौडवध , ७३६ ई० पू०) की रचना है। इसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। पर इस विषय में भी अभी मतभेद पाया जाता है। इसमें यशोवर्मा के द्वारा एक गौड राजा के

परास्त होने की घटना का वर्णन है। परन्तु महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों पर कम ध्यान दिया गया है। यहाँ तक कि प्रतिपदी गौड़ राजा का नाम तक नहीं दिया गया है। इसका कवित्वमय वर्णन सुन्दर और रोचक है।

नवसाहसाङ्कचरित

इस काव्य के निर्माता परिमलपद्मगुप्त हैं। इसमें 'वाक्पतिराज' उपाधिधारी मुज के छोटे भाई सिन्धुराज के पराक्रम की कथा और नागराजपुत्री शशिप्रभा के साथ उसके पाणिग्रहण का वर्णन किया गया है। सिन्धुराज नागों के शत्रु वज्राक्ष की मारकर उसकी स्वर्णवाटिका से हेमकमल को लाकर शशिप्रभा के पिता शलपाल की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर शशिप्रभा से विवाह कर लेते हैं। इसी घटना का परिमलपद्मगुप्त ने विम्वर एवम् काव्योचित वर्णन करते हुए अपने आभयदाता सिन्धुराज के चरित्र पर प्रकाश डाला है। इसकी वर्णन शैली और संस्कृत काव्यमय रूप के भीतर से ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करने पर उनमें यथार्थ वशवर्णन, तथा घटनाओं का यथा ऐतिहासिकों को लग सकता है। इस कवि ने तत्कालीन अनेक विश्वसनीय ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डाला है, जिनकी पुष्टि अन्य उपलब्ध प्रमाणों और शिलालेखों से होती है।

ऐतिहासिक काव्यपरम्परा में नवसाहसाङ्कचरित का स्थान

ऐतिहासिक महाकाव्यों में नवसाहसाङ्कचरित का क्या स्थान है? इसका निर्णय करना अति कठिन है। फिर भी कुछ आधारों पर यह कहा जा सकता है कि नवसाहसाङ्कचरित ऐतिहासिक काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

नवसाहसाङ्कचरित एक ऐसा महाकाव्य है, जो अपने पूर्वजों और परवर्ती दोनों प्रकार के ऐतिहासिक काव्यों की मध्य स्थिति में है, और दोनों पर प्रकाश डालता है। इसमें जो ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णित हैं, वे आज के इतिहास सशोधकों के लिए और विशेष कर परमारवंश के इतिहास पर प्रकाश डालने के लिए बरद सिद्ध हुई हैं। साथ ही साथ इस काव्य में वर्णित ऐतिहासिक घटनाएँ प्रसक्तियों और शिलालेखों की सत्यता की कसौटी पर कसने से खरी उतरती हैं। बाणभट्ट और वाक्पतिराजदेव के ग्रंथों के परचात् नवसाहसाङ्कचरित ही एक ऐसा काव्य है, जो काव्य के दृष्टिकोण से अपना विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि इसकी इतिवृत्तयोजना सुन्दर, सरस और चमत्कारपूर्ण शैली के आधार पर हुई है।

शशिप्रभा के पाणिग्रहण की घटना सिन्धुराज के जीवन की प्रत्यक्ष घटना

है, जिसके आधार पर कवि की कल्पना को विस्तार मिला है, उसी पर काव्य की उपादेयता निर्भर है। यह सच कवि ने स्वयं सिन्धुराज की प्रेरणा से ही किया है, जिसका उल्लेख कवि ने स्वयं किया है। अतः यह प्रतीत होता है कि इस काव्य का तत्कालीन जनता में भी प्रभूत आदर रहा होगा।

यद्यपि बृहचयी की गणना में परिमलपद्मगुप्त की कृति की गणना नहीं की गई है, पर इससे उसका महत्त्व नहीं घटता। उसका महत्त्व तो इतने से ही अधिक बढ़ जाता है कि सुप्रसिद्ध आलंकारिक आचार्य श्री मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में अलंकारों के उदाहरणों को देने के लिए नवसाहसाङ्कचरित के छंद उद्धृत किये हैं। मम्मट के समय तक इस ग्रंथ की ख्याति कश्मीर तक फैल चुकी थी। मम्मट को इस रचना में श्रेष्ठ गुण प्रतीत हुए, इसलिए उन्होंने इसके छंद उद्धरण के रूप में दिए। जैसे विषमालंकार के उदाहरण में :

शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना ।

एष क्व च कुक्कुलाग्निकर्कशो मदनानलः । (१६।२८)

और :

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा !

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्विलोक्याभरणं प्रसूते । (१६।२९)

तथा पर्यायालंकार में :

विम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत ।

अधुना हृदयेऽप्येव मृगशावाक्षि लक्ष्यते । (६।६०)

एकावली में :

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्गधः ।

रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥

(१।२१)

क्षेमेन्द्र ने श्रौचित्यविचारचर्चा में, और वर्धमान ने गणतंत्रमहोदधि में पद्मगुप्त की चर्चा की है। कुछ कविता के अंश भी दिए हैं। परन्तु गणतंत्रमहोदधि में ऐसी कवितायें उद्धरणरूप में दी गई हैं, जो नवसाहसाङ्कचरित में नहीं हैं। इसने यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इस कवि की कोई और भी रचना रही होगी।

नवसाहसाङ्कचरित के पृष्ठ ३८६ के नीचे लिखा है : श्रीपरिमलकालिदासचरिते साहसाङ्कचरिते हेमकमलहरणः सप्तदशसर्गः और पृष्ठ २६१ की टिप्पणी में भी यही लिखा हुआ है। पर मूल में कहीं भी यह

नहीं लिखा हुआ है। यह माना जा सकता है कि इसकी काव्यशैली पर कालिदास का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। कालिदास से कवि इतना प्रभावित है कि वह स्वयं ही कहता है “राजा ने भलकारों से अपनी देह को इसी भाँति सजाया, जैसे कालिदास ने सरस्वती को।” कालिदास का नाम, उसकी दीपशिला, चित्रशबलता आदि के प्रसंगों को देखकर विदित होता है कि कवि ने कालिदास के मार्ग को अपनाया। काव्यवर्णनशैली, काव्यसौन्दर्य, विषय-वर्णन, वस्तुचित्रण, समुचित भावमग्नता को देखकर यदि लोग पद्मगुप्त को कालिदास या परिमलकालिदास कहते रहे हों तो आश्चर्य ही क्या ?

इस विवरण से परिमलपद्मगुप्त की विशेषता और उसके स्थान का महत्त्व स्वयं ही निर्धारित हो जाता है। अर्थात् यह कवि कालिदास के समकक्ष है, यह कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं।

इन सब पहलुओं को देखते कहा जा सकता है कि यह काव्य अपने समय के काव्यों में रचातिमास था। दूसरी बात यह है कि बृहन्नयी का विषय रामायण और महाभारत के वृत्त रहे हैं। लोगों को वे अधिक मान्य थे, इसलिए उनसे आधार पर बने काव्य चुनकर बृहन्नयी में रखे गये। अतः बाद की नृपचरित-वर्णन-परम्परा को एक अर्थ प्रकाश की ही कोटि में रखा गया। इस काव्य का जनता में प्रचार हुआ, इसे रचाति भी मिली, पर परम्परागत विषय-वर्णन की प्रियता और लोककवि बृहन्नयी के विषय में अधिक थी, इसलिए नवसाह-साङ्गचरित बृहन्नयी के समान नहीं माना जा सका।

नवसाहसाङ्गचरित की विशेषताएँ

नवसाहसाङ्गचरित अपने समय के काव्यों में उत्तम माना जाना चाहिए। इसके कारण हैं, और वे हैं इसकी विभिन्न विशेषताएँ।

इसकी पहली विशेषता तो यह है कि इसका निर्माण प्रतिमासम्पन्न रूप से हुआ। वर्णन शैली पर कालिदास की छाप है। पर न इसमें पूर्ण रूप से कालिदास की ही शैली है, और न वाणभट्ट की ही। दोनों शैलियों का सम्मिश्रण हमें है। जिसके कारण यह काव्य अपने दग का निराला ही हो गया है। सुकुमारता और शोभायुक्त शैली, उत्प्रेक्षित कथा का स्वाभाविक वर्णन, और भाषा की प्राञ्जलता—इसके गुण हैं, जिनकी अभिव्यजना मली भाँति हुई है।

दूसरी विशेषता यह है कि इस कवि ने अपने काव्य में उन ऐतिहासिक तथ्यों को निर्दिष्ट किया है, जो परमारवंश के इतिहास के लिए प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। परन्तु यह सामग्री इतने समुचित दग से रखी गई है कि उसकी उपादेयता और चारित्र्यपूर्ण अपने समय के सभी काव्यों से अधिक प्रिय प्रतीत होते हैं। इसमें काव्य के उत्तम गुण पूर्ण रूप से सन्निहित हैं।

तीसरी विशेषता इसकी सफल इतिवृत्तयोजना है ।

चौथी विशेषता चरित्र-चित्रण की प्रभावोत्पादकता, वर्णनों की विशदता एवं मनोहारिता, व्यक्तित्व का समुचित विकास, एवं भारतीय परम्परा का आदर्शोन्मुख प्रणय है, जो कल्पित होते हुए भी वास्तविक है और लोकानुभव से बाहर की वस्तु नहीं है ।

पाँचवी विशेषता रस तथा भाव की सफल योजना और उसके लिए अलंकारों का श्रौचित्य, नातिनिर्वहणीयता तथा अकष्टसाध्यता का समावेश है । छन्दोयोजना की भावानुकूल स्थापना और भी विशेष गुणोत्कर्ष की द्योतिका है, जिसके कारण उद्देश्य की पूर्ति में कहीं भी व्यवधान नहीं आने पाया है ।

छठी विशेषता सिन्धुराज के परम पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति के स्वच्छन्द गतिशील रूप का मनोवैज्ञानिक चित्रण है, जो इसके मूलवृत्त का महत्त्व है ।

सातवीं विशेषता अपनी मौलिकता के साथ अन्य कवियों की शैली का सामंजस्य करा देना है, जिसके द्विगुणित प्रभाव के कारण भावचित्र और वस्तु-चित्र उभरते चले गए हैं और वातावरण की स्पष्टता तथा स्वाभाविकता का रूप प्रत्यक्ष हो जाता है ।

आठवीं विशेषता कवि और पाठक, पात्र और पाठक के बीच एक आत्मीयता का भाव और तदाकारत्व की अनुभूति है, जिससे कवि की मर्मज्ञता और सहृदयता का परिचय मिलता है और काव्यानन्द की चरमानुभूति हो जाती है ।

इन सब विशेषताओं के कारण नवसाहस्राब्दचरित का स्थान ऐतिहासिक काव्यों में किसी से कम नहीं रहता, और यदि यह कहा जाय कि अपनी विशेषताओं के चल पर यह काव्य उनसे भी अधिक महत्त्व का है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

कविविषयक चर्चा

संस्कृत साहित्य की धीवृद्धि करने वाले अधिकतर कवि अपने वंश-परिचय और अपने विषय में प्रायः उदासीन ही रहे हैं । उन महापुरुषों ने सम्भवतः इसकी कल्पना भी नहीं की और यह भी हो सकता है कि अपने समय में वे इतने ख्यात रहे होंगे कि उन्हें अपना परिचय देने की आवश्यकता भी न पड़ी होगी । जो कुछ भी हो, यहाँ पर हम यही कह सकते हैं कि वस्तुतः भास और कालिदासदि कवि जिस प्रकार अपना परिचय देने में लात्तायित नहीं रहे, उची प्रकार पद्मगुप्त भी अपने विषय में उदासीन रहा है । इतने बड़े काव्य

के आदि अन्त में कहीं भी कवि ने अपना परिचय नहीं दिया। केवल प्रति सर्ग के अन्त में कवि ने 'मृगाङ्गदत्तसूतो' कह कर अपने पिता मृगाङ्गदत्त का नाममात्र दिया है।

पर इस कवि की अन्तर्भूमि कहाँ थी, इस विषय में कहीं भी कुछ उल्लेख नहीं मिलता। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में बलदेवप्रसाद जी उपाध्याय ने एवं 'संस्कृत साहित्य की रूपरेखा' में भी चन्द्रशेखर शास्त्री जी ने भी केवल पद्मगुप्त की चर्चा मात्र कर दी, और कुछ भी उसके विषय में नहीं लिखा। भी विश्वेश्वरनाथ जी रेव ने अपने ग्रंथ 'राजा भोज' में इस कवि के आश्रय दाताओं के उल्लेख के अवसर पर पद्मगुप्त और उसके पिता मृगाङ्गदत्त के नामों का उल्लेख मात्र ही किया है। 'हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर' (भ्रीहृष्य-माचारा) में भी अथर्व पात्रों की चर्चा तो इस कवि के सम्बन्ध में की गई है, पर वहाँ भी परिमल का कोई उल्लेख नहीं। यह कवि धारा नगरी में ही उत्पन्न हुआ था या कहीं बाहर से यहाँ आया था, कैसे यह मुञ्ज का दरबारी कवि बना, इन बातों का संकेत कहीं भी नहीं मिलता। ज्योतिष की औचित्य विचारचर्चा में भी इस कवि का उल्लेख है, पर वहाँ भी परिचय नहीं दिया गया है। भोज के सरस्वतीर्षाभरण से भी कुछ पता नहीं चलता। इस विषय में जो कुछ भी विशेष रूप से शत हो सकता है, उसका आधार नवसाहस्राब्दचरित ही है, जिस पर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। अन्त साक्ष्य और बहि-साक्ष्य जो कुछ भी उपलब्ध हो सकते हैं, केवल नवसाहस्राब्दचरित से ही, उन्हीं के आधार पर कहा जा सकता है कि यह कवि बाहर से आकर धारा में रहने लगा था। वहाँ कविवाचन मुञ्ज से इसकी मैत्री हुई और वह मुञ्ज के आश्रय में रहने लगा। मुञ्ज के समय में भी इसने कुछ ग्रंथ लिखे। कवि ने मुञ्ज के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है।

सरस्वतीकल्पलतैककन्दं वदामहे वाक्पतिराजदेवम्।

यस्य प्रसादाद्वयमप्यनन्यकवीन्द्रचीर्णे पयि संचराम ॥ (१।७)

और

दिवं यियासुर्मेम वाचि मुद्रामदत्त या वाक्पतिराजदेव ।

तस्यानुजन्मा कविवाचवस्य मिनत्ति वा सम्प्रति सिन्धुराज ॥ (१।८)

इन श्लोकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त मुञ्ज का बड़ा कृपापात्र था। उसके मरने पर कवि ने मौन धारण कर लिया था, प्रथ निर्माण और साधारण रूप से कविता करना उसने बन्द कर दिया था, परन्तु सिन्धुराज के कहने पर कवि को नवसाहस्राब्दचरित का निर्माण करना पड़ा। राजा नवसाहस्राब्द ने ही अन्य कवियों के होते हुए भी इसी कवि को काव्य

निर्माण के लिए नियुक्त किया। इससे इस कवि की काव्यनिर्माण-निपुणता का आभास मिलता है।

इसी आधार पर कवि के काल का और ग्रंथ-निर्माण के काल का भी अनुमान सरलता से हो जाता है। मुञ्ज ने कर्नाटक (लार) चोल देश के राजाओं को परास्त किया। तैलप द्वितीय ने इसे वि० सं० १०५० और १०५४ के बीच मार डाला। पश्चात् सिन्धुराज गद्दी पर बैठा और वि० सं० १०६६ के कुछ पूर्व गुजरातनरेश सोलंकी चामुण्डराय के साथ की लड़ाई (१०१० ई० सं०) में मारा गया। मुञ्ज की मृत्यु १०५०-१०५४ के बीच मानी जाती है। सिन्धुराज (राजा भोज) की मृत्यु जब १०६६ वि० में हुई तो इस हिसाब से १४ या १६ वर्ष तक ही सिन्धुराज का राज्य रहा। मुञ्ज की मृत्यु के बाद कुछ समय तक पद्मगुप्त ने काव्य भी नहीं लिखा। सिन्धुराज जब १०५३-५४ में सिंहासनाधिरूढ़ हुआ होगा, तभी उसने पद्मगुप्त से काव्यनिर्माण के लिए भी कहा होगा। चार-पाँच साल तक सिन्धुराज ने भी अपने पराक्रम का विस्तार किया होगा। और तभी उसने अपनी यशोगाथा लिखने का आदेश दिया होगा। क्योंकि इस बीच उसने कई राजाओं के साथ युद्ध किए, जिनका वर्णन पद्मगुप्त ने नवसाहसार्द्धचरित में किया है। तब तो नवसाहसार्द्धचरित का निर्माणकाल १०६१-६२ वि० सं० (ई० सं० १००५) सिद्ध होता है।^१

जब पद्मगुप्त ने राजाभय पाया होगा, तब कम-से-कम उसका अध्ययन भी प्रौढ़ रहा होगा और उसकी कविता भी परिष्कृत हो चुकी होगी। इस काल में उसकी आयु कम-से-कम २५-३० वर्ष की अवश्य रही होगी। इस प्रकार यदि मान लिया जाय तो पद्मगुप्त का जन्मकाल १०१८ के लगभग माना जाना चाहिए। १०४८ में वह मुञ्ज का दरबारी कवि बना होगा। मृत्युकाल क्या रहा होगा, इसका किसी भी भाँति अनुमान नहीं किया जा सकता है।

रही बात जन्मस्थान की, तो यह भी निर्णयात्मक दृष्टि से नहीं कहा जा सकता है कि यह कवि कहाँ का था, किन्तु इतना तो उसके काव्य के आधार पर कहा ही जा सकता है कि वह उज्जयिनी का नहीं था, बाहर से आकर वह यहाँ बस गया; क्योंकि कवि ने उज्जयिनी का जो वर्णन किया है, उसमें यह विदित होता है कि उज्जयिनी के गूढ़ रहस्यों और चित्रणों के बारे में वह बात नहीं है, जो कालिदास के उज्जयिनी-वर्णन में है। अन्य स्थानों का वर्णन कवि

१. "नवसाहसार्द्धचरित की रचना १००५ के लगभग हुई"—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा (चन्द्रशेखर शास्त्री)।

ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है, जैसे—मोगवती का वर्णन, नर्मदा का वर्णन आदि । इसपर से इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि यह कवि कश्मीर का रहा होगा, क्योंकि उधर के ही प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रण उसके काव्य में उत्तम रूप से उपास्थित किए गए हैं । हाटकेश्वर के वर्णन से भी यह कहा जा सकता है कि वह कश्मीर के सौन्दर्य से परिचित था, और नाम भी उसका कश्मीरी परम्परा का ही था है और उस पर कश्मीरी शैव सिद्धांत की छाप भी अवश्य पड़ी है । यह भी अवश्य है कि वह शैवभक्त था । उसने अपने काव्य में प्रारम्भ से ही शिव की स्तुति की है । मध्य में भी कई छन्द शिवस्तुति और शिवग्रहिमा के हैं । अंत में भी शिवस्तुति के साथ ही श्रवणमाप्ति की गई है । अतः यदि यह मान लिया जाय कि वह कश्मीरी या सो अनुचित नहीं होगा ।

नवसाहसाङ्कचरित का मूलवृत्त

संस्कृत के महाकाव्यों में आदिकवि वारमीकि से लेकर उत्तरोत्तर मिलने भी महाकाव्य के निर्माता हुए हैं, उन सबने प्रत्यात मूल वृत्त को ही लेकर अपने काव्यों का निर्माण किया है । उनकी इस परम्परा का उद्देश्य प्रत्यात वृत्त से परिचित जनता में अपने काव्य द्वारा उसी सत्ता और गुणगतिमा प्रतिष्ठित करना ही रहा है । अधिकतर महाकवियों ने रामायण और महाभारत की कथाओं को लेकर अपने काव्यों की रचना की, किन्तु कुछ काल के पश्चात् विधय की नवीनता ने भी कवियों के चित्त को आकृष्ट किया और इसी लिये आगे आने वाली पीढ़ी ने नवीन कथावस्तु के आधार पर अपने काव्य का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया । बाणभट्ट जैसे कुछ महाकवियों ने प्रत्यात राजपुरुषों के वृत्तों को लेकर इस नयी परम्परा को प्रचलित किया । परिमलपद्मगुप्त ने भी इसी परम्परा के आधार पर अपने समय के प्रत्यात, वीर, साहसी सिंधुराज के वृत्त को लेकर नवसाहसाङ्कचरित की रचना की । इस काव्य का मूलवृत्त परमारवंश की राज्यभी का सिन्धुराज द्वारा स्थिर करना है, जिसमें परमार राजाओं की वीरपरम्परा निहित है । उदेन्द्र नामक राजा से लेकर सिन्धुराज नवसाहसाङ्क तक की जो घटना ऐतिहासिक रूप में पद्मगुप्त ने प्रस्तुत की है, वही इस मूलवृत्त का केन्द्रबिन्दु है और वही मूल वृत्त समस्त काव्य के इतिवृत्त के विस्तार में बीजरूप से पाया जाता है ।

सिन्धुराज के पूर्व उसका बड़ा भाई मुञ्ज अपनी कोलिपताका को पहरा चुका था । मुञ्ज स्वयं वीर, कवि और कविवान्धव भी था । पद्मगुप्त मुञ्ज का दरबारी कवि था । मुञ्ज की मृत्यु के पश्चात् पद्मगुप्त ने काव्य का निर्माण करना छोड़ दिया था । उस समय सिन्धुराज राज्याधिकारी हो

चुका था। सिन्धुराज जनप्रिय नृपति था, वह भी मुञ्ज की ही भाँति ख्याति प्राप्त करना चाहता था, जो उसकी वीरता और साहस के साथ काव्य द्वारा विशेष रूप से हो सकती थी। अतः उसने स्वयं पद्मगुप्त को इस प्रकार के ग्रन्थ-निर्माण की आज्ञा दी, जिससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस महाकाव्य का मूल वृत्त सिन्धुराज द्वारा परमारराज्यलक्ष्मी का स्थिरीकरण ही है। कवि पद्मगुप्त उस वंश से परिचित था ही। उस वंश के वीरों की पराक्रम-शालिता और वीरता के बारे में उसे पर्याप्त ज्ञान था, अतः उसने परमारवंश की राज्यश्री को शत्रुभूतियों से जीतकर उसे स्थिर रखने का सारा श्रेय सिन्धुराज को दिया और इसीलिये उसने नवसाहसाङ्क सिन्धुराज का परमोच्च व्यक्तित्व सामने रखा।

सिन्धुराज अपने समय में कुन्तलेन्द्र जैसे नृपति को परास्त करके ख्यात हो चुका था, इसलिये पद्मगुप्त ने उसीके वृत्त को लेकर अपने काव्य का निर्माण किया। मूलवृत्त के पश्चात् कवि ने इतिवृत्त का मनोहर एवं कलात्मक विस्तार किया और उसे रोचक बनाने के लिये अपनी कल्पना-प्रसूत शशिप्रभा, जो राज्यलक्ष्मी का प्रतीक है, एवं वज्रांकुश जो तैलयवंशीय कुन्तलेन्द्र के रूप में देखा गया है, इन दोनों की योजना कर दी। इस महाकाव्य का मूल वृत्त प्रख्यात है, जो भारतीय जनता को अपने समय में प्रिय रहा है, और जो भारतीय जीवन के व्यापक अंग से सम्बद्ध रह चुका है। साथ ही साथ पद्मगुप्त की प्रत्यक्ष अनुभूति भी इसमें रही है। इसीलिये इसने इस मूल वृत्त को लेकर नवसाहसाङ्कचरित की रचना की।

नवसाहसाङ्कचरित की इतिवृत्तयोजना

मूल वृत्त के परिचय के पश्चात् हम यह सुगमता से कह सकते हैं कि इस महाकाव्य का इतिवृत्तात्मक शरीर पद्मगुप्त की कल्पना से बना है और जिस भाँति पद्मगुप्त ने अपनी उदात्त कल्पना के द्वारा उसे सँवारा है, उसके अनुसार यह इतिवृत्त इस महाकाव्य में इस प्रकार झलक रहा है :

मुञ्ज की मृत्यु के पश्चात् सिन्धुराज राजसिंहासनारूढ़ हो चुका है। राजसत्ता की प्राप्ति के पश्चात् वह अपने प्रतिपक्षी अनेक राजाओं को जीत लेता है। अपने भाई मुञ्ज की दुःखद मृत्यु का प्रतिशोध वह कुन्तलेन्द्र से लेता है। कुन्तलेन्द्र को जीतना सहज कार्य नहीं है। इसके लिये सिन्धुराज की वीरता और साहस के कार्यों को दिखा कर उसे देवी शक्तियों का सहयोग दिखलाया गया है। मृगया-विहार से लेकर विन्ध्याद्वी में नागराजपुत्री शशिप्रभा के हार की प्राप्ति द्वारा उससे मैट, उसका अदृश्य होना, उसकी

प्राप्ति के लिये चेष्टायें आदि घटनाओं के द्वारा सिन्धुराज के भद्रम्य साहस और उत्साह का परिचय दिया गया है। विक्रमनि का आशीर्वाद, नागों और गधवों की सेना का सहयोग, नर्मदा की मंगल-कामना का इतिवृत्त में समावेश किया गया, जिससे सिन्धुराज की अत्यन्त शक्ति और श्रमपूर्ण शक्ति का परिचय दिया गया है। भीषण साहसी कार्यों के फलस्वरूप शशिप्रभा के साथ राज्यलक्ष्मी का सुखमोग दिया गया है। इसके लिये सिन्धुराज को पय में आनेवाली बाधाओं पर विजय प्राप्त करने वाला सिद्ध किया गया है। बज्राक्षुरा जैसे भद्रम्य दैत्य का वध कराकर उसकी रहवायिका से स्वर्णकमल का आहरण करना और अन्त में पूर्णरूप से सब सुख प्राप्त करना—इस काव्य के इतिवृत्त का अन्तिम छोर है।

इस प्रकार मूल वृत्त में महान् भेद दृष्टिगोचर होता है। इस नाटक के इतिवृत्त की कल्पना सुसरिल्ल और ससृष्ट रूप से हुई है, जिस पर स्वयं नायक और कवि दोनों मुग्ध हुए जान पड़ते हैं। सप्तम तथा दशम सर्ग में जब ग्यारहवें सर्ग के १०२ श्लोक से लेकर ११७ श्लोक तक इस इतिवृत्त की उत्पत्ति कवि ने स्पष्ट रूप से की है, जिसमें दृष्ट, बागड़, मुरल, लाट, कर्नाटक, कोशलपति पर विजय का स्मरण दिलाकर राजनीति का वर्णन करके इतिवृत्त को विस्तृत रूप दिया है। यह है इतिवृत्त, जिसका परिचय कवि की कल्पना शक्ति के साथ कथारूप में मिलकर हमें मिलता है। कवि की प्रतिमा और उदात्त कल्पना ने इस वृत्त को हृदयावच्छेदक दग से उपस्थित किया है।

नरसाहसाङ्कचरित में चरित्र चित्रण

संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा में जो चरित्र उपस्थित किए गए हैं, वे या तो अलौकिक रहे हैं या महापुरुषों के। इसके अतिरिक्त उन्चवशी राजाओं के या ऐश्वर्यशाली धर्मियों के चरित्रों की भी उपस्थापना की गई है। अनेक महाकाव्यों के नायकों के चरित्र साधारण होते हुए भी अलौकिकता से सवलित हैं। ऐसे चरित्रों को इसीलिए प्राज्ञ माना गया है कि उनकी परम्परा साहित्यिक आदर्श के रूप में स्वीकृत थी। परन्तु यह एक ऐसी बात रही है कि महाकाव्यों के निर्माण के लिए लौकिक या अलौकिक जो भी चरित्र लिए गए हैं, उनका चित्रण साधारण जीवन के आधार पर हुआ है। उनकी जितनी भी विशेषता है, वह साधारण जीवन के घरातल से ऊपर उठकर उसमें मानवीय उदात्त भावनाओं का विकास करना ही है। सामान्य रूप से मानवीय दुर्बलताओं का दिग्दर्शन कराकर उनपर विजय प्राप्त करने की चेष्टा सभीमें की गई है। इसीलिए चरित्र के अन्तर्गत सत्य, ईमानदारी, त्याग, परट सकातरता, सहिष्णुता, आदर्श की दृढ़ता, आत्मसमय आदि

अनेक गुणों का बोध सन्निविष्ट रहता है। चरित्र की विशेषता यह है कि वह पशुप्रवृत्तियों पर श्रेष्ठ दैवी गुणों की प्रतिष्ठा करता है, और इन्हीं विशेषताओं पर उसके महत्त्व का मूल्यांकन प्रायः सभी कवियों ने किया है, और तभी महाकाव्य के नायक में कुछ स्वाभाविक गुणों का होना अनिवार्य माना गया है।

तेजो विलासो माधुर्यं शोभास्थैर्यगभीरताः ।

ओदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः ॥

ये सात्त्विक गुण किसी भी कोटि के नायक में होने चाहिए।

नवसाहस्राक्षचरित के नायक सिन्धुराज में हम इन सभी गुणों को पाते हैं। आलंकारिक आचार्यों ने जो चार प्रकार के नायक माने हैं, उनमें से दो भेदों (धीरोदात्त, धीरललित) के मिलन-बिन्दु से बना हुआ सिन्धुराज का व्यक्तित्व है।

कालिदास के पात्रों का चरित्र आदर्शान्मुख होते हुए भी वे इसीलिए सर्वथा स्वाभाविक सिद्ध हुए हैं कि उनमें साधारण जीवन का पक्ष अधिक प्रबल रहा है, एवं व्यावहारिक सत्य की कहीं भी अवहेलना नहीं की गई है। बाणभट्ट के पात्र कल्पना का फलेवर धारण करने पर भी व्यावहारिक सत्य के अत्यधिक निकट हैं। यही बात भारवि एवं माघ के पात्रों में भी पाई जाती है। परिमलपद्मगुप्त के नवसाहस्राक्षचरित के पात्र भी कुछ ऐसे ही हैं। इनमें अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन भी है, तथापि साधारण जीवन का लौकिक पक्ष और जीवनोपयोगी सत्य का स्वाभाविक चित्र भी उपस्थित किया गया है।

इस काव्य में दो ही प्रधान चरित्र हैं। सिन्धुराज नवसाहस्राक्ष और नागराज शंखपाल की पुत्री शशिप्रभा। सिन्धुराज का व्यक्तित्व परम पुरुषार्थी, तेजस्वी, विनाशी, माधुर्यसम्पन्न, गम्भीर और ललित आदि गुणों की समष्टि से बना हुआ है। उसे प्रभावसम्पन्न प्रतिज्ञापालक के रूप में उपस्थित किया गया है। विनय और शालीनता ने उसके प्रधान गुण हैं। उसके साहस के सम्बन्ध में पद्मगुप्त ने कहा है :

निर्व्यूढनानाद्भुतसाहसश्च (१। ५६)—इससे उसकी अद्भुत साहसी शक्ति की सूचना मिलती है, इसकी पुष्टि इस प्रकार की गई है :

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशसिलोकाभरणं प्रसूते । (१। ६२)

इस प्रकार सिन्धुराज की साहससम्पन्न शक्ति का परिचय दिया गया है।

सिंधुराज प्रसन्नचित्त का मनस्वी व्यक्ति है। राज्यशासन में निपुण, गुणग्राही, गुणों की कदर करनेवाला एवं सत्यभाषी है। कवि ने स्वयं इस विषय में कहा है कि वह ययाति, मान्धाता और भरतीपम है। उसने सैकड़ों साहसी कार्य किये, इसीलिए वीर-जीवियों में उसे नवसाहस्राङ्क नाम से लोग पुकारा करते थे (११।१६२)।

रूपेण तेजस्वितयार्जवेन प्रियंवदत्वेन त्वामुना व।

दिलीपदुष्यन्तभगीरथादीन् खानादिराजान् क्षटिति स्मरामि । (६।६)

इस श्लोक में सिंधुराज के उन सभी गुणों का उल्लेख किया गया है, जो वस्तुतः नायक में होने चाहिए। साहस और स्थैर्य का परिचय उस समय अधिक मिलता है, जब वह मार्ग में अनेक उपद्रवों का सामना करता हुआ नर्मदा को पार कर नामलोक तक जाता है और शशिप्रभा की प्राप्ति के लिए वज्राकुश जैसे दुर्घात और दुर्मंद राक्षस पर विजय प्राप्त करके उसकी वापिसा से स्थण-कमल लाकर शलपाल की प्रतिज्ञा को पूर्ण करता है।

एक क्षितौ साहसिकस्त्वमेव

नान्योऽस्ति राजन्नरसाहस्राङ्क ।

निसर्गदुर्गामपि भूमिमेता

स्वोद्यानवीथीमिव य प्रविष्टः ॥ (६।४६)

सा ते समाप्ताङ्कतसाहसस्य

वत्साङ्कमभ्येतु कृष्णीन्द्रकन्या ।

सीता यथा दाशरथे सक्षीलम्

आरोपितम्यम्बकर्णमुकस्य ॥ (६।६१)

इस कथन से सिंधुराज का उत्साही होना पुष्ट होता है। पर इतना ही नहीं, इस उत्साह की पुष्टि वज्राकुश के साथ का भीषण युद्ध है, जिसमें उसकी वीररशक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। जहाँ नवसाहस्राङ्क का चरित साहससम्पन्न और धैर्यशाली है, वहाँ उसमें रसिकता भी उतनी ही अधिक पाई जाती है। उसकी शृंगारप्रियता का परिचय तो समस्त काव्य में ही मिलता है। प्रेमी हृदय का सिंधुराज रूपलोलुप या कोरा कामी नहीं। उसके हृदय में सत्यरत्नेष्ट वद्रमूल रूप से दिखाई देता है। जब से उसने शशिप्रभा को देखा, उसके मन में उत्पन्न पूर्वानुराग उसकी प्राप्ति में पूरा सहायक हो जाता है, और इसीलिए सक्तों का सामना करते हुए भी वह उसे प्राप्त कर लेता है। शृङ्गारप्रियता के साथ इसका सौन्दर्यदर्शन और प्रेम भी उत्तम छोटि का है। कालिदास के दुष्यन्त की भाँति इसके प्रेम का परिचय भी वन में ही मिलता है। यहाँ भी सखियाँ प्रेमपुष्टि में सहायक होती हैं। वे शशिप्रभा से कहती हैं

स्थिरा भव नृपेण त्वमिह संयोगमाप्स्यसि ।

यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला ॥

(७।६६)

चिरतेऽपि मेघतिमिरे नताङ्गि मे

न गतासि लोचनपथं यदा तदा ।

फणिलोकभूमिमतिदुर्गमामिमाम्

अविशं तवानुपदमेव सुन्दरि ।

(११।५४)

शशिप्रभा की प्राप्ति के लिए दुर्गम फणिलोक की भूमि में प्राणों की बाजी लगाकर प्रवेश करना प्रेम की पुष्टि का प्रमाण नहीं है तो और क्या है ? हेमकमल लाकर शशिप्रभा के साथ पाणिग्रहण करने से प्रेम की सत्यता का पूर्ण परिचय मिल जाता है । इस सारी घटना में उसकी शृंगारी प्रवृत्ति ही काम करती दिखाई पड़ती है, जिससे वह सच्चा प्रेमी और दृढप्रतिज्ञ दिखाई देता है । परन्तु सिन्धुराज का आदर्श प्रेम सामान्य मानव-जीवन के आदर्श का प्रतीक है । 'त्रिभुवनविभ्रमैकभूमि' शशिप्रभा के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर उसमें अनुरक्त होना भी स्वाभाविक था । किन्तु इस अनुराग में मर्यादा का उल्लंघन कहीं भी नहीं हुआ । उसने शशिप्रभा की प्राप्ति की चेष्टा तभी की, जब उसे 'श्रुता गुणाद्यस्य बृहत्कथा तव' और "श्रुतो वरोऽयं युवयोः समागमः" की सूचना मिल जाती है । 'असीमसौन्दर्यविलासभू' शशिप्रभा से वह तभी प्रेम करता है, जब उसे उसके अनुराग की भी सूचना मिल जाती है । इस प्रेम के प्रसंग में कवि ने अपने नायक के चरित में मानवोचित दुर्बलताओं का चित्रण करके स्वाभाविकता उत्पन्न कर दी है । शशिप्रभा के अदर्शन से नितान्त व्याकुल हो जाना, हार की देखकर कामासक्त हो जाना, व्याकुलता में सन्देश भेजना, सन्देश में अपनी कामासक्तता का उल्लेख करना आदि ऐसे तथ्य हैं, जिनका स्वाभाविक चित्रण नवसाहसिक के व्यक्तित्व में हुआ है । यद्यपि कथानक की देखकर कुछ घटनाएँ—जैसे नर्मदा के विल में प्रविष्ट होना, गन्धर्व-सेना का सहयोग देना; चन्दर का मनुष्य हो जाना आदि—अस्वाभाविक सी जान पड़ती हैं, किन्तु इन घटनाओं में देवी शक्ति और शापविमोचन आदि का प्रकरण उपस्थित करके उन्हें काव्योचित बना दिया गया है । अभीष्ट रस के अनुकूल इस प्रकार की कल्पना का समावेश भी चरित की विशेषता में एक गुण ही माना जाता है, जिसके कारण

समय समय पर रस का उद्दीपन और प्रशमन होता रहे, एवं प्रधान रस की विभ्रान्ति होने पर उसे फिर से सँभाल लिया जाय ।^१

सिंधुराज प्रतापी और शोभाशाली या, उसमें अनेक गुणों की समष्टि थी । इस विषय में पद्मगुप्त ने यों कहा है

पृथुप्रतापस्सविता यथैव यथा कलाना निधिरोपधीरा ।

यथा वसन्त सुमनोऽनुकूलस्तथाऽमि भूमि स्पृहणीताया । (६।२४)

कन्दर्पाधिककान्तोयमवन्तिमृगलाञ्छन (६।५५)

यहा पर जिन गुणों की समष्टि का परिचय दिया है, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नवसाहस्राक्षचरित के नायक सिंधुराज के चरित में “अधौ गुणा नेतरि सत्तत्त्वा ” की उक्ति सुचारु रूप से घटित हो जाती है ।

शशिप्रभा

नवसाहस्राक्षचरित की नायिका है शशिप्रभा । शशिप्रभा का भी अपना व्यक्तित्व है । अतुलनीय सौन्दर्य की नैसर्गिक छटा उसमें देखी जाती है । नागलोक की उस सर्वसुन्दरी की समता रति, विमलसा, घृताची और तिलोत्तमा भी नहीं कर सकती । उपोदलावण्यतरंगमङ्गया सपगबिम्बोद्भगतप्रवालया (५।२४) कह कर कवि ने उसके सौन्दर्य को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है ।

शशिप्रभा ‘धनानुरागिणी’ है । सिंधुराज की चर्चा उसने मुन रखी है । मृग को लगे बाण के दर्शन से और बाण पर लिखी नृपति की नामा-क्षरपंक्ति को पढ़कर शशिप्रभा के हृदय में अनुराग का अक्षुर प्रस्फुटित हो जाता है । यह पूर्वाभिराग उसकी हृदय की सरलता और तरलता का संसर्ग पाकर लज्जा की सृष्टि कर देता है, जिससे वह लज्जाशोल स्वभाव की प्रतीत होने लगती है । उसकी लज्जा विनय और मर्यादा समुच्च है । वह प्रेम के प्रसंग में कभी भी अमर्याद तथा निरावरण नहीं होती । उसमें भारतीय नारी का समय देखा जाता है ।

चित्रप्रतिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।

प्रीडार्थयलित चक्रे मये दुमरशौच सा ॥ (६।४२)

नवानुराग की वृद्धि होने पर भी वह मर्यादा का ध्यान रखती है ।

१ कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा

यथा रसमय सर्वमेवेतप्रतिमासते ।

पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तरामीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेय , यथा कालिदासप्रबोधेयु ।

(ध्वन्यालोक वृ० उ० पृ० ३११)

वह राजा को देखती भी है तो कनखियों से। “सदाचारपरे” विशेषण भी सम्भवतः कवि ने उसकी इन विशेषताओं को ही देख कर दिया होगा। परिस्थितिवश जय सिन्धुराज उसको अपने समीप आने को कहता है तो हृदय से तो वह चाहती है, पर मर्यादा का ध्यान उसे उस समय भी रहता है।

विरह की अवस्था में उसके प्रेमी हृदय का सच्चा रूप देखने को मिलता है। नारीहृदय का प्रेम, उमंगें और सभी भावुक दशायें उसमें पाई जाती हैं। सिन्धुराज का विरह उसे व्याकुल करता है, उसीका चिन्तन वह करती रहती है। पर हाहाकार नहीं करती। हृदय को जला देने वाले विरहानल की पीड़ा को वह झेलती है, उसका ढिंढोरा नहीं पीटती। इससे उसकी धीरता का पता चलता है। शशिप्रभा के चरित्र में इसीलिए एक और विशेषता भी आ गई है कि कवि ने उसके चरित्र में सामाजिक, धार्मिक, व्यावहारिक और नारी-हृदय के चित्रों का रूपरंग भली-भाँति निखारा है। माधुर्य, शोभा, लज्जा, गाढानुराग और अनन्यासक्ति का जो चित्रण शशिप्रभा के व्यक्तित्व में हुआ है, वह मनोवैज्ञानिक है और स्वाभाविक भी।

वह वाक्चातुरी में भी दक्ष है। उसका स्वभाव दयालु है। वह हास-परिहास की प्रकृति वाली भी है। और सबसे बड़ी विशेषता है उसके सत्य प्रेम की। उपर्युक्त कथन के आधार पर हम कह सकते हैं कि शशिप्रभा का चरित्र एक सभ्रान्त भारतीय नारी का चरित्र है, जो आदर्शोन्मुख होता हुआ भी व्यावहारिकता के अति निकट है।

रमाङ्गद

रमाङ्गद चतुर बुद्धि का कार्यकुशल मंत्री है। उसके विचारों में दृढता और कार्यवाहक शक्ति का सम्मिश्रण है। राजा जब कभी भी धैर्यहीन होने लगता है तो रमाङ्गद बड़ी निपुणता के साथ उसे धीरज बँधाता है। वह स्वयं साहसी और वीर है। इसका प्रमाण उसका ब्रज्राकुश के साथ का युद्ध है। वह राजनीति का पंडित है। यह गुण उसका तब प्रकट होता है, जब वह ब्रज्राकुश के पास सन्धि का प्रस्ताव लेकर जाता है और राजनीति की बातें करता है। रमाङ्गद स्वामिभक्त मंत्री है। इसी प्रकार के कई गुणों की समष्टि का व्यक्तित्व है रमाङ्गद का।

पाटला

पाटला का व्यक्तित्व चतुरता एवं परिहासप्रियता का जीवन्त व्यक्तित्व है। इसका परिचय उस समय मिलता है, जब वह राजा से द्वार मांगते समय बातचीत करती है। वह रूपवती, बुद्धिमती, ‘भंगिभणितिदत्त’ और कर्तव्य-

पालन में तत्पर है। वह अपने कार्य में सदैव जागरूक रहती है, और उसे पूर्ण ही कर देती है। उसमें परपीडा कातरता का गुण अधिक है। सच्ची सहेली के लक्षण उसमें विद्यमान हैं। प्रेम की गूढ़ रीति-नीतियों को वह मली भाँति जानती है। उसमें दूसरों के मनोभावों को ताट लेने की कुशलता है। इसका परिचय तब मिलता है, जब वह रमाकृष्ण के एक एक भाव को समझ कर उसका उत्तर देती है। उसकी चतुरता से शशिप्रभा राजा का दर्शन कर सकी है। पाटला के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उसका मधुर स्वभाव है।

अन्य सखियाँ

पाटला के अलावा अनङ्गवती, कलावती आदि शशिप्रभा की अन्य सखियों का चरित्र भी उत्तम कोटि का प्रतिपादित किया गया है। वे भी हास-परिहास करनेवाली तथा कलाकौशल निपुण हैं। उनमें आनन्द की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है। जिस भाँति शकुन्तला क प्रणय-साफल्य में प्रिय-वदा एवं अनुसूया सहयोगिनी होती हैं, वैसे ही यहाँ भी पाटला आदि सखियाँ शशिप्रभा का साथ देती हैं।

अतः हम यह कहेंगे कि नवसाहस्राङ्क के चरित्रों पर भी कालिदास के चरित्रों की छाप पड़ी हुई है। चरित्रों का चित्रण इस काव्य में सुन्दर और स्वामाधिक ढंग से हुआ है।

नवसाहस्राङ्कचरित की रसयोजना

नवसाहस्राङ्कचरित शृंगाररसप्रधान महाकाव्य है। यद्यपि इसमें अन्य रसों का भी समावेश हुआ है, पर वे सब अग्ररूप में ही आये हैं। अग्री शृंगाररस ही है। इस शृंगाररस को यदि हम पद्मगुप्त की शृंगारप्रियता का उत्कृष्ट निदर्शन कहें तो यह अत्युक्ति न होगी। किसी भी महाकाव्य में प्रधानभूत रस एक ही माना गया है, वह शृंगार हो या और हा। क्या भी ऐतिहासिक या सज्जन पुरुष सम्बन्धी हो। धर्म, अथ, काम, मोक्ष में से उसका कोई एक हल होना चाहिये।

इन सब बातों क नियम का पालन हम नवसाहस्राङ्कचरित में देखते हैं। नवसाहस्राङ्कचरित का पुरुषार्थ काम है। क्योंकि सिन्धुराज का जिस प्रकार का पुरुषार्थ यहाँ दिखलाया गया है, उसका पर्यवसान शृंगाररस की सिद्धि करके शशिप्रभा के साथ सानन्द जीवन-यापन में होता है। इसी हेतु अन्य सब गुणों और अन्य रसों की उद्भावना करके भी उसी मूलमार्ग की पुष्टि की गई है। यही इसका पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये इस काव्य में नाना

प्रकार की घटनाओं की योजना की गई है, और उनके क्रमिक विकास की समाप्ति भी शृंगारसाधन के हेतु ही हुई है।

जिस प्रकार कालिदास की रसयोजना अपने क्षेत्र में सर्वसुन्दर है, उसी भाँति परिमलपद्मगुप्त की रसयोजना भी अपने ढंग की निराली है। कालिदास का अनुकरण करने पर भी उसमें कवि ने अपना व्यक्तित्व और मौलिकता सुरक्षित रखी है। कालिदास की रसाभिव्यक्ति का वातावरण और ढंग कुछ दूसरा ही है, और इस कवि का कुछ दूसरा। इसके शृंगार में आदर्श की दिव्य सृष्टि है। रतिभाव की सूक्ष्मता को पहचानना परिमल-पद्मगुप्त को भलीभाँति आता था। इसीलिए उनका रसपाक और उसकी योजना औचित्यपूर्ण ढंग से हुई है।

काव्य के प्रारम्भ में ही जब राजा मृगया-विहार को जाता है तो विन्ध्याटवी में उसकी वीरता का परिचय मात्र कराकर कवि सिन्धुराज की ललित प्रकृति का परिचय देने लगता है। उसका सौन्दर्यप्रेम हंसदर्शन और हारदर्शन से ही व्यक्त होने लगता है। शशिप्रभा के हार पाने और उसमें शशिप्रभा का नाम पढ़ने से ही कामभावना अंकुरित होती दिखाई देती है और इसका स्वल्प विकास पाटला के द्वारा शशिप्रभा-रूपवर्णन से होता है। दर्शन से उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को चालना मिलती है। तब विस्मृति, चिन्ता एवं उत्कंठा का प्रादुर्भाव राजा के हृदय में हो जाता है।

धीरे-धीरे जैसे ही जैसे राजा शशिप्रभा के उस हार को निपुणतया देखने लगता है तो उसके हृदय में उत्सुकता बढ़ने लगती है, और दक्षिण-बाहुस्फुरण से शशिप्रभा की प्रत्याशा भी होने लगती है। यहाँ से शृंगाररस के स्थायी भाव का उन्मेष होने लगता है। रतिभाव के उन्मेष तक बड़ी दक्षता से कवि ने संचारी भावों का स्वल्प चित्रण किया। तदनन्तर राज-दर्शन होने पर पाटलाकृत शशिप्रभा-सौन्दर्यवर्णन से रतिभाव को अधिक उन्मेषित किया गया। एक ओर नृपति सिन्धुराज के हृदय में रतिभाव का उन्मेष किया गया है, और दूसरी ओर नृपति के वाण पर नवसाहसिक का नाम लिखा देखकर शशिप्रभा के हृदय में भी अनुराग की भावना जागृत दिखाई गई है। नायक और नायिका में समान रतिभाव को दिखाकर शृंगाररस का औचित्य भी कवि ने व्यक्त किया है। इसी औचित्य के आधार पर रस का परिपाक नैसर्गिक ढंग से सफल बन पड़ा है।

शशिप्रभा की कामावस्था का वर्णन कवि इस रूप में करता है।

रूपमास्वादयामास तस्यालेख्यगतस्य सा ।

भ्रमरीवारविन्दस्य सुधासहचरं मधु ॥ (७ । ३४)

अनीयताकुसुमं सा त्रितयेन तनूदरी ।

विस्मयेनाविस्मन्नेण मदेन मदनेन च ॥ (६ । ३५)

मदन की स्वल्प आश्रयि से ही उसकी स्तनपत्रता में पुलकोद्गम हो गया, कुचकम्प भी होने लगा । स्वेदसचार, लज्जा, शंका, साध्वस—यह बातें उसकी कामासक्तता का चोतन करती हुई पुन रतिभाव की परिपोषक बन जाती हैं ।

न च प्रेम नवोत्कठा नवास्ते से मनोरथा ।

इति सस्यास्तथैवाम्भुवन्तरङ्ग परिच्छद ॥ (६ । ४४)

इसके द्वारा कवि ने रतिभाव का उसी माँति का उन्मेष शशिप्रभा में भी दिखाया, जिस प्रकार सिंधुराज में रतिपुष्टि का क्रमिक विकास नैसर्गिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से दिया गया है । उसमें जीवन के व्यावहारिक पक्ष की सत्यता के सूक्ष्म रूप से दर्शन होते हैं । राजा के शशिप्रभा को देखने पर और शशिप्रभा के राजदर्शन करने पर दोनों का हृदय रति की पुष्टि के आधार पर बलिष्ठ हो जाता है, क्योंकि 'नवानुराग से वह तन्वी शीघ्र कुछ अथ ही सी प्रतीत होने लगी और उसके सुकुमार हृदय पर कामबाण का आघात होने लगा ।' अपने इस कार्य पर उसे लज्जा आती है । पर लज्जा के सिंघर होने पर शृंगार की पुष्टि नहीं हो सकती । इस सत्य को सामने रखकर लज्जा निराकरण की बात उसी द्वारा कही गई, 'कुतो लज्जा तवाल्लिपु', इतना ही नहीं, रति की उद्दीप्ति भी होना अनिवार्य था, अतः प्रकृति का उद्दीपन रूप भी सामने रखा गया है । आग्नमञ्जरियों का उद्गम, कोकिला की कलध्वनि, अशोकवृक्ष का दोहद, तिलक, विन्दुवार आदि पुष्पवृक्षों का पुष्पित होना आदि प्रकृति के उद्दीपन सौन्दर्य की उद्भासना द्वारा शशिप्रभा के नवानुराग को उद्दीप्त किया गया है । इसी प्रकार शशिप्रभा की वृषप्रत्याशा को भी उसकी सखी माह्वयवती द्वारा बल दिया गया है

स्थिरा भव नृपेण त्वमिह संयोगमाप्स्यसि ।

यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुष्यन्तेन शकुन्तला ॥ (६ । ६४)

इस प्रकार भावों का क्रमिक विकास करके उन्हें रतिपुष्टि में सहायक करने में पद्मगुप्त ने अतिसूक्ष्म भावमर्मकता का परिचय दिया है ।

जिस प्रकार शशिप्रभा का द्वार धारण करने से राजा की कामभावना की वृद्धि हुई, उसी माँति 'तुषारपाण्डुना तेन ववृधेस्या मनोभय' के द्वारा यह भी व्यक्त कर दिया कि शशिप्रभा ने भी जब राजा के द्वार को धारण किया तो वह भी कामासक्त हो गई ।

शशिप्रभा के दर्शन पर रही-सही कमी को रमागद ने उसके रूप-वर्णन से

पूर्ण कर दिया। शशिप्रभा के नख-शिख-वर्णन ने राजा को उसके प्रति अति आसक्त बनाकर उसके प्रति रति की वृद्धि कर दी। अभी रतिभाव की वृद्धि अन्तर्द्वन्द्व में ही हो रही है। इसके पश्चात् उसमें और अधिक तीव्रता आती है। मनोरागों की प्रवलता से वह परिपुष्ट होती दिखाई देती है। लज्जा और नृपालोकन-कौतूहल ने शशिप्रभा की रति को और अधिक विकसित कर दिया और राजा के लिये शशिप्रभा के रूप का “चिरं पपौ स स्तिमितेन चक्षुषा” कहकर उसकी एक झलक भी दिखा दी।

इस प्रकार धीरे-धीरे रतिभाव की जागृति और पुष्टि कराकर पद्मगुप्त ने राजा की ललित वृत्ति का समुचित परिचय दिया। पर इतने से ही तो रतिभाव स्थायीभाव की कोटि में नहीं आ सकता। अतः पद्मगुप्त उसको स्थायी रूप देने के लिये और विशेष विधान भी बनाता है। रतिभाव की जब सबल पुष्टि होने लगती है, तब धैर्य की ग्रन्थि का शिथिल होना भी नैसर्गिक ही है। इसलिये कवि ने कहा है कि उसके सरस मानस में उस राजहंस ने प्रवेश किया, प्रवृष्टि होते ही उसने शशिप्रभा की धीरता को मृणालिनी की भाँति तोड़ डाला। फिर भी कवि को अभी पूर्ण रतिभाव की पुष्टि नहीं दिखाई देती। अभी तो वह उनके परस्पर अनुराग का एक-दूसरे से परिचय कराने में ही तत्पर है : ‘नव शशिप्रभा और राजा ने परस्पर एक-दूसरे को देखा तो उन दोनों के हृदय में एक-दूसरे के प्रति अनुराग की परिलक्षित करा दिया।’

अत्रापदन्योन्यनिवद्धभावयोस्तयोः प्ररोहं हृदि वालमन्मथः । (७।४३)

जब नृपति की बोलने की इच्छा जागृत हुई, उसने शशिप्रभा से नाना प्रकार के प्रश्न किये, पर शशिप्रभा ने एक का भी उत्तर नहीं दिया। बदले में माल्यवती ने ही उत्तर दिया। यहाँ पर भी यदि स्वयं शशिप्रभा उत्तर दे देती तो रतिभाव की पुष्टि न हो सकती। इस प्रकार की सूक्ष्म बातों पर भी कवि ने जागन्क होकर दृष्टि रखी है। क्योंकि रसबन्धतत्पर होने के कारण कवि को इतना सूक्ष्म ध्यान रहा है।

पूर्ण रूप से रस में तत्पर कवि की ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती, जो उसकी इच्छा से उसके अभीष्ट अंगी रस का अंग न बन जाय। अथवा उसके अभिमत रस का अंग बनकर रसत्वातिशय की पुष्टि न करे। यह बात हमें पद्मगुप्त के काव्य में भलीभाँति दृष्टिगोचर होती है कि इस कवि ने अपने अभिमत शृंगाररस को घोषित करने के लिये नैसर्गिक भावों के क्रमिक विकास का ध्यान रखा। प्रबन्ध के लिये यह एक और विशेषता

है कि बीच बीच में रस का उद्दीपन और प्रशमन कराना और रसोचित्य का ध्यान रखना, क्योंकि रसोचित्य का भंग होने से काव्य में भारी दोष आ जाता है। पद्मगुप्त को इन बातों का पूर्ण ज्ञान था। जो उसकी काव्यमर्मज्ञता और सहृदयता का परिचय देता है।

“भ्रता गुणाद्यस्य बृहत्कथा तव” कहकर गुणभवन से लेकर और दर्शन तक अनुराग की अभिव्यक्ति कराकर कवि ने “अतो वरोऽयं युवयो समागमः” कहकर एक प्रकार से रतिभाव का चरम सा दिखाना चाहा और “रघुद्वहस्यावधिक्यका यथा तथा तरेयं विधिनोपपादिता” एवं “किमयदस्या कृतपाणिपीडनम् पद निघर्त्से गृहमेधिना घुरि” कहकर भी समागम की पूर्ण भावना प्रगट कर दी। इसके कुछ ही क्षण पश्चात् रतिभाव को उद्दीप्त करने के लिये और उसको पुष्ट करने के लिये भयंकर मेघों का नभ में छा जाना, आधी का उटना, शशिप्रभा का अपनी सखियों के साथ विलुप्त होना आदि घटनाओं की सुकिसंगत योजना करके कवि ने शृंगार को विप्रलम्भ का रूप दे दिया। यह भी शास्त्रमर्यादा और लौकिक व्यवहार कवि-अनुभूति का ही परिचायक है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता तो प्रधान कथावस्तु समाप्त हो जाती, और रस केवल भावरूप में ही रह जाता, इसलिये कवि ने विप्रलम्भ की योजना की। और है भी उचित यही। जैसे कि कहा गया है, “न बिना विप्रलम्भेण शृंगारं पुष्टिमश्नुते”। अतः विप्रलम्भ की योजना के द्वारा ही पुनः रतिभाव की पुष्टि करायी गयी है।

शशिप्रभा जन राजा के सामने ही आधी में कहीं विलीन हो जाती है, तब राजा खिन्न होकर विरहकातर हो जाता है। और फिर शशिप्रभा के अन्वेषण का प्रयत्न करने लगता है। इसके लिये उसे अद्भुत साहस के कार्य करने पड़ते हैं। नर्मदा की सहायता से वह पाताललोक में प्रवेश करता है। यहाँ उसे सूचना मिलती ही है, पर शशिप्रभा का दर्शन नहीं होता। अतः उग्रता, चिन्ता, दैन्य संचारीभाव और धर्षणविवर्तनादि अनुभावों का उदय होता है। शशिप्रभा के पिता की प्रतिज्ञा है कि वज्राकुश को मार कर जो उसकी बावड़ी से हेमकमल लायेगा, वही शशिप्रभा का वरण करेगा। यह सुनकर नृपति उस कमल को लाने का साहस करता है। इस साहस में रमागद, बकुमुनि और नर्मदा आदि उसे सहायक देते हैं। बीच में अद्भुत-रस की योजना भी शापमात प्राणियों द्वारा की गई है। वे भी नृपतिदर्शन से शापमुक्त होकर उसके साहसकार्य में सहायक होते हैं। वज्राकुश के साथ नृपति का युद्ध होता है। इस स्थल पर वीररस का भी सुंदर परिपाक हुआ है। युद्ध के पूर्व

सिन्धुराज का विरह-वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है । शशिप्रभा का विरह भी मनोवैज्ञानिक है :

विस्त्रस्तमाल्या श्लथबन्धनत्वात् अंसावकीर्णां कवरीं वहन्ती ।
कलिन्दकन्यामस्तृणोर्मिनीलां निस्त्रिशलेखामिव मन्मथस्य ॥ (६।१५)
मूलं निशाघ्रातमिवारविन्दं विपादवीतप्रभमुद्वहन्ती ।
विलुम्पती निःश्वसितेन कान्तिम् आपाटलस्याधरपल्लवस्य ॥ (६।१६)

और :

त्वदीयविश्लेषमवाप्य वाला सा लक्ष्यते किञ्चिदनिर्घृतेव ।
भवादृशामेकपदे वियोगो न कस्य राजेन्द्र मनो दुनोति ॥ (६।२३)

कहकर कवि ने शशिप्रभा की वियोगावस्था को व्यक्त किया । इसी भाँति राजा का शशिप्रभा के प्रति व्याकुल होना, स्वप्न देखना, सन्देश भेजना आदि में भी मनोदशा का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है । बीच-बीच में उत्साही वातावरण की सृष्टि भी की गई है । फिर विलाप की चर्चा यों की गई है :

सरले सह वारिजश्रिया निभृतं कापि गतः स भास्करः ।
वद तेन विनाऽब्जिनी कथं क्षणदामय नताङ्गि नेष्यति ॥
(१२।३४ तथा ८।१२)

सारी मनोव्यथा की अभिव्यक्ति तो इतने से ही हो गई :

शिरीपादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना ।
एष क्व च कुकूलान्निकर्कशो मदनज्वरः ॥ (१६।२८)
तावदागच्छ वेगेन गृहीत्वा हेमपङ्कजम् ।
अनंगविधुता यावदियं श्वसिति नः सखी ॥ (१६।४६)

इस संदेश के द्वारा पुनः राजा के उत्साह को उद्दीप्त करके चिन्तादि भावों का प्रशमन करा दिया गया है, और राजा से कहलाया गया है :

यथा सखी वः किमपि प्रपन्ना विधुरां दशाम् ।
तथा त्वमपि मामेवं पाटले किं न पश्यसि ॥ (१६।४८)
तद्गच्छ तां शशिमुखीमाश्वासयितुमर्हसि ।
वयमेते च हंमाञ्जमानेतुं प्रयतामहे ॥ (१६।४९)
तथा कार्यं न वन्ध्यः स्याद्यथा मम मनोरथः ।
वक्तव्या माल्यवत्येवं भद्रगिरा वल्गुवादिनि ॥ (१६।५०)

इस प्रकार पुनः राजा एक बार अपनी कातरता को दूर कर वज्रांकुश पर

आत्ममग्न करने चलता है, और पूर्ण पराक्रम के साथ उसको जीत कर शशि-प्रभा के पिता की प्रतिष्ठा को पूर्ण कर शशिप्रभा को प्राप्त करता है ।

वीर और अद्भुत रसों का समावेश करने के कारण शृंगार की मली-भाँति पुष्टि हुई है । रति को स्थायीभाव का रूप देने के लिये विभिन्न रूपों, भावों का उदय और शान्ति दिखाई गई और पुनः शृंगार की पुष्टि की गई । समस्त काव्य का अध्ययन करते पर पहले यह विदित होता है कि जितने भी भाव रति के पोषक हो सकते हैं, वे पृथक् पृथक् रूप में दिखाये गये हैं । और अन्त में उन सब की समाप्ति से शृंगाररस की पुष्टि की गई है ।

नवसाहस्राक्षचरित के शृंगाररस की पूर्ण पुष्टि के लिये जो कुछ विवेचन किया जाता है, उससे यह मली-भाँति विदित हो जाता है कि इस कवि का रस पर पूर्ण अधिकार था । वह स्वयं इस प्रकार के व्यक्तित्व का था, जिसके कारण वह अपनी अभिमत रस निष्पत्ति में सफल हो सका ।

शृंगाररसोपयोगी वर्णन करने में तो इस कवि को पूर्ण दक्षता प्राप्त है । जहाँ पर जिस प्रकार के भावों की स्थिति होती है, वहाँ पर उसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया गया है । आवेश की द्योतना के लिये समस्त शैली और कर्मशर्णविचारा भी किया गया है । जिसका उल्लेख हमने शैली विचार में किया है ।

शृंगार के जितने भेदोपभेद हो सकते हैं, उन सबका समावेश इसमें है । विभाव, अनुभाव एवं सचारी भावों का समुचित औचित्य इस काव्य के शृंगाररसवर्णन में किया गया है । इसीलिये “प्रसिद्धौचित्यवचस्तु रसस्योपनि-षद् परा” की उक्ति इसमें पूर्ण चरितार्थ होती हुई लक्षित होती है । ऐतिहासिक कल्पित औचित्ययुक्त कथाचारीर का ग्रहण करना भी स्वाभिध्यक्ति की पुष्टि करता है । कहीं भी अत्युक्तिवृत्त दोष नहीं आने पाया है । ध्युत्पन्नमति पद्मगुप्त की यह रसयोजना पूर्ण विशुद्ध प्रतीत होती है ।

रसौचित्य के लिए अलंकारों के यथेष्ट और औचित्यपूर्ण प्रयोग पर भी कवि की पूर्ण दृष्टि रही है । इसका विवेचन हम अलंकार-योजना वाले प्रकरण में करेंगे ।

उपयुक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि गरिमन्पद्मसुख रससिद्ध कवि था । उसकी कृति नवसाहस्राक्षचरित रस की सफलामिव्यक्ति है ।

नवसाहस्राक्षचरित की अलंकारयोजना

नवसाहस्राक्षचरित की अलंकारयोजना वस्तुतः महाकवियों की अलंकार-योजना है । महाकवियों की इस प्रकार की योजना की विशेषता एवं विचित्रता

उसकी औचित्यपूर्ण योजना में ही है। इस औचित्य का निर्वाह जो कवि जितनी प्रतिभासम्पन्नता से एवं मार्मिक सूक्ष्म दृष्टि से कर सकता है, उसका काव्य उतना ही महत्त्वपूर्ण, स्पृहणीय और उपादेय होता है। जिस भाँति किसी रमणी का आभूषणविन्यास यदि अस्तव्यस्त हो या उपयुक्त स्थलों पर न हो तो उसके वे आभूषण भी सौन्दर्य के दूषण बन जाते हैं, एवं उसके प्रति जो चित्ताकृष्टि का भाव रहता है, वह भी न्यून हो जाता है, ठीक यही बात कविता के विषय में भी कही जा सकती है। काव्य में कवि यदि अपनी कारयित्री प्रतिभा के बल पर औचित्यपूर्ण अलंकार-योजना नहीं कर सकता तो उसका काव्य भी मनोहारी नहीं हो सकता। अपने काव्य में औचित्य का विधान करने के लिये कवि को जागरूक रहना पड़ता है। जिस समय वह कविता का निर्माण करता है, उस समय इस बात का ध्यान रखता है कि कविता में किस-किस अलंकार को लाने की चेष्टा कर रहा है। यह तो उसकी प्रतिभा और सूक्ष्मभावाभिनिवेश का फल होता है। और तब वह चारुत्वोत्कर्ष के लिये सबल और आकर्षक उपमानों की चिन्तना भर कर लेता है। क्योंकि काव्यनिर्माण के समय “चिन्तयत्यर्थजातं” पर ही उसका ध्यान रहता है। और जब वह गहन अर्थजात की चिन्ता में मग्न हो जाता है तो उस समय उसका सारा ध्यान काव्य को समुचित ढंग से व्यक्त करने में केन्द्रीभूत हो जाता है। ऐसी स्थिति में काव्य के उपकारक जितने भी उपादेय तत्त्व होते हैं, उनका वह समुचित उपयोग कर लेता है। यह तत्त्व उसकी प्रतिभा में अहम्पूर्विकया अवभासित होने लगते हैं। तब उसका कार्य केवल इतना ही रहता है कि वह अपनी प्रतिभा और सहृदयता के बल पर काव्यात्मा की सौन्दर्याभिव्यक्ति के अंगभूत अनेक उपादानों को उचित रूप में सुनियोजित कर देता है। इस सुयोजना के कारण ही उसकी कृति चित्त-विमोहक बन कर उद्देश्यपूर्ति में पूर्ण सहायक हो जाती है।

कवि के औचित्य का ध्यान ही महाकाव्य के सफल निर्माण में सहायक होता है। जो कवि जितना ही सरस, सहृदय और चिन्तनशील मस्तिष्क का होता है, वह उतनी ही सफलता के साथ इन सब की योजना को सुगमता से घटित कर सकता है। हम देखते हैं कि परिमल पद्मगुण के पूर्ववर्ती कवियों ने अलंकारयोजना की विशेषता पर जिस प्रकार ध्यान रखा है, यहाँ कवि ने भी उसका सर्वत्र निर्वाह किया। कवि की स्पष्ट उक्ति है :

न चिराद्भ्रष्टविशेषविद्विस्वरुचयोऽतिपेशलाः ।

लक्ष्यनयनवरसाः शुचयः कविपुद्गवोक्तय इवाङ्गना वसुः ॥

वस्तुतः वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियों की कृतियों में यह विशेषता पूर्ण रूप से पाई जाती है। इन कवियों ने औचित्य पर सदैव पूर्ण दृष्टि रखी है। काव्य में अलंकार भी एक उपादेय तत्त्व है। उसका प्रयोग इन कवियों ने किस प्रकार किया, इसका निदर्शन उनका औचित्य-चिन्तन है।

मा निपाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वतो समा ।

यत्क्रौञ्चमिधुनादेकमवधौ काममोहितम् ॥

इस स्थल पर विद्याद और कौचमिधुन में जो रुन्दाय का औचित्य है, वह तो है ही, पर इस से भी अधिक औचित्य अलंकार को विशेषता का है। जिसके द्वारा यह ध्वनिकाव्य माना जाता है। महर्षि वाल्मीकि महाकवि माने जाते हैं। अलंकार की समुचित योजना महाकवि वाल्मीकि के शरद्वर्णन में देखिये

तरंगसगान्धपलै पलाशै घ्नाला श्रिय सातिशया दधन्ति ।

सधूमवीप्ताग्निरुचीनि रेजुस्ताम्रोत्पलान्याकुलपद्पदानि ॥

और

निशातुपारिर्नयनाम्बुकरूपे पत्रान्तपर्यागलदच्छविदु ।

उपारोहेव नदत्पनङ्गै कुमुद्वतीवीरवरदिनाशौ ॥

इन श्लोकों में उत्प्रेक्षागत जो सौन्दर्य है, वह अत्यंत ही प्रभावोत्पादक, और जीवन्त है। कुमुद्वती के मुरझाने पर तीरथ का आँसू बहाकर रोना प्रकृति को प्राणवती के रूप में उपस्थित करना ही है।

इसी भाँति कालिदास ने भी अलंकारों का सफल प्रयोग किया है। उसमें रसभावों की सफल योजना हुई है। विशेषकर उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का तो कहना ही क्या है

ता जानीथा परिमितकथाजीवित मे द्वितीयम् ।

दूरीभूते मम सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्

गाढोत्फण्ठा गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छतसु बाला

जाता मये शिशिरमयिता पद्मिनी बान्धवरूपाम् ॥

हे मेघ, विरहचिन्ता के कारण मौन धारण करनेवाली मेरी उस प्रियतमा को मेरा दूसरा प्राण ही समझो, जो मुझसे बिछुड़ कर अपने सहचर से बिछुड़ी चक्रवी की भाँति विरह की मूक वेदना सह रही होगी। वियोग के इन लम्बे लम्बे प्रतीत होने वाले दिनों में उसकी उत्पत्ता बढ़ रही होगी। जैसे जैसे दिन बीत रहे हैं, वैसे ही वैसे उसकी दशा उस कमलिनी के समान हो गई होगी, जो पाला पड़ने के कारण बिलकुल मुरझा गई हो।

इस स्थल पर कालिदास ने उपमा अलंकार की सफल योजना की है, विरहवियुक्त चक्रवाकी की दशा की अनुभूति बड़ी ही तीव्र वेदनामय अनुभूति है। चक्रवी (उपमान) की सभी दशाओं का यत्तिणी (उपमेय) में समावेश करके विरह की उत्कंठा और असहनीयता की सूचना कवि ने दी है। इस प्रकार की उचित योजनाओं पर ही कालिदास के लिये कहा गया है : “उपमा कालिदासस्य”, इतना ही नहीं, यहाँ पर एक सबसे बड़ी विशेषता जो है, वह अलंकार की नातिनिर्वहणीयता अर्थात् अलंकार-विस्तार का त्याग और नवीन अलंकार का ग्रहण। पूर्व की पंक्तियों में चक्रवा को कहकर भी कवि ने उपमालंकार की शान्ति कर दी और पुनः “जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्” में उत्प्रेक्षा दिखा कर शिशिरमथिता कमलिनी के रूप में वियोग की असहनीयता का पूर्ण परिचय दे दिया है। विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यक्ति सुन्दर रूप से निखर पड़ी है।

नवसाहस्राक्षरित में विभिन्न अलंकारों की समुचित योजना उपलब्ध है, जो रस के चारुत्वोत्कर्ष के लिये ही पर्याप्त है, उसमें से कतिपय अलंकारों का दिग्दर्शन यहाँ कराते हैं।

नवसाहस्राक्षरित में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, संदेह, प्रतीप आदि अलंकारों की योजना अत्यन्त औचित्यपूर्ण ढंग से की गई है। और प्रबन्धकाव्य की सफलता को दृष्टि में रखते हुए इन्हीं अलंकारों को अधिक रूप में ग्राह्य समझकर उनका औचित्यपूर्ण निर्वाह भी किया गया है।

अपाङ्गसंवर्धितशोणाकान्तिना सुकृष्णतारेण तुपारपाण्डुना ।

इयं प्रवालासितरत्नमौक्तिकैर्विनिमित्तेनेव चकास्ति चक्षुषा ॥

(७।१६)

प्रस्तुत छंद में कवि ने नेत्रों में श्याम, श्वेत और रक्त वर्ण की जो कल्पना की है, वह रसाविर्भाव की अभिव्यक्ति के लिये अति उपयुक्त है, और विचारों की पुष्टि के लिये उसकी समुचित योजना हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह योजना चित्रण में मनोहारिता उत्पन्न करके सौन्दर्योत्तिशय की वृद्धि के साथ-साथ शृंगारप्रियता की द्योतिका भी हो गई है। पद्मगुप्त कवि की अलंकार-योजना उत्कृष्ट है, जो अपना स्वतन्त्र अलग अस्तित्व रखते हुए भी रसपोषक है। वातावरण के चित्रण द्वारा चित्त को रस की ओर आकृष्ट करने के लिये उत्प्रेक्षा का सहारा लिया गया है :

तदीयनामाङ्गलिपि शनैः शनैः सलीलमावर्तयितुं प्रचक्रमे ।

परिष्कुरत्पल्लवपाटलाधरो रहस्यचिद्यामिव मन्मथस्य सः ॥

(४।५)

“धीरे धीरे वह राजा ‘शशिप्रभा’ इस नाम की अक्षरपक्ति को बार-बार बड़े प्रेम से दोहराने लगा, जिससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह फड़कते हुए अक्षरपल्लवों से काम की उपनिषद् का अभ्यास कर रहा हो।” यहाँ पर नामाकलिपि रूप उपमान का काम की रहस्यविद्या रूप उपमेय के उरगुप्त रूप में ग्रहण कर अभिलाषाहेतुजन्य विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्याक्त की गई है। शशिप्रभा को देखकर राजा कामासक्त हो गया और कामास्थान में जितनी चिन्तनपरम्परायें चलती हैं, उन सब ने राजा को घेर लिया। ये भाव काम की उपनिषद् शब्द के अध्ययन द्वारा ही व्यक्त होते हैं। तत्त्वज्ञ सद्बुद्ध इस बात को शीघ्र ज्ञान लेते हैं। यह उत्प्रेक्षा की औचित्ययोजना का ही प्रभाव है।

युता सिताभैः सुमनोभिरेतया परिस्तयेयं कवरी नियम्यते ।

उदस्तभाम्बत्करका तथा भ्रिया दिनस्य ताराशान्तेः शर्वरी ॥

(४।१२)

अपने सुन्दर हाथों को ऊपर उठाकर पाटला अपनी पुष्पमण्डित केशराशि को इस भाँति सँभाल रही है, मानो दिनभौ सन्ध्या अपने प्रभावपूर्ण ऊपर उठे हुए किरण कर से ताराशक्ल रात्रिरूपी केशराशि को सजा रही हो। यहाँ रूपक की अपेक्षा उत्प्रेक्षा का समुचित समावेश विशिष्ट सौन्दर्य का द्योतक बन गया है, और उस सौन्दर्य के कारण राजा की शृंगारिक चेतना भी अतिनिपुणता से निमाई गई है। इसमें भी उपमान और उपमेय के एक दूसरे के सौन्दर्य से एक दूसरे की चारुता की वृद्धि की गई है।

पुन पुन पट्पदराजिमेचका तदिन्द्रनीलाक्षरपक्तिमैक्षतः ।

स तन्क्षणा मन्मथजातवेदस तनीयसी धूमलतामिबोद्गताम् ॥

(४।१३)

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा के द्वारा ओ चमत्कार आया है, वह सहज सौन्दर्य से युक्त है, और उत्प्रेक्षा के द्वारा ही कामभावना की उद्दीप्ति से, जिसमें धूमलता सी उद्गत आशा की धुधली रेखा भी उदित हो रही है, अनुराग की पुष्टि का द्योतन किया गया है। यह पुष्टि पूर्वानुरागजन्य कामासक्ति की पूर्वाशा है। यहाँ पर अलंकार की उचित, सफल योजना अपना विशेष महत्त्व रखती है।

विलोकयन्ती तमपाङ्गलोचना समुल्लसत्स्नेदलवाङ्कितस्तनी ।

तत सुजातस्त्वकास्तमौक्तिका लतेन मा हेममयी व्यकम्पत ॥

(७।७७)

रसनिबन्ध में अत्यन्त उत्तर पद्मगुप्त ने यहाँ पर स्वेद, रोमाञ्च, रतम्म

आदि संचारी भावों की सूचना देकर उत्प्रेक्षा के द्वारा उसे रसपरक बना दिया है। जातस्तवका हेमलता का स्वेदलवाङ्कितस्तनी के साथ जो साम्य किया गया है, उसमें कवि की उत्प्रेक्षा की योजना औचित्यपूर्ण हुई है।

विलोकयास्याः क्षितिपाल विभ्रतीं प्रदीपशोभां कवरीं निशामुखे ।

असी मुहुः कुङ्कुमकेसरारुणा लसन्ति सीमन्तमणेरमरीचयः ॥

(७।१४)

यहाँ पर भी उत्प्रेक्षा के औचित्य से उद्भूत नायिका का सौन्दर्य निशा-सौन्दर्य के साथ उत्तमता से संयुक्त किया गया है। इस प्रकार एक-दो नहीं, पर्याप्त उदाहरण उत्प्रेक्षा के ऐसे हैं, जिनके औचित्य का निर्वाह सूक्ष्म बुद्धि के आधार पर किया गया है। इसी औचित्यसन्निवेश के कारण इस महाकवि के काव्य में मधुरता और रोचकता आ गई है। रसभावौचित्य के दृष्टिकोण से उत्प्रेक्षाओं का सफल प्रयोग पद्मगुप्त ने किया है, जिसके आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि “उत्प्रेक्षा पद्मगुप्तस्य सर्वभावेन राजते।”

इस कवि की अलंकारयोजना में यह बात भी वीक्षण्य है कि शाश्वत काव्य-निर्माण-चिन्तनशील इस कवि के नवसाहस्राङ्कचरित में आलंकारिक क्लेशसाध्यता का सर्वथा अभाव है। अलंकारयोजना की दूसरी विशेषता अवक्लेशसाध्यता पद्मगुप्त की अलंकार-योजना के प्रति सहसा ध्यान आकृष्ट कर लेती है। सर्वत्र अवक्लेशसाध्यता अलंकारों में देखी जाती है।

निचुलवनमतीत्य वर्ततेऽयं पुरत इमामयमब्जिनीमुपेतः ।

नवजलधरशङ्खयेव शङ्के तरुणतमालवनादितो निवृत्तः ॥ (३।३३)

वन में जब हंस चल रहा है, तब रमांगद राजा से कहता है—‘यह हंस चेतस वन को पार करके सामने वाली कमलिनी के पास पहुँच गया है, मैं सोचता हूँ, इसने नयी तमालवीथि को इसलिये छोड़ दिया कि मानो वह नवजलधरमाला हो।’ यहाँ पर तमालवीथि को नवजलधरमाला समझकर हंस का उधर से भाग जाना स्वाभाविक ही है। क्योंकि वर्षा में हंस मानसरोवर चले जाते हैं। यह स्वाभाविकता केवल उत्प्रेक्षा के द्वारा ही यहाँ पर आई है। परन्तु इसके लिये कवि को पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ा, और न क्लिष्ट कल्पना ही हुई। दूसरी बात, यहाँ पर तरुणतमाल को नवजलधर समझने में भ्रान्ति भी है। पर वह उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत उस प्रकार समा गई है कि उसका पता विलम्ब से चलता है। यह उत्प्रेक्षा की अक्लिष्टसाध्यता का ही फल है, जिसने भ्रान्ति के सौन्दर्य की भी रक्षा की और स्वयं के महत्त्व को भी बढ़ा दिया।

अमूनि पुष्पाणि महीरुहाणाम् आमान्ति लोनममरोदराणि ।
विद्याधरीभिन्नमदर्शनार्थम् उच्चानितानीव विलोचनानि ॥

(१४/३५)

यहाँ पर विकसित सप्रमर पुष्पों में जो विशाल नेत्रों की उत्प्रेक्षा की गई है, वह भी सरल, स्वामाविक रूप से की गई है ।

सत्पुष्करोत्तोत्तरङ्गशोमिन्यमन्दमारव्यमृदगवाद्ये ।

उद्यानवापीपयसीव यस्याम् एषीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते ॥ (१५/४)

मृगलोचनाएँ नाट्यगृहों में मानो उसी भाँति रमण कर रही हैं, जैसे उद्यानवापीपय में—इतना कहकर उपमान-उपमेय के धर्मों की कल्पना साधारण रूप पर स्वामाविक ढंग से की गई है ।

उपयुक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त ने अपने काव्य में अक्लिष्टसाध्य अलंकार-योजना की है । इस प्रकार क उदाहरणों से यह प्रथम पड़ा है । तीसरी विशेषता इसकी अलंकार-योजना की नाति निर्वहणैयिता है । इस कवि ने स्वतन्त्र होकर नातिनिर्वहणैयिता का पूर्ण ध्यान रखा है, जिसके कारण इस काव्य में अलंकारयोजना उत्तम कोटि की हो गई है और रसपोषक रूप में उसकी उत्कर्षकता बढ गई है ।

मनोदरी कामिजनस्य यस्या नीरम्भनिर्यन्मृगतामिगन्धे ।

सचन्दनै काञ्चनकेलिरौले कुचैरिवोद्यानभुवो विभ्रान्ति ॥

(१५/१)

इस छन्द के प्रारम्भ में उत्प्रेक्षा के आधार पर उज्जयिनी की उद्यान-भूमियों का सौन्दर्य-वर्णन और धित्ताकर्षकता दिव्याई गई है, और फिर उसकी पुष्टि के लिये उपमा का आश्रय लिया गया है । क्योंकि उन्नत पयोधरों का वन करके ही उन्नत काटि क शैलों के साथ सम्बन्ध बैठ सकता था और 'सचन्दनै' कहकर सद्रूपता का निर्वाह भी किया गया है । यदि यहाँ पर आदि से अन्त तक उत्प्रेक्षा का ही निर्वाह किया होता तो उपमा द्वारा जो विशिष्ट सौन्दर्य मलक रहा है और उससे जो चमत्कार आया है, वह न आने पाता ।

वोश्चन्दनानोकहमाप्य यस्य समुत्ससत्साद्रयरा प्रमूना ।

गताविट्टि सखीलनेन निबद्धमूला परमारलक्ष्मी ॥ (१७/७)

इस स्थान पर रूपक और उपमा दो अलंकार हैं । यश प्रसूता में रूपक है, निबद्धमूला सखीलनेव में उपमा है, और दोश्चन्दनानोकह में भी रूपक है । किन्तु यहाँ पर जोर लक्ष्मी और सखीलता की बद्धमूलता पर ही

देना था, अतः रूपक की अपेक्षा उपमा पर विशेष ध्यान दिया गया । यदि यहाँ पर रूपक का चमत्कार प्रदर्शित कराया गया होता तो उसके चमत्कार में हम परमारलक्ष्मी को भूल जाते और कवि के उद्देश्य की सफल सिद्धि न हो पाती, पर वह अलंकारों की नातिनिर्वहणैषिता के ही निर्वोह का फल है, जिसके कारण स्वाभिप्राय की अभिव्यक्ति में कवि को सफलता मिली है । नातिनिर्वहणैषिता के सिद्धांत का भी इस काव्य में पालन हुआ है, जो पद्मगुप्त की चातुरी का द्योतक है । अपनी इस चातुरी का परिचय कवि ने ग्रन्थारम्भ में ही दिया है :

अव्यान् स वो यस्य निसर्गवक्रः स्पृशत्यधिष्यस्मरचापलीलाम् ।

जटापिनद्धोरगराजरत्नमरीचिलीढोभयकोटिरिन्दुः ॥ (१११)

यहाँ पर उरगराजरत्न में अनुप्रास की छटा देखने को मिलती है, जिसे देखने पर यह आभास होता है कि आगे भी कुछ इसी प्रकार की रचना होगी, पर सहसा इस धारणा को हम बदलते पाते हैं । मरीचिलीढोभयकोटि कहकर कवि ने अनुप्रासात्मकता को त्याग दिया । विषय की बलवती धारणा के कारण ऐसा हुआ ।

स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवन्तीपतिः ।

श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ॥ (२१८)

यहाँ पर भी दो अलंकार—उपमा और श्लेष हैं । इनमें से यदि एक पर ही ध्यान रहता या एक का त्याग कर दिया गया होता तो अभिप्राय-कथन का उद्देश्य पूर्ण न हो पाता । चित्रवर्णविच्छित्तिहारी बाण और मयूर कवि तथा बाण और मोर में श्लेष करना था तो फिर जब तक राजा को श्रीहर्ष के समान प्रतिपादित न किया जाता, तब तक अर्थ की स्फुटता न हो पाती और बाण-मयूर की भाँति बाण-मयूर का संगठन किया गया है, यह बात स्पष्ट ही न हो पाती । अतः श्लेषार्थ की सुन्दरता के लिए उपमा का आश्रय लिया गया है, जिसके ग्रहण से भाव में उत्कर्ष आ गया है, और वह सर्ववोधगम्य हो गया है ।

“उस राजा ने चित्रवर्णविच्छित्तिहारी, बाणपक्ष में अचूक होने वाली और प्राणहरण में समर्थ, मयूरपक्ष में रंग-विरंगे पक्षों वाले और मनोहर—बाण और मोर का ऐसा सुन्दर अद्भुत संयोग उपस्थित कर डाला, जैसा कि श्रीहर्षवर्द्धन ने चित्रवर्णविच्छित्तिहारी—हारी अर्थात् वर्ण-सौन्दर्य से पूर्ण रसकाव्यनिर्माता महाकवि बाण और मयूर (कवि) का अपनी सभा में संयोग उपस्थित किया था ।” यह अर्थ उपमा के दल पर ही निकलता है ।

यह है कवि की नातिनिर्वहणैषिता ।

जिन तीन विशेषताओं के सम्बन्ध में हमने अब तक चर्चा की, वे केवल उपमेया में दिखाई गई हैं। अब उपमादि में भी उनका औचित्य देखिये।

यद्यपि लोग सपमा कालिदासस्य कहते हैं और बात ठीक भी है, तथापि परिमलपद्मगुप्त की उपमाएँ भी औचित्य की विविध दृष्टियों से देखी जा सकती हैं।

रूपमान्वाद्यामास तस्यालेख्यगतस्य सा ।

भ्रमरीवारविन्दस्य मुघासहचरं मधु ॥ (६।३४)

चित्रलिखित उस राजा की रूपमुघा का पान वह शशिप्रभा उसी भाँति करने लगी, जैसे भ्रमरी कमल के अमृतोपम मधु का पान करती है।

भ्रमरी का मधुप्रीय होना प्रसिद्ध ही है और उसी के साथ शशिप्रभा को भी उपमित किया गया है। शशिप्रभा को भ्रमरी और रूपमुघा को मधु कहकर कवि ने उपमान और उपमेय में एक आकर्षण उत्पन्न कर दिया। इस आकर्षण के द्वारा पूर्वानुराग की पुष्टि की गई है। औचित्यविधान का यह पल है। रसानुपमा का त्याग कहीं नहीं होने पाया है।

अरालक्षेशीयमनेन भाति ते

शरेण कार्तस्थरपुद्गरोभिना ।

निसर्गगौरेण नरेन्द्रहिमना

सकञ्जला दीपशिखेः शार्धरी ॥ (७।६)

इस श्लोक में अरालक्षेशी के साथ सकञ्जला और इयम् के साथ शार्धरी दीपशिखा का औचित्य सौ-दर्यातिशय को व्यक्तित्व करके दीपशिखा की उद्योगिता और शशिप्रभा के व्यक्तित्व का आभास दिलाकर अनुराग की पुष्टि में सहायक हो रहा है। “निसर्गगौरेण” में वास्तविक नैसर्गिकता देखने को मिलती है।

यथा शिखेः दीपस्य मुग्धा दग्धदशाग्रया ।

स्मरानिलपरामर्शादितश्चेतस्य वेपते ॥ (१६।३७)

कामवासु ने चञ्जला शशिप्रभा का जलती हुई बर्तिका वाली दीपशिखा के चाञ्चल्य के साथ साम्य अधिक चित्राकर्षक हो गया है। दोनों की दशाओं की अभिव्यञ्जना औचित्य के द्वारा ही हो सकती है। यह उदाहरण लोकानुभूति के आधार पर दिया गया है, जिसमें स्वाभाविकता का पुट विद्यमान है।

कारितासनपरिमहे पुरो भूपतामपचिर्वि विनाय सा ।

आस्त मौक्तिकशिखामले तवश्चेतसीव मुकुटे सरस्वती ॥ (८।७६)

और

सा पुरातनपथेन पावनी सोमसूतिरपि निम्नगाऽवहत् ।

स्वादुनिर्मलरसोमिनिर्भरा भारतीव मसृणं महाकवेः ॥ (८१४)

इन स्थलों पर समस्त रूप से उपमा का जो औचित्य एवं निर्वाह है, वह कवि की अलंकार-योजना का उत्कृष्ट परिचायक है। यह महाकवि की मसृण भारती का ही प्रसाद है।

ततः स चेतस्यवनीपतेर्दधे

शशिप्रभालोकमहोत्सवस्पृहाम् ।

उपोढरागामुदधिस्तटोदरे

नवोद्गतां विद्रुमकन्दलीमिव ॥ (४११)

इत्यादि स्थलों पर भी उपमा का सहजात सौन्दर्य उसके औचित्य के सन्निवेश के कारण ही उत्तम वर्णित किया गया है। इस प्रकार की उपमाओं के लिये कवि को पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ा। क्योंकि अपनी नैसर्गिक सौन्दर्यानुभूति के बल पर ही कवि अक्लेशसाध्यता के रूप में उपमा के प्रभाव की अभिव्यक्ति के द्वारा वस्तुसौन्दर्य का प्रतिपादन कर सका है। १३० ऐसी उपमायें नवसाहसाल्पचरित में हैं, जो अलंकार-योजना की दृष्टि से औचित्यसमन्वित हैं।

इसी भाँति रूपक अलंकार की योजना में भी औचित्य, अक्लेशसाध्यता और नातिनिर्वहण्यता का समावेश युक्तियुक्त विदित होता है। “रूपकादिः समीक्ष्य विनिवेशितः” की बात पूर्ण रूप से घटित हो जाती है।

तदीयमुद्गमरसोमिनिर्भरम्

स राजहंसोऽपि विवेश मानसम् ।

कृतप्रवेशश्च सलीलमच्छिनन्

मनाऽमृणालीमिव धीरतामतः ॥ (७४२)

यहाँ रूपक अलंकार है। इस अलंकार की स्वाभाविकता प्रयास-निर्मित नहीं है। मनरुपी मानस में नृपरुपी हंस ने प्रवेश करके धैर्यरुपी मृणालिनी की तोड़ना प्रारम्भ किया। इस रूपक के द्वारा शशिप्रभा का राजा के प्रति मिलनोत्कण्ठा की तीव्रता और काम की प्रचलावस्था का व्योतन होता है।

उत्पद्मणा निरुपमोत्तलसितप्रमोद-

विस्तारलङ्घितविलाससरोरुद्धेण ।

साद्रस्मरव्यरपिपासितया तयापि

दूरादपायि नयनाञ्जलिना नरेन्द्र ॥ (१८।३८)

यह रूपक अलंकार हृदयस्पर्शी बन गया है। इसमें आसक्ति का भाव जिस स्वामाविक रूप में चित्रित हुआ है, वह अतिचानुरी और सहृदयता का फल है।

रूपक की समुचित योजना के द्वारा ही शशिप्रभा के अनुराग की उत्कण्ठता की अभिव्यक्ति की गई है।

रूपक और उपमा का सुन्दर समावेश कराने में भी पद्मगुप्त पर्याप्त मात्रा में सफल रहा है।

एषा शिखरे दीपस्य मुग्धा दग्धदशाग्रया ।

स्मरानिलपरामर्शादितश्चेतश्च वेपथे ॥ (१९।३७)

दग्धवर्तिका वाली दीपशिला के प्रक्रमन से धाररूपी अनिल के झोंकों पर ही इधर-उधर काँपती हुई शशिप्रभा का साम्य रूपक और उपमा की अन्वेषसाध्यता एवं नातिनिर्वहणैयिता के फल पर ही हुआ है। प्रयासजन्य भाव यदि यहाँ पर होता तो आलंकारिक चमत्कार तो आ जाता, परन्तु जीवन की व्यावहारिक अनुभूति के चमत्कार का निर्वाह न हो पाता। अतः कवि ने अलंकार योजना में सूक्ष्म चानुरी का परिचय देकर अपने अलंकारशास्त्रीय ज्ञान को भी व्यक्त कर दिया।

इन सत्र बातों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विभिन्न अलंकार इस काव्य में हैं। उनमें से कुछ कथानक को रोचकतामानक के लिये भी हैं। कहीं-कहीं पर उनकी योजनायें श्रुतिपूर्ण भी विदित होती हैं, फिर भी

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमग्नतीन्ने किरणेष्विषाह्ण ।

के अनुसार वह अपने अस्तित्व को गुणों में ही छीन कर लेती हैं। श्लेष, दीपक, सदेह, अनुप्रास, अर्थान्तर-यास आदि अलंकारों की योजना भी नवसाहस्राक्ष-चरित में है।

दुर्गेति सर्वत्र गता प्रसिद्धि नगेन्द्रकन्येव सनीलकण्ठा ।

या लग्नकाञ्चीप्रियेण कान्ति सिंहासनेनावितरा प्रियति ॥

(१।४३)

उज्जयिनी नगरी पार्वती की भाँति सनीलकण्ठा है, (पार्वती पद में शिव और नगरी पद में नीलकण्ठ पक्षी) और सिंहासन (दुर्गा पद में सिंह रूपी

आसन और नगरी पद्म में राजप्रासाद स्थित सिंहासन) से सुशोभित है । यह दुर्गा के समान है (दुर्गा अर्थात् पार्वती अथवा शत्रुओं से अगम्य, नगरी पद्म में दुर्गा अर्थात् किलो वाली और अगम्य) । दुर्गा नगेन्द्र (हिमालय) से उत्पन्न है, तो यह भी नगों (इन्द्रनीलादि मणियों) के द्वारा निर्मित की गई है ।

यहाँ श्लेषालंकार है, जो उपमा की भित्ति पर ही निर्मित है । पर यहाँ अर्थदुर्बोधता आ गई है । सम्भवतः इसी अर्थदुर्बोधता एवं रसानुभूति में बाधा को दृष्टि में रखकर ही इसका क्वाचित्क प्रयोग किया है, और वह भी बाह्य चित्रण में । इससे यह भी विदित होता है कि कवि रसनिर्भर है, और जागरूक भी । रसपरतन्त्र होने के कारण ही वह अलंकार की प्रमादजन्य योजना से बच गया है ।

गुणोत्कर्ष की अभिव्यक्ति के लिये कहीं-कहीं पर दीपकालंकार को भी लिया गया है । उसमें भी स्वाभाविक सरसता के दर्शन होते हैं ।

चित्तं प्रसादश्च मनस्विता च भुजं प्रतापश्च वसुन्धरा च ।

अध्यासते यस्य मुखारविन्दं द्वे एव सत्यं च सरस्वतो च (११६४)

तथा

प्रसाधिता येन च बाल्य एव चतुर्भिस्तसाहवता चतस्रः ।

श्रुतेन बुद्धिः प्रभुता नयेन त्यागेन लक्ष्मीर्वसुधा बलेन ॥ (११६६)

विरोधाभास का भी उत्तम निदर्शन हमें मिलता है :

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥ (११६२)

इस श्लोक को काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने भी उदाहरण के रूप में लिया है । इसीसे इसकी विशिष्टता स्पष्ट है ।

अर्थान्तरन्यास में भी व्यर्थ की तोड़मरोड़ नहीं की गई है । वह भी स्वाभाविक गति से आया है । पद्मगुप्त के व्यक्तित्व में इतनी सरलता और सरसता थी, जिसके कारण वह अपने काव्य को भी इस प्रकार सरल और सरस बना सका ।

“चकार च पदं चित्रः स मृगस्तस्य चेतसि ।”

“लग्नं हि किमपि क्वापि कृच्छ्रादाकृष्यते मनः”

“हरति न कं नववस्तुसम्प्रयोगः ।”

“विलङ्घयत्यलङ्घ्यानि स्मरदुर्ललितानि कः ॥”

इस प्रकार की योजना से विषयवर्णन के औचित्य में पूर्ण सहायता मिली है ।

जिन अलंकारों की उपयोगिता शैली की विशेषता में है, उनके विषय में शैली वाले प्रकरण में कहा गया है ।

इस समस्त अलंकार-योजना के विवेचन से अन्त में यह धारणा उत्पत्ती हो जाती है कि कवि पर कालिदास की अलंकार योजना का प्रभाव अवश्य पड़ा है । कालिदास का नाम तो कवि ने अनेक स्थलों पर अति आदर के साथ लिया है ।

प्रसादद्वयालंकारैस्तेन भूर्तिरभूष्यत ।

अत्युच्चस्तम्भीन्द्रेण कालिदासेन यागिव ॥

कालिदास^१ के शाकुन्तल को भी कवि भूला न होगा । यह कहने में भी इसलिये सकोच नहीं होता कि यह कवि भी कालिदास की ही भाँति अपने कार्य में सफल रहा । निष्कर्ष रूप में पद्मगुप्त की अलंकार-योजना के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त की अलंकार-योजना प्रसादपूर्ण, लालित्ययुक्त, परिष्कृत है । उसकी सफलता औचित्य, अक्लेश साध्यता और नातिनिर्दोषोपिता की सफल योजना पर ही निर्भर रही है । यह कवि की सूक्ष्म बुद्धि का ही परिचय है ।

नगसाहसाङ्कचरित का प्रकृति-चित्रण

सौन्दर्य की अनुभूति जितनी अधिक कविहृदय करता है उतनी और कौह नहीं ! क्योंकि उसमें कलात्मक दृष्टि होती है । सौन्दर्य जब कवि की अनुभूति का विषय हो जाता है, तो वह स्वातन्त्र्य का रूप धारण करके व्योक्तेविध हो जाता है और ऐसी स्थिति में जब कवि प्रकृति सौन्दर्य की अनुभूति कर लेता है, तब वह उसके जीवन के साथ घुल मिल सी जाती है । प्रकृति में ही मानव हुआ है, पला है और वही उसकी मीठा स्थली रही है । प्रकृति के साथ उसके सम्बन्ध में सकार सन्द होते हैं । इन्हीं सकारों से कवि प्रकृति के सौन्दर्य को देख कर मुग्ध हो उठता है । उसकी सवेदनशील चेतना प्रकृति के कोने कोने में झाँकने लगती है । वनस्पति और पशुपक्षी जगत्—सभी में उसे सौन्दर्य के दर्शन होते हैं । ऐसी स्थिति में कभी कभी तो कवि अपने काव्य के पात्रों के साथ सौन्दर्यानुभूति करने लगता है और कभी कभी प्राकृतिक सौन्दर्य की भावना उसके वस्तुचित्र और भाव चित्र को मनोहारी बना देती है ।

१ स्थिरा मव नृपेण त्वमिह सयोगमाप्स्यसि ।

यथा कल्प्याग्रमे पूर्वं दुष्यतेन शकुन्तला ॥ (६।६४)

संस्कृत साहित्य के प्रकृति-चित्रण की परम्परा ने प्रकृति-सौन्दर्य की विमुग्ध भावना को सदैव ही मान्यता दी है। वाल्मीकिरामायण के प्रकृति-चित्रण में हम एक विचित्र प्रकृतिगत सौन्दर्य पाते हैं। वहाँ प्रकृति मानवसम्पदा बनकर ही अपना प्रभाव नहीं डालती, अपितु उसके निरपेक्ष सुन्दर रूप भी हमारे चित्त पर प्रभाव डालते हैं। महाभारत में भी इसका अभाव नहीं है।

कालिदास तो प्रकृति के पुजारी ही कहे जाते हैं। उनके सजीव एवं विशद प्रकृति-वर्णन के दृश्य चालुप प्रत्यक्ष के प्रतीक हैं। रूपयोजनात्मक प्रकृति-चित्रण में कालिदास तो सिद्धहस्त थे ही, परन्तु जब हम परिमल पद्मगुप्त की कृति नवसाहसाल्क्षरित के प्रकृति-चित्रण पर विचार करने लगते हैं तो प्रतीत होता है कि इस कवि के प्रकृतिचित्रण में सौन्दर्यानुभूति की भावना, वर्य विषयों में नवीनता, सहृदयता तथा सूक्ष्म निरीक्षण का पूर्ण सामञ्जस्य है। पर जिस भाँति कविवर भवभूति ने प्रकृति के मनोरम और भीम दोनों पक्षों को देखा, उस भाँति पद्मगुप्त ने नहीं देखा। उसने प्रकृति के भव्य मनोरम और मधुर रूप को ही देखा और उसी की अभिव्यञ्जना अपने काव्य में की, जिससे प्रकृति के प्रति उसके गाढानुराग का परिचय मिलता है। प्रकृति के दृश्यरूप उद्दीपन के रूप में अधिक लिये गये हैं। कालिदास की भाँति इस कवि ने भी प्रकृति में मानवीय प्रेम का समुचित सन्बन्ध स्थापित किया है। वहाँ कहीं भी प्रकृति का मनोज्ञ चित्रण हुआ है, वहाँ उसमें सजीवता आई है और मार्मिकता भी। मानव और प्रकृति के बीच सामञ्जस्य स्थापित करना प्रकृति-चित्रण की एक विशेषता होती है, जिसे पद्मगुप्त ने पूर्ण रूप से निभाया है। शिप्रा के तटवर्ती उद्यान-लतागृहों के वर्णन के अवसर पर कवि का एक मनोरम चित्रण देखिये :

यस्यां विसूत्रोष्णितमेखलानि तथा शुकावतिंसीत्कृतानि ।

शंसन्ति संकेतमुपःसु यूनां शिप्रातटोद्यानलतागृहाणि ॥ (१।५०)

मनोहरैः कामिजनस्य यस्यां नीरन्ध्रनिर्यन्मृगनाभिगन्धैः ।

सचन्दनैः काञ्चनकेलिशैलैः कुचैरिवोद्यानभुवो विभान्ति ॥ (१।५१)

यहाँ पर प्रकृति का और मानवीय स्थितियों का समान चित्रण किया गया है। रूपचित्रण के साथ भावचित्रण के लिए आलंकारिक योजना की सहायता ली गई है। इसीलिए मानवीय रूप में प्रकृति-सौन्दर्य की कल्पना चित्ताकर्षक हो गई है। इस प्रकार के चित्रण आदर्शत्मक होते हैं। काव्य-कल्पना में प्रकृति-सौन्दर्य की उद्भावना सजीव चित्रण द्वारा ही की जा सकती है। उद्यान-भूमियों के कैलिशैलों को कुचरूप में कल्पित करके वर्णित करना मानवीय जीवन का प्रकृति के साथ सामञ्जस्य दिखाना ही है। इसी प्रकार की प्रेरणा

स्वर्ग में नन्दन वन की कल्पना करना है, क्योंकि वहाँ भी आदर्शमय प्रकृति-सौन्दर्य की कल्पना है, जिसको कवियों ने परम्परा से अपनी कृतियों में स्थान दिया है, और सम्भवतः यही भावना उत्तरोत्तर प्रकृति चित्रण में काम करती रही है। पद्मगुप्त ने भी इसी प्रकार प्रकृति के एक आदर्शमय सौन्दर्य का हृदयगम चित्रण किया है, जिसमें रूप, रंग, आकारों का पृथक् अस्तित्व भी चित्रित किया गया है और कभी कभी सब को समष्टि का रूप देकर उसमें एकरूपता भी दिखलाई गई है।

अकारांशुग्लपितैरेमिरतोऽप्यालिप्सितैरिव ।

राजजम्बूनिहुज्जेषु पश्य पु स्कोकिलैः स्थितम् ॥ (२६१)

अपि स्वच्छजला देव कलहसाङ्कुसैवता ।

बराहोत्प्लातमृत्स्नेयं पुर पुष्करिणी तन ॥ (२६२)

इस स्थल पर एक चित्र तो जम्बु निहुज्जों में धूप के कारण धरा धर बैठने वाले कोकिलों का है और दूसरा स्वच्छ जलवाली, इसी से युक्त और सभरी से जिसके तटों को छोड़ा गया है इसलिये जिसकी कोमल मिट्टी इधर-उधर फैली है ऐसी पुष्करिणी का दृश्य है। यहाँ पर दोनों दृश्यों में रूपगत, रंगगत और आकारगत सौन्दर्य तो है, पर उसका अपना पृथक् पृथक् ही महत्त्व है। क्योंकि यह दोनों चित्र सूक्ष्म दृष्टि से देखे गए हैं और उनके प्रभाव का पृथक् चित्रण किया गया है। परन्तु जहाँ पर सौन्दर्य की समष्टि का चित्रण है, वहाँ पर कुछ विचित्र ही बात दृष्टिगोचर होती है।

आसा लतामस्त्यकोत्थितानि शिप्यदरत्नद्युतिचुम्बितानि ।

पश्योपरिष्ठादल्लिमण्डलानि नीलावपत्रभ्रममारभन्ते ॥ (१४४०)

यहाँ पर रूप, रंग और आकार चित्रण की समष्टि से प्रकृतिक सौन्दर्य की एक अद्भुत : : देखने की मिलती है। चित्रण की यह कलात्मकता पद्मगुप्त के प्रकृति चित्रण में सर्वत्र पाई जाती है।

अमूनि पुष्पाणि महीरुहाणाम् आभान्ति लीनभ्रमरोदराणि ।

विद्याधरीविभ्रमदर्शनार्थम् उत्तानितानीव विलोचनानि ॥ (१४३५)

मन्दानिलान्दोलितपल्लवाग्रा समग्रपुष्पाहरणोद्यम्य ।

इतो लताः पाथिर सरभत्ते लावण्यमादातुमिवागनाभ्य ॥ (१४३४)

भ्रमरों को अपने आदर समायें हुए पुष्पों में वृक्षों के तनों की कल्पना एक नवीन उत्प्रेक्षागत उद्भावना है। यहाँ मानवीय रूप देकर पुष्पों और उनमें लीन भ्रमरों की नैसर्गिक सौन्दर्य के कारण वृक्षों की मनोहरता का द्योतक बना दिया गया है। इसी भाँति मन्द अनिल से आन्दोलित पल्लवाग्र-मल्लताओं को लावण्य का आदान करने वाली बताकर उनमें मानवीय

सजीव सौन्दर्य को अति सूक्ष्म दृष्टि से चित्रित किया गया है। इससे कवि के प्रकृतिसौन्दर्य-निरीक्षण के सहजात अनुराग एवं सूक्ष्म निरीक्षण का आभास मिल जाता है।

जिस भाँति कालिदास ने अपने मेघदूत में यक्ष की प्रियतमा के अंगों का साम्य प्रकृति के अंगों में देखा है और जिस भाँति विक्रमोर्वशी में 'श्यामास्वंगम् चकितहरिणीप्रेक्षणं दृष्टिपातम्' में उसे एक भी साम्य नहीं मिला, तथापि यह प्रकृति और मानव के सौन्दर्यसाम्य की कल्पना करता रहता है, उसी भाँति पद्मगुप्त भी प्रकृति के अंगों और मानवीय अंगोपांगों का साम्य करके एक ऐसी संतुलित रेखा खींच देता है, जो दोनों के समानानुभूति के छोरों को मिला देती है।

वलितं न विभाति पृष्ठतः कवरोकान्तमिदं तवाननम् ।

अयि नीलपयोदलेखया सपरिष्वङ्गमिवेन्दुमण्डलम् ॥ (१२।१६)

यहाँ पर अर्धश्लोक में मानवीय और आधे में प्रकृति के सौन्दर्य की उपस्थापना की गई है। यह उपमानों की विशिष्ट योजना का फल है, जिसके कारण प्रकृति मानव-सापेक्ष रूप में हमारे सामने व्यक्त होती है। इस प्रकार के चित्रण में सौन्दर्यभाव की जायति की उत्तमता निहित रहती है। पद्मगुप्त ने ११, १२ और १४वें सर्ग में इसी प्रकार का वर्णन विशेष रूप से किया है, जिससे यह कहा जा सकता है कि प्रकृति-चित्रण की संश्लिष्टता पद्मगुप्त के काव्य में विशेष रूप से पाई जाती है।

सूर्यास्त के समय के सौन्दर्य का जो वर्णन इस कवि ने किया है, वह नितान्त चित्ताकर्षक है। इस वर्णन में कोमल भावों की अभिव्यक्ति सौन्दर्यानुभूति के साथ हुई है। प्रत्येक वस्तु सजीव होकर अपने सौन्दर्य-प्रभाव को हृदय पर डालती सी प्रतीत होती है।

चलितोऽसि वद क मां विना विरहं सोढुमहं न ते क्षमा ।

कृतपङ्कजकुड्मलाञ्जलिर्नलिनी कान्तमितीव याचते ॥ (१२।३२)

यहाँ पर कृतपङ्कजकुड्मलाञ्जलिः और याचते पर ध्यान जाता है। दीनता एवं विरहवेदना का कितना असह्य वातावरण सामने आ जाता है, जिसमें कवि ने विवशता का द्योतन अति चातुर्य के साथ किया है।

परिचुम्बति वारुणीं दिशं पुरतो रागहृते विवस्वति ।

दिगिचं शतमन्युलाञ्छिता भवति श्याममुखी मितोदरी ॥ (१२।२६)

अनुपुञ्जितपिङ्गदीधितिद्रुतलाक्षारुणदर्पणोपमम् ।

परतोऽस्तगिरेरिदं गलत्यनवद्यान्नि पतद्गमण्डलम् ॥ (१२।३३)

इन श्लोको में संध्याकाल का दृश्य बड़े ही मनोहर दृश्य से उपस्थित किया गया है। संध्या के गमन और रात्रि के आगमन के समस्त दृश्य को जिस चित्रोपम शैली में वर्णित किया गया है, उससे भी उपमान की सुंदर उद्भावना का ही परिचय मिलता है।

क्षणधामिमुत्प्रेत खण्डिता ननु संध्या तमसा मनस्विनी ।

धुपितेषु निघर्तते जवान् अतिवाचालविहंगनूपुरम् ॥ (१२।३७)

रात्रि के साथ अभिसार करने के लिए जब तम चला तो संध्यासुन्दरी खण्डिता नायिका सी बड़ी तेजी से वाचाल विहंगनाद रूपी नूपुर भ्रमकाती हुई चली गई।

स्वामाविक बात है कि रात्रि के आने पर अन्वकार का प्रसरण होने लगता है और संध्या शीघ्र ही अदृश्य हो जाती है। संध्या की अदृश्यता के समय अपने नीहों पर बसेरा करने वाले विहंगों के कोलाहल का होना भी नैसर्गिक ही है और रात्रि में कोलाहल का शान्त होना भी स्वामाविक है। इस बात को पद्मगुप्त ने कितने सजीव दृग से चित्रित किया है। खण्डिता नायिका का समस्त सौन्दर्य, उसकी क्रोध की मुद्रा, नूपुर भ्रमकाकर गुम्फे में चला जाना—सभी कुछ आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। “नूपुरम्” इस शब्द से जो ध्वनि निकलती है, उससे ही घारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है, और संध्या का दृश्य प्रत्यक्ष रूप से आँखों के सामने घूमने लगता है। एक दो नहीं, इस प्रकार के चित्र इस काव्य में बहुत हैं, जिनको देख कर यह धारणा पल्वती हो जाती है कि इस कवि पर कालिदास का पूर्ण प्रभाव पड़ा है और कालिदास की भाँति ही पद्मगुप्त ने भी प्रकृति को सूक्ष्म, चेतनाहीन एवं निष्प्राण नहीं समझा, अपितु मानव जगत की ही भाँति संवेदनशीलता का आभास कवि को सदा और सर्वत्र मिलता रहा है। मनुष्य और प्रकृति का ऐसा तादात्म्य कवि की सौन्दर्यप्रियता का परिचायक बन जाता है और प्रभावोत्पादक भी।

विगलन्तिमिराशुके शनैः स्फुरति व्यक्तिमघीरतारके ।

इह पश्य निशावधूमुखे स्फुरति श्वेतमरीचिकुण्डलम् ॥ (१२।५३)

यहाँ पर भी चित्रण की सफलता और रात्रि के सौन्दर्य का चक्षुः निरीक्षण आभासित हो जाता है।

इस कवि ने प्रकृतिसौन्दर्य को तमाराश्वीन के रूप में नहीं देखा है, अपितु अपने हृदय के गाढानुराग के कारण और स्निग्धता के कारण प्रकृति के नाना रूपों में सौन्दर्य को देखा है।

इदमञ्जननीलमादृत विह्विताशु तुहिनाशुना करै ।

अचलेन्द्रगुहासु लीयते शनैः सकुचितं पुनस्तम ॥ (१२।५४)

जब चन्द्रकिरणों का विस्तार हुआ तो तम संकुचित होकर धीरे-धीरे हिमालय की गुफाओं में जाकर छिप गया। यहाँ पर तम का गुहाश्रयी होना और उसकी अनुभूति करना प्रकृत्यंग के सूक्ष्म निरीक्षण का ही प्रतिफल है।

तिमिराञ्जनभक्तिशोभिना धवलेनायतपद्मपङ्क्तिना ।

अमुना भवतीव चक्षुषा कुमुदेनेति रुचं कुमुद्वती ॥ (१२।४४)

तिमिराञ्जन के धवलिमा के साथ मिश्रित होने की अनुभूति कवित् प्रभा चान्द्रमसी तमोभिः की याद दिला देती है, और इसी प्रकार 'श्यामश्वेत' के मिश्रित रूप का चित्रण पद्मगुप्त ने यहाँ पर भी किया है :

शवलं शशलाञ्जनत्विषा सतमः पश्य महेन्द्रदिङ्मुखम् ।

अचलेन्द्रसुतास्मितच्छविच्छुरितं कण्ठमुभापतेरिव ॥ (१२।४५)

चन्द्रमा की कान्ति से मिश्रित तम उसी भाँति दिखाई दे रहा है, जैसे उमा की हँसी से युक्त नीलकण्ठ का कण्ठ। अपनी प्रतिभा के बल से कवि ने यहाँ पर भी वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा प्रकृति की परिस्थितियों को मानव-सादृश्य की स्मृति के रूप में चित्रित कर दिया है। चित्रण की यह उपमानजन्य सफलता पद्मगुप्त की चित्रणशैली का सौन्दर्यमय पक्ष है।

यहाँ पद्मगुप्त प्रकृति के मधुर और शान्त रूप को देख कर अधिक मुग्ध हुआ है, वहाँ उसके रूपचित्रण की शैली भी कुछ अन्य ही हो गई है। पद्मगुप्त ने भावप्रवणता के कारण प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति से विमुग्ध होकर उसके उन्मुक्त सौन्दर्य को भलीभाँति देखा है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस वर्णन में कवि की और कवि के नायक की मनःस्थिति का रूप भी मिलता हुआ दिखाई देता है।

अयमिन्दुमुखि त्वया यथा समुपैति स्पृहणीयतां जनः ।

अनयं समागतस्तथा निशया पश्य कुरङ्गलाञ्जनः । (१२।६१)

मरुता सुहृदेव बीजितं कुमुदामोदमुचा शनैरितिः ।

स्वपिति प्रणवार्द्रयोरिदं मिथुनं मानिनि राजहंसयोः ॥ (१२।६४)

इस स्थल पर भावनाओं का चित्रण मानवप्रकृति का प्रतीक सा हो गया है। पद्मगुप्त के इस प्रकार के वर्णन कथाविस्तार में सहायक होते हैं। हंस का दर्शन और वर्णन, मृग का दर्शन, विष्वभूमियों का सहजात सौन्दर्य, वंद्युनि के आधम के समीपवर्ती वन का और श्रुतुओं का वर्णन, सायंप्रातः का वर्णन—ये सब कथाविस्तार में उत्तरोत्तर सहायक होते गये हैं, और नायक के मनोभावों को उद्गीत करने में सहायक होते रहे हैं। इन वर्णनों में छिपे हुए उल्लास की चेतना का भाव पाया जाता है।

कभी कभी प्रकृति के एक सुन्दर चित्र को उपस्थित करने के लिये अपर दृश्य का आश्रय लेकर पद्मगुप्त ने अपने चित्रणों को अतिशौन्दर्यमय बना दिया है ।

चञ्चुमि खमितस्तव चणात् उदितैर्मङ्गरकेशि भात्यद् ।

अतिगाढदिनोष्णनममि परित स्वेदलनैरिवाङ्कितम् । (१२।४६)

तदनु त्रपया पराङ्मुखीं पुलकालङ्कितवीरस्तनीम् ।

॥ किलाञ्चितचाटुरानेयत् सुमुखीं तामनुकूलवृत्तिवाम् ॥ (१२।६८)

यह अलंकार द्वारा उपस्थापित चित्रमय योजना है, जिसमें सुन्दरता चित्ताकर्षक है । सादृश्य के आधार पर सुन्दर और रमणीय भाव की अति व्यक्ति भी सफल आलंकारिक चित्र-योजना द्वारा ही होती है । इसी साथ ही पद्मगुप्त ने सर्वत्र स्थान दिया है ।

मन स्थिति से सम्बन्ध रखने वाले प्रकृति के रूपशौन्दर्य पर पद्मगुप्त की दृष्टि गढ़ है । इसीलिए शौन्दर्याभिव्यक्ति के लिये कवि ने उपमा और उपमेता का प्रयोग मनोवैज्ञानिक दृग् से किया है । ऐसे चित्रण यद्यपि कालिदास के अतिरिक्त कुछ कुछ भारवि में भी मिलने हैं, पर बाद में माघ, भर्षवधोष, प्रवरसेन आदि में प्रकृति के सामञ्जस्यपूर्ण शौन्दर्य का समुचित चित्रण नहीं हो सका । किन्तु पद्मगुप्त के काव्य में यह सामञ्जस्यपूर्ण शौन्दर्य पूर्ण रूप से पाया जाता है । इस कवि ने परम्परा का कोरा निर्वाह नहीं किया ।

अयमभिनवकणिकारयष्टिं श्रद्धिति धनस्तवकम्पतनीमुपेति ।

अयमतिचपलौ निसर्गरत्ना स्थलनलिनीमवधीर्य देव । याव ॥

(३।३५)

यहाँ पर कणिकार और नलिनी के वर्णन में मुग्धा और मध्या नायिकाओं के शौन्दर्य विज्ञप्ति के साम्य के साथ उन पर विशेष अनुरक्ति की इच्छा का न होना सीतित किया गया है । यह प्रकृति का नारी रूप ही है, जो मानवीय मन स्थिति के साथ सामञ्जस्य रखता है । इतना होने पर भी जहाँ कहीं भी कवि ने स्वतन्त्र चित्रण किया है, वह भी अद्वितीय है । उस स्वतन्त्र चित्रण की महत्ता भी भावात्मक और रूपात्मक शौन्दर्यबोध के द्वारा कथाविस्तार को भाग बँटाने में ही है ।

तदोद्गतप्राशुवमालराजिच्छायाघनश्यामलितार्धभागा ।

मृत्विस्तुपाराचलतुल्यकान्तिरमापतिश्रीवरयोरिवैका ॥ (१४।८३)

तरङ्गभङ्गोज्ज्वलचामरश्रीरुद्धद्वेमागुसुहावपत्रा ।

पुण्या पुरो दूरत एव तेन त्रिमार्गगाऽदृश्यत पाथिवेन ॥ (१४।८५)

इन स्थलों पर गंगा का वर्णन अपना स्वतंत्र महत्त्व रखता है और कालिदास के गंगा-यमुना के चित्रण की भाँति ही इसमें भी मिश्रित सौन्दर्य का दर्शन होता है। इस प्रकार के चित्रण पद्मगुप्त ने कथानक की रोचकता बढ़ाने और उसे गतिशील बनाने के लिये ही किये हैं। सर्वत्र ऐसे चित्रणों में भावग्रहण की ओर विशेष ध्यान रखा गया है। भावाभिव्यञ्जना एवं प्रकृतिचित्रण में अपने आप ही सामञ्जस्य स्थापित हो गया है। पद्मगुप्त का ध्यान कथावस्तु की रोचकता और विस्तार पर अधिक रहा है। भिन्न-भिन्न शैलियों का आश्रय लेकर विभिन्न कवियों ने अपने अनुभवों के बल पर चित्रण किया, किन्तु कुछ कवियों ने प्रकृति का निरीक्षण गम्भीरता से किया। उनकी अनुभूति की गहराई ने उन्हें प्रकृतिचित्रण करने में इसलिये सफल बनाया कि उनका सूक्ष्म सौन्दर्य-निरीक्षण मानव में और प्रकृति में कोई भेद नहीं रखता है।

पद्मगुप्त के नवसाहसार्द्ध के प्रकृतिसम्बन्धी भाव एवं रूप-चित्रणों को देख कर यह कहा जा सकता है कि इस कवि ने प्रकृतिचित्रण में भी मध्यम मार्ग का ही आश्रय लिया है। उसने न तो रुदियों और परम्पराओं को ही अपनाया है, न पूर्ण आधुनिकता को ही प्रश्रय दिया है। दोनों का तत्त्व लेकर ही अपनी चित्रण-शैली को रोचक बनाकर प्रकृतिसौन्दर्य की अनुभूति पाठकों को कराई है। उज्जयिनी का वर्णन और नागराज को नगरी भोगवती का चित्रण बहुत ही भावपूर्ण और प्रभावोत्पादक ढंग से हुआ है। इन वर्णनों को पढ़कर कवि के प्रकृतिसौन्दर्य-निरीक्षण का पूर्ण आभास मिल जाता है। भोगवती का वर्णन तो वस्तुतः कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य से बहुत कुछ साम्य रखता है। नदी, प्रभात, वन, उद्यान, गृहाङ्गण आदि के सरस वर्णनों को पढ़ने में जो रम जाता है।

उज्जयिनी के नाट्यगृह और उद्यान-वापियों के वर्णन का एक म पुर चित्रण देखिये :

सत्पुष्करोद्द्योतिरङ्गशोभिन्यमन्दमारब्धमृदङ्गवाद्ये ।

उद्यानवापोपयसीव यस्याम् एणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते ॥ (१।५४)

यहाँ पर नाट्यगृह में होने वाली वाद्य ध्वनि और जलतरंगों द्वारा उत्थित ध्वनि का तथा प्रमदाग्रों की हाव-भावपूर्ण गति का जन्धाराओं की गति के साथ साम्य करके जो चित्र उपस्थित किया गया है, वह अपने आप में पूर्ण सफल है।

वृन्तादपास्तेर्मृता विकीर्णैः सुगन्धिभिस्तीरतरुप्रसूनैः ।

शिप्रासरिन् कूलतमालनीला विभाति यस्याः कवरीलतेव ॥ (१।४४)

पुष्पो से शोभित प्रमदा की वेणो के साथ शिप्रा का यह साम्य भी अत्यन्त मनोहारी दृग से किया गया है ।

मुक्ताट्टहास करनेवाली शिप्रा के सौन्दर्य से भी कवि कम प्रभावित नहीं हुआ है ।

गतासु तोरं तिमिरदृनेन मसभ्रमं पौरविलासिनीषु ।

यत्रोस्लसन्केनततिन्द्रेलेन मुक्ताट्टहासेन विभाति शिप्रा ॥ (१५२)

विध्याटवी का सौन्दर्य भी एक ही श्लोक में देखिए

अथ स चतुलपटपद्मोपगीतं वनगजदानमुगन्धिगन्धयाहम् ।

परिसरमभिनृतनोलङ्घं न्यविशत विध्यनगेन्द्रकन्दरस्य ॥

(१५३)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति-सौन्दर्य के विविध दृश्य मानव हृदय को विभिन्न प्रकार की उत्कण्ठाओं एवं प्रेरणाओं से उत्कृष्टित करते रहते हैं । आनन्द और बाह्य प्रकृति के घनिष्ठ सम्बन्ध की योजना करके कवि ने अपने वर्णनों को हृदयगम बना दिया है । प्रकृति चित्रण में सहायोग और सहानुभूति की भावना का चित्रण भी पद्मगुप्त के प्रकृति-चित्रण की अपनी विशेषता है । यहाँ तक कि वन लतायें भी, मानो मानव के साथ हास परिहास करती दिवाइ देती हैं ।

चतुरङ्गतकचमह स गच्छन् नवलतया परिहासलोलयेन ।

नरपतिरवश कृत स कामवियति मुरेन्दुमुदञ्जयाञ्चकार ॥ (१५४)

नमद्वनिपति पति प्रजानाम् अयि ! चपले नु निदृश्यते कचेपु ।

विरम मुहुरितीय मञ्जुमुत्तुष्वनिभिरसारलिमिलिताऽभ्यधायि ॥

(१५५)

इस प्रकार के वर्णनों में प्रकृति और मानव के हास परिहास द्वारा चित्ताकर्षकता उत्पन्न की गई है । इस भाँति हम देखते हैं कि पद्मगुप्त का प्रकृति चित्रण सरस, सुन्दर और सहानुभूतिपरक है, जिसमें प्रकृति के हृदय की सात्वता और उल्लास एवं रूपानुकृति के विशिष्ट प्रभावमय सौन्दर्य चित्र उपस्थित किये गये हैं । ये समस्त चित्र एक समष्टि रूप के कथाप्रवाह के विस्तार में सहायक होकर पाठकों के अंतःकरण में एक रागात्मकता की छाया सी छोड़ देते हैं । पद्मगुप्त का प्रकृति-व्यवेक्षण सक्षम प्रेरणापरक है । प्रकृति की रक्ष्यप्रयी सौन्दर्यानुभूति का चित्रण करने में पद्मगुप्त सफल रहा है ।

नरसाहसाङ्कचरित की शैली

शैली का कवि के व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है । शैली के

आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कालिदास का व्यक्तित्व सुकुमार प्रतीत होता है। दारणभट्ट के व्यक्तित्व में वैचित्र्य का पर्याप्त पुट है, और परिमलपद्मगुप्त में न तो एकान्त वैचित्र्य ही देखा जाता है और न नितान्त सौकुमार्य। इस कवि का व्यक्तित्व मध्यममार्गी है, जिसमें सौकुमार्य और वैचित्र्य का सम्मिश्रण हुआ है। जो व्यक्ति जैसी प्रवृत्ति का होगा, उसके बोलने और लिखने का ढंग भी उसी प्रकार का होगा। क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति कुछ क्रश और उद्वेजक बात कहेगा, पर मधुर प्रकृति का उदार व्यक्ति यदि सौन्दर्यप्रिय और अधिक भावुक होगा तो वह सरस और सुन्दर बात कहेगा और कभी-कभी भावों की गूढ़ता के लिये ऐसी बात कहेगा कि सुनते ही जिसका प्रभाव हृदय पर पड़े दिना न रहेगा। इन प्रवृत्तियों का पता माधव या लेखन की शैली पर से ही लगता है।

पद्मगुप्त की कृति के अध्ययन से हम इस तत्त्व पर पहुँचते हैं कि पद्मगुप्त की शैली सुकुमारता तथा वैचित्र्य के अनोखे सम्मिश्रण से संवलित है। कवि के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब उसकी शैली पर पूर्ण रूप से पड़ा दिखाई देता है। कलात्मक प्रतिभा पद्मगुप्त की शैली का आदर्शमय पक्ष है। भावों और अलंकारों की नवीनता उसके आन्तर और बाह्यपक्ष का सामञ्जस्य है। इसकी पुष्टि नवसाहस्राक्षरित के कतिपय उदाहरणों से हो जाती है, जिनके विवेचन से यह ज्ञात हो जाता है कि इस कवि ने अपने काव्य को विशिष्ट शैली में समलङ्कित किया है।

निवद्वभीमभृकुटिविलोकयन् दृशा तदोल्काकपिशोप्रतारया ।

स तीव्रकोपस्फुरिताधरोऽवदन् वचो ममाक्षिप्य कृतानतेरिति ॥

(१३।५४)

इस स्थल पर क्रोध की मुद्रा की सूचना है, शब्दविन्यास से ही यह बात स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। इस वर्णविन्यास में निवद्व शब्द में ध्वनि मन्द है। भीम में कुछ बढ़ी हुई है। “भृकुटिविलोकयन्” में उसकी गति और तीव्र रूप धारण कर लेती है। कपिशोप्रतारया में आगे बढ़ती हुई एवं तीव्र होती हुई कृतानतेरिति में पुनः एक सम पर आकर स्थित हो जाती है। ध्वनिक्रम की यह विशेषता वर्णविन्यास के विशेष चातुर्य का ही फल है। ठीक उसी भाँति कालिदास की “हिमालयो नाम नगाधिराजः” में भी ध्वनि का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाई देता है। जिसने नगाधिराज की ऊँचाई का बोध शीघ्र ही हो जाता है। इस प्रकार के वर्णविन्यास ने वस्तु का प्रभाव पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है।

पद्मगुप्त की शैली परिष्कृत, प्रसादन्यी एवं लालित्य आदि गुणों से युक्त है, जिसका परिचय उसके इस श्लोक से भी मिलता है :

अभिनवलिखितामिव प्रशस्ति मदनमदानृते स पार्थिवेन्द्र ।

इति निमिडकुन्दलकुन्तस्ता ललितपदामरणामराचयच्छ ॥ (३।६६)

न चिरादलङ्कृतिनिशेषनिहितरुचयोऽतिपेशला ।

लक्ष्यननवरसा शुचयः कविपुङ्गवोक्त्य इमाङ्गना वसु ॥ (१५।३७)

इन स्थलों पर “ललितपदामरणा” और “अतिपेशला”, “लक्ष्यननवरसा”, “कविपुङ्गवोक्त्य” ये शब्द ही कवि की शैली का महत्त्व घोषित करते हैं। इस प्रकार के शब्दों पर विचार करने से कवि की सुकुमार और व्यापारमय प्रशस्ति का आभास सहज रूप से ही मिल जाता है। क्योंकि किसी भी भाव का चित्रण करते समय पद्मगुप्त ने एक अनूठा ही ढंग अपनाया है, जिसमें कहीं पर सौकुमार्य और कहीं पर वैचित्र्य का पुट मिलता रहता है।

धवलाभ्रच्छ्रुरितमित्तिलिरितललिताङ्गनालिपिम् ।

अप्सु कुशलपट्टा प्रतिमा सितएनर्पणनिमासु लेभिरे ॥ (१५।७)

उद्दितासु

काञ्चिगुणमध्यमरक्तमरीचिसूत्रेषु ।

व्यक्तिमलभव न रोमलता स्मरदीपकजलशिखा मृगीदृशाम् ॥

(१५।४४)

जल्मीडा की यह जो विशेषताएँ हैं, ये सब अमि वञ्चित हो जाते हैं। मधुर और सघोष शब्दों के प्रयोग से इनमें भी ध्वनिबौन्दर्य का भ्रमना एक स्थान लक्षित होता है। जलमंथन में जिस माँति इतस्ततः परिचलन होता है, उसी तरह शब्दों में भी ध्वनि इधर उधर दौड़ती ही प्रतीत होती है।

इस तरह का सुकुमार व्यक्तित्व इस कवि की रचनाओं से व्यक्त होता हुआ शैली की उत्कृष्टता का द्योतक बन जाता है।

त्रिगलत्तिमिराशुके शनै मृशति व्यक्तिमवीरतारके ।

दृढ पश्य निशावधूमुरे स्फुरति श्वेतमरीचिकुण्डलम् ॥

चन्द्रोदय के समय के वस्तुगत चित्रण को शैली से हो यह उद्दिष्ट होता है कि इस कवि को कोमल भावनाओं का चित्र अंकित करना अधिक प्रिय रहा है। इस स्थल पर आन्तरिक स्नेह और लज्जात्मक भावना की अभिव्यञ्जना बड़ी ही विदग्धता से की गई है।

इति तद्वचस सोमि मसृणोत्कम्पितस्तनी ।

व्याजसाचीकृतमुरा निशब्दास शशिप्रभा ॥ (६।२२)

इसने शशिप्रभा की मानसिक दशा का चित्रण केवल ईह मोड़ कर दीर्घ श्वास लेने ने ही व्यक्त किया गया है। इस श्लोक में यद्यपि कोई ऐसा कलाकारी अलंकार भी नहीं है, फिर भी मानसिक दशा का चित्रण जिस मधुर व्यङ्गनात्मक शैली में हुआ है, वह ठीक कालिदास के

एवंवादिनि देवर्षीं पार्श्वे पितुरधोमुखी ।

लीलाकमलपत्राणि गणयानास पार्वती ॥

इस श्लोक की भाँति ही है। कालिदास ने भी कमलपत्र की गिनती से पार्वती के लज्जास्वयं संचारी भाव को व्यक्त कर दिया। यह शैली का ही फल है, जिसके कारण अतिवित्तिार न होकर भी किसी भाव की अभिव्यक्ति कुछ निर्धारित शब्द से ही हो जाती है। इस प्रकार के सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति पद्मगुप्त का विशेषी गुण है। भावाभिव्यक्ति के लिए वाक्यविन्यास का श्रोत्रिय, छन्दोज्ञान एवं अलंकार के सफल प्रयोग का सम्मिश्रण उपयोगी है। इसलिए सौन्दर्य प्रियता का परिचय कवि की वाणी सर्वत्र ही देती रहती है। जिससे यह भली भाँति विदित हो जाता है कि कवि ने सौन्दर्य की अनुभूति खुली आँखों से की है।

युता सिताभैः सुमनोभिरेतया परिश्लथेयं कवरी नियन्यते ।

उदस्तभास्वत्करकान्तया श्रिया दिनस्य ताराश्वलेव शर्वरी ॥ (४।१२)

यहाँ पर सजे हुए शिथिल केशावलाप वाली पाटला का सान्य "ताराश्वला शर्वरी" के साथ करके कवि ने मानवसापेक्ष प्रकृति का चित्रण अति मधुर भाव से किया है। इस प्रकार के सुन्दर चित्रण और उन चित्रणों में विगुद्ध शृंगारी भावना का पुट देना कवि की मधुर प्रकृति और सुकुमार वर्ण-विन्यास की शैलीगत चातुर्य का ही फल है। इसीलिए हम देखते हैं कि अनुप्रास की छटा भी पद्मगुप्त की शैली में भावाभिव्यक्ति के लिए अनायास ही कारण बन गई है। कहीं पर भी केवल भर्त्ता के लिए शब्द नहीं रखे गये हैं।

अयं स न स्यान्नवसाहसार्द्ध इत्यनङ्गलीलासुकृती भुवः पतिः ।

स येन मुक्तो निजनामलाच्छितः शशिप्रभाकेलिकुरङ्गके शरः ॥ (४।३४)

अयं स नो हार इवास्य दृश्यते करोदरे पल्लवपाटलत्विपि ।

इतः किमेतस्य न सैवते स किं सितच्छदो लोचनगोचरं गतः ॥ (४।३५)

इन श्लोकों में वर्णविन्यास देखने योग्य है। कितनी स्वाभाविकता के साथ दो समान वर्णों के बीच एक अन्य वर्ण रख कर फिर उसकी भी अन्यजातीय वर्ण के साथ कैसी संगति की गई है। इसी संगति के कारण कौतूहल की जाग्रति एवं संशय की वृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। यह वर्ण-विन्यास अपनी विशेषता रखता है।

विधातुमेनामहमेय वा क्षमा मितोदरोमद्वतलेऽन्य को विधि-
ममेद्वशे यद्विषय निमित्तस्य स्तुनन्ति सरयो मसृणोक्तिसौष्ठवम्

यहाँ पर पूर्णरूप से कवि के व्यक्तित्व की झलक मिलती है और शैली में मसृणोक्तिसौष्ठवम् का भी परिचय मिलता है। इसी मसृणोक्तिसौष्ठवम् के कारण ही सम्भवतः तत्कालीन कवि इस कवि से प्रभावित रहे हैं और विमलेश्वर भी, जिसकी सूचना काव्य ने दी है। इस श्लोक में 'म' की समिति आदि से अतः तक अपना एक अद्भुत सौष्ठव रखती है।

ननाम मानिन्यवशा विशा पतिम् में भी यही गान पाई जाती है। इस प्रकार की रचना चापुरी को देखकर और उसकी प्रभावशाली भावामिव्यक्ति का देखकर यह कहना उचित ही जान पड़ता है कि पद्मगुप्त की शैली में प्रवाद गुण का सहजात सौन्दर्य, माधुर्य का यथोचित न्यास, भावों की समझता और अलंकारों की समुचित योजना पाई जाती है।

अल्प शब्दों में निपुणार्थ की योजना यद्यपि भारवि की भाँति पद्मगुप्त से नहीं बन पायी है, पर इसका अधिकतर समावेश उसने अपनी शैली में किया है। रुचिर और परिष्कृत पदावली का सर्वत्र आधार लिया गया है। अवसर के अनुरूप भाषा का सदैव प्रयोग किया गया है। भाषा पर इस कवि का असामान्य अधिकार है। वह उसकी वशवर्तिनी होकर ही चलती है। भाव और भाषा का सामञ्जस्य पद्मगुप्त की शैली में सदैव ही रहा है। जहाँ मृत्तार की अभिव्यक्ति करनी हुई, वहाँ सरल सरस और असमस्त पदावली का प्रयोग किया गया है, किन्तु एक ओर इस प्रकार की सुकुमार योजना करने पर भी जहाँ युद्ध का वर्णन आया है, वहाँ समस्तपदावलि और कर्कश शब्दों की योजना पर भी कवि का ध्यान गया है। एक ओर माधुर्य और दूसरी ओर शोक का समावेश अवसरोचित रूप से किया गया है।

भटाक्षपूर्णं परितो गजाना स्वदानपद्मोपचितं पदाङ्कैः ।

भयङ्कराऽभूत्तरुणार्कग्निसहस्रकीर्णैश्च रणाद्गणेशो ॥ (१७१८)

रघुरत्नफणाच्छत्रमणिप्रतानतेजश्छटाजर्जरिताधकारः ।

अफल्गुनीर्यं फणभृत्कुमारोऽप्यमेऽभवत्तम्य च रत्नचूड ॥ (१७१९)

यहाँ पर कठोर वर्ण की धृति से ही उत्साह का संचार होने लगता है और ध्वनि के अधिक विकास से घोरता का संचार होता हुआ प्रतीत होता है।

जहाँ अतर्मात्माओं को छूकर उई तीन्ही बनाकर जब रागात्मिका प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करनी होती है, तब पद्मगुप्त सरल सुगम शैली का प्रयोग करता है।

सनसा किमालिखति कि समाचरत्यधुना किमिन्दुवदना च वक्ति सा ।
इति मेऽपदिश्य भवतीं प्रवृत्तया हृदयं सशल्यमिव हन्त चिन्तया ॥ (१०६१)

पर जब इन्हीं मनोरागों की तीव्रता और असह्य प्रभाव को दिखाना होता है तो पद्मगुप्त उस समय एक उत्तेजना लाने के लिये समस्तपदावली वाली शैली का भी आश्रय लेता है ।

शरदिन्दुदीधितिकलापसुन्दरम्

कथय प्रिये निहितसान्द्रचन्दनद्रवशीतलोज्ज्वलकरा कुचद्वये ।

मम हारयष्टिरपि सा सखीव कि

मदनाभितापमपटू करोति ते ! (१०६३)

यहाँ पर यद्यपि समासों का प्रयोग किया गया है, परन्तु उनका प्रयोग रसानुगुण्य की दृष्टि से ही है । क्योंकि जब भावातिरेक होता है, तब या तो शब्दों की अति मन्द गति हो जाती है, या अत्यधिक सम्यक् गति । पद्मगुप्त ने इसी सत्य को यहाँ पर व्यक्त किया है । शैली का रस ले बड़ा घनिष्ठ सम्यक् रहता है और इसीलिये काव्य में शैली के औचित्य पर भी पूर्ण ध्यान देना पड़ता है, यह औचित्य पद्मगुप्त की शैली में आद्योपान्त देखा जाता है । वार्तालाप के ढंग में कवि ने कितनी स्वाभाविकता दिखाई है :

विलोकितां चित्रमलीकभापिणीं भवत्सखीयम् प्रतिभासते मम ।

उदीरितैवं किल पार्थिवेन सा भृशं ललज्जे निभृतं जहास च ॥ (७१७७)

तुम्हारी सखी मुझे बड़ी भूठी मालूम होती है । राजा के इतना कहने पर शशि-प्रभा शरमाई भी और हँसी भी । इन गूढ़ भावों की सरलाभिध्यञ्जना को सर्व-साधारण के बोधगम्य बनाकर पद्मगुप्त ने अपनी शैली में परिहासप्रियता का परिचय दिया है ।

इदं वदाशिक्षितकैतवं कृतं तवैव मुग्धे सरलाङ्गुलिः करः ।

सहैतदालिख्य शिलातले शनैरनेन लीलाकमलं यदुज्झितम् ॥ (७५५२)

हे मुग्धे ! यह तो बताओ कि तुम्हारे इस सीधी अंगुलियों वाले हाथ ने इतना टगपन कहाँ से सीखा कि स्वयं शिलातल पर चित्र बनाया और फिर शीघ्र ही उसे कर्णकमल से ढँक दिया, जिससे और कोई उसे न देख सके ! यह कैसी चातुरी है !

इस प्रसंग को देखकर यह कहा जा सकता है कि परिहासप्रियता भी पद्मगुप्त की शैली का एक तत्त्व है और उसको कवि बड़ी सफलता के साथ निभाता है ।

अपहतुमगास्त्वमेव हारं किमितः कल्पितराजहंसरूपः ।

विदितोऽसि घना तघोरगाणां नगरेऽस्त्येव हि कामरूपवार्ता । (५१६६)

परवञ्चनपण्डिता मतिस्ते यदि नैवं कथमन्यथा नद्र
इदमाभरणं हरस्थरण्ये हरहासैकसित शशिप्रभायाः ॥ (५।७०)

जब पाटला राजा के समीप आई और राजा के पास उसने इस द्वारा अपहृत शशिप्रभा के हार को देखा तो वह बोली, “हे नरेन्द्र ! यह तो बताओ कि यह हार तुम्हारे पास कैसे आया ? क्या कल्पित राजहंस का रूप धारण करके तुम ही तो हार चुराने नहीं गये ? क्योंकि नागलोक में तुम्हारे बहुरूपी होने को नाना कथाएँ सुनी जाती हैं । यदि ऐसी बात न होती और तुम दूसरे को धोखा देने में निपुण न होते तो यह हार तुम्हारे पास कैसे आता ?” फिर उसने कहा कि “मैं तो समझती थी कि तुम पृथ्वी का शासन करते हुए अपने राज्य में अग्निव्य को लेशमात्र भी न सहते होगे । तब यह उताओ कि तुम स्वयं ही इस प्रकार चोरी का सा इत्थं क्यों करने लगे ? महाराज ! यह मजाक हीक नहीं । आप हमारा हार दे दीजिये । न्यायमार्ग पर चलने वाले आप जैसे लोग दूसरों का द्रव्य हरण करने में क्या लज्जित नहीं होते ?” पाटला की यह व्यंग्योक्तियाँ वस्तुतः अति स्वामात्रिक हैं और व्यावहारिक भी । इनमें वाक्पटुता का पूर्ण परिचय मिलता है । इस शैली से परिमल पद्मगुप्त की भावाभिव्यक्ति में निखार आ गया है ।

इन सर विवेचनों के द्वारा हम यह कह सकते हैं कि पद्मगुप्त कवि की शैली में मुद्रुमारता के साथ अभिव्यञ्जनात्मकता अधिक पाई जाती है, और ओज का भी पुट उसमें मिलता है । लालित्य तो इस कवि की शैली का प्रधान गुण है ही । भाषा की दुरुद्धता से पद्मगुप्त की शैली दूर ही है । इस कवि की शैली में सरिल्ल एव चित्रोपम प्रकृति चित्रण का भी प्रमुख स्थान है । इसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है ।

नरसाहसाकचरित की छन्दोयोजना^१

काव्य में छन्दोयोजना का महत्त्व यद्यपि भावाभिव्यक्ति के लिए ही होता है, फिर भी यह बात विचारणीय है कि औचित्य को दृष्टि में रखकर ही छन्दों का प्रयोग करना, उनके उत्कर्ष को बढ़ाना होता है । इस विषय में आचार्य चेमेन्द्र ने लिखा है ।

काव्ये रसानुसारेण वर्णनागुणेन च ।

धुर्व्रत सर्ववृत्तानां निनियोग रिमागवित् ॥

१ विशेष जानकारी के लिए देखें पुस्तक ‘पद्मगुप्त और छन्दोयोजना’ ।

काव्य में रसौचित्य की दृष्टि से और वर्ण्य विषय की मनोहारिता की दृष्टि से छन्दों के विभाग को जानने वाले कवि को चाहिये कि वह छन्दोयोजना करे ।

वस्तुतः यह बात सत्य भी है कि छन्दोयोजना की सफलता पर भी काव्यसौन्दर्य की सफलता बहुत कुछ निर्भर रहती है । इसलिये महाकवियों ने विविध भावों, रसों और विषयों के वर्णन के लिये विविध प्रकार के छन्द अपनाये हैं । कवि का छन्द पर इतना अधिकार होना चाहिये कि चाहे वह कैसा भी छन्द क्यों न हो, यदि उसे वह उचित स्थान पर स्थित कर दे तो वह अयोग्य वृत्त भी सुयोग्य जान पड़ने लगे और उद्देश्यपूर्ति में सहायक भी सिद्ध हो । वाल्मीकि और व्यासादि कवियों ने इसी प्रकार साधारण-साधारण छन्दों को लेकर उन्हें ऐसा चित्ताकर्षक बना दिया कि उनके उद्देश्य की उनसे पूर्ति हो गई । प्रारब्ध-पूरण की सिद्धि इसीलिये वे कर सके । कविशासन के कारण ही छन्दों की सफल योजना होती है । कवेः श्रुतस्य शासनान्— छन्दोपयोगिता प्रौढ शासन वाले कवि के शासन से ही उत्कर्षजनक होती है ।

कालिदास आदि महाकवियों को इसीलिये अपने काव्यों में उचित छन्दो-योजना का ध्यान रखना पड़ा होगा । उन्होंने जहाँ भी जिस छन्द को वर्णन का माध्यम बनाया, वहाँ उसमें चमत्कार उत्पन्न कर दिया । इसीलिये तो महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में काव्यविप्लेशक आचार्य ने यहाँ तक कह दिया :

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवर्गति ।

सदृश्वदमकस्येव कम्बोजतुरगाङ्गना ॥

अर्थात् कालिदास की मन्दाक्रान्ता (छन्द) कालिदास के वशीभूत है, और मन्द एवं त्वरित क्रान्ति से उसी भाँति अपनी गति दिखाया करती है, जिस प्रकार प्रथम श्रेणी के बुड़सवार (अश्वारोही) के वश में भाई हुई काबुली घोड़ी उसके दशारे पर अपनी चाल चला करती है । इस तथ्य में कवि की और अश्वारोही की शासनशक्ति से उद्भूत द्वन्द्व और तुरगाङ्गना की सुवश्यता पर जो प्रकाश डाला गया है, उससे सुविदित हो जाता है कि वृत्तयोजना पर कवि का पूर्ण अधिकार होना चाहिये ।

परिमलपद्मगुप्त ने भी छन्दोयोजना पर पूर्ण ध्यान रखा । उसका छन्द पर पूर्ण अधिकार भी था । यद्यपि उसे वाल्मीकि एवं व्यासादि महा-कवियों जैसा प्रारब्धपूर्ण यश न मिल सका, और न कालिदास की भाँति उसके लिए ऐसी कोई प्रशंसा ही कही गई, तथापि यह कहा जा सकता है कि परिमलपद्मगुप्त का भी छन्दोयोजना पर पूरा ध्यान था और उसने भी छन्दोयोजना में पूर्ण सफलता प्राप्त की । इसकी पुष्टि क्षेमेन्द्र के कथन से हो जाती है । क्षेमेन्द्र ने वृत्तविवेचन के अवसर पर लिखा है :

आकारेऽपि कृते पूर्णं बन्धेऽल्पपदपेशले ।

यस ततिलकं घत्ते निर्गन्धं रमणीयताम् ॥

जिस में आकार की सुसंगठितता हो और उसका बंध में ऐसा सन्निवेश दिया गया हो, जिस से उसमें अल्पपद हो, पर सुसुवर हो और जो निर्गन्ध अर्थात् दीर्घ समासाध्य से मुक्त हो ऐसी वसन्ततिलका (छन्द) अत्यंत रमणीय लगती है । यह वसन्ततिलका की विशेषता ज्येमेन्द्र ने बताई है, और उदाहरण में कहा है—यथा परिमलपद्मगुप्त्रस्य “अच्छासु हस” इत्यादि ।

वसन्ततिलका की विशेषता को प्रदर्शित करने के लिये ज्येमेन्द्र ने पद्मगुप्त के ही छन्द को लिया । इससे विदित होता है कि पद्मगुप्त की छन्दोयोजना ज्येमेन्द्र का प्रिय एवं निर्दोष ज्ञान पड़ी, सभी तो उसने कालिदासादि कवियों की वसन्ततिलका को उ लेकर पद्मगुप्त की वसन्ततिलका को उदाहरण रूप में दिया, और देगा काय तो बात उचित ही जान पड़ती है । पद्मगुप्त ने वसन्त तिलका का प्रयोग उचित रूप से किया है ।

आन्तासि कौतुकहृतेन पदयितासि प्रश्नैरनेन विहितो न तत्रोपचार
आतिव्यमेव कुरुते परमज्ञलोपासवाहनैकचतुरो निचुलानिलम्बे ॥

(६४/६७)

इस छन्द में स्वयं ही पदपेशलता और निर्गन्धता देखी जाती है । आठवर्ग के अन्त में भी इसी छन्द की योजना की गई है । दूसरे वर्ग के उपान्त में

मूम कियन्तथ पथञ्जन कालमल्पम् अप्राज्ञपत्रनयने नयने निमील्य ।
हेमान्बुजं तरुणि उत्तरसाऽपहस्य देवद्विपोऽयमहमागतः इत्यवेहि ॥

(१०/६६)

इसमें ऐसी योजना छन्द में की गई है, जिसमें मूढ और अशमलता का कारण वास्तविक रमणीयता प्रतीत होती है, और मावीचित्र की सृष्टि में हुई है । निराशा और आश्वासन का भाव किस भाति छन्द की उपयोगिता में प्रकट हो जाता है, यह सहृदय स्वयं देख लें । ११ वें तथा १३-१८ वर्ग में भी इसी प्रकार वसन्ततिलका का औद्भुत देखने को मिलता है । वसन्ततिलका की इसी रमणीयता पर मुग्ध होकर ज्येमेन्द्र ने उक्त बात लिखी होगी ।

इसके अतिरिक्त और छन्दों के विषय में भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त के सभी छन्दों में औचित्य का पूर्ण समावेश है ।

सुप्रशस्त्रिप्रबन्धेषु यथास्थाननिवेदिताम् ।

रत्नानामिष वृत्तानां भवत्यम्यधिका रुचि ॥

इस श्लोक पर विचार करते समय यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि जो कवि वृत्त (छन्द) का निवेश यथास्थान करते हैं, उनके वृत्तों में वही उपयोगिता मनोहारिता एवं आकर्षकता आ जाती है, जो उपयोगी और महार्घ रत्नों में होती है, प्रबन्ध काव्य के लिये यह भी महत्त्व की बात होती है कि ऐसे काव्य का निर्माण करनेवाले कवि को सुन्दर सन्निवेश वाली वृत्तयोजना को अपनाना चाहिये। पद्मगुप्त ने छन्दों का यथास्थान निवेश किया है, और प्रतिभादारिद्र्य व्यक्त न हो, इसलिये विविध छन्दों की योजना भी की है। कवि ने मालिनी, उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, रथोद्धता, उद्गता, पुष्पिताग्रा, शिखरणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, प्रहर्षिणी आदि विविध छन्दों का प्रयोग अपने महाकाव्य नवसाहसार्द्धचरित में किया है। अष्टम सर्ग में रथोद्धता की उपयोगिता का उचित सन्निवेश और सौन्दर्य देखिये :

लज्जया वलितकण्ठकन्दलं लोचनाञ्चलमिलद्वतंसकम् ।

तस्य वर्तितमिवाभवत्तदा तत् प्रियावदनमुन्नसं हृदि ॥

(८२२)

लज्जा के भाव में मुख मोड़ना आदि की चेष्टा का द्योतन उसी प्रकार दृष्टिगोचर हो रहा है, जैसे इस छन्द की गति। वस्तुतः यहाँ पर रथोद्धता ही प्रयुक्त होने योग्य है। उसकी गति में लज्जाजन्य चेष्टा विवर्तित होती दिखाई देती है। इस प्रसंग में सिन्धुराज की भी उन चेष्टाओं का वर्णन है, जो उसने शशिप्रभा की प्राप्ति के लिये की हैं। उसके लिये उसे यत्र तत्र गमन भी करना पड़ा और नाना आश्चर्य उसके सामने आये। इन लघु या बृहत् घटनाओं में जो कुछ भाव व्यक्त होना था या जो वर्णन की रोचकता लानी थी, वह रथोद्धता के द्वारा समुचित रूप में लाई जा सकी है।

रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु—यह बात भी पद्मगुप्त की छन्दोयोजना में घटित हो जाती है। यथा—ग्लानिमाप स तथा विना नृपः ।

प्रस्थितस्तदनु सोद्यमं पुरः सोऽथ साहसवतां पुरःसरः ।

निर्मितं मणिमयूखपल्लवैर्वालमातपमिव व्यलोकयत् ॥ (८६०)

इसमें भी साहस की उद्गता एवं संयमित भावना का दर्शन छन्दोयोजना की विशेषता के कारण ही होता है।

वाह्य चित्रण की विशदता के लिये इस कवि ने उपजाति और वंशस्थ का विशेष उपयोग किया है। किन्तु जहाँ संकोच और विस्तार की भावना को व्यक्त करना हुआ, वहाँ पुष्पिताग्रा को भी विशेष रूप से ग्रहण किया है। हंस की गति का वर्णन करने में इस छन्द का उपयोग करके अन्त में वसन्ततिलका ।

से उसे और भी प्रभावोत्पादक बना दिया है। यह पद्मगुप्त की विशेषता ही है। वह छन्दों के सुसन्निवेश में अतिदक्ष है।

शृ गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् ।

वसन्तादितदद्गञ्च सच्छायगुपचातिभि ॥

कवि को इसका भी ध्यान रखना पड़ता है, और पद्मगुप्त के काव्य में हम इस बात को पूर्णतः पाते हैं। श्रुतवर्णन में उसी उपजाति छन्द की ही लिया है। भारवी ने उद्गता का प्रयोग किराताजुनीयम् में अज्ञा की तपस्या के प्रसंग में किया है। उसने अपनी प्रतिभा का प्रयोग करके उसे वहाँ उचित रूप में रच दिया, पर पद्मगुप्त ने उसी छन्द का सुन्दर सन्निवेश जलक्रीडा के प्रसंग में किया है, और अपने छन्दसुवशता के बल पर उसको सफल भी बना दिया। नियमित उपयोगिता के कारण पद्मगुप्त की छन्दोयोजना उत्तम कोटि की है।

इसके अतिरिक्त यह भी माय साक्षीय पक्ष है कि यदि किसी सर्ग का अन्त वसन्ततिलका अथवा मालिनी अथवा पुष्पिताम्रा से किया जाता है, तो यह कवि की छन्दोयोजना-चातुरी की विशेषता ही होती है।

महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में इसका यथावत् पालन किया गया है। परिमल पद्मगुप्त के काव्य में भी वही बात है। प्रथम और चतुर्थ सर्ग का अन्त वसन्ततिलका से हुआ है। पंचम सर्ग का अन्त मालिनी से हुआ है। षष्ठ सर्ग का प्रार्थना से और आठवें सर्ग का अन्त भी वसन्ततिलका से किया गया है। नवम सर्ग का अन्त पुष्पिताम्रा से हुआ है। अन्य कवियों की भाँति ही पद्मगुप्त ने इस परिपाटी को अपनाया है।

पद्मगुप्त का वृत्तवैचित्र्य उसकी प्रतिभासम्पत्ता की द्योतित करता है। उसके छन्दों के उपनिवेश के कारण ही रत्नानामिव वृत्तानाम् भरश्चभ्यधिका रुचि की गति उसके प्रति चरितार्थ हो जाती है।

अन्त में हम यह कहेंगे कि जिस प्रकार कालिदास की मन्दाकांता की विशेषता सस्फुट साहित्य में अपना स्थान रखती है, उसी भाँति पद्मगुप्त की वसन्ततिलका और पुष्पिताम्रा का भी स्थान साहित्य में छन्दोयोजना की दृष्टि से उत्तम कोटि का है। इसीलिये पद्मगुप्त के लिये कहा जा सकता है

वसन्ततिलका चाणी पुष्पिताम्रा मुगुम्फिता ।

कान्ये परिमलापूर्णा पद्मगुप्तस्य शोभते ॥

उपसंहार

परिमल पद्मगुप्त और नवसाहसकचरित के सम्बन्ध में इस प्रस्तावना में जो कुछ भी विचार व्यक्त किये गये हैं, उन सब के निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि पद्मगुप्त का व्यक्तित्व जिस रूप में उपस्थित हुआ है, वह कविप्रतिभा का सुन्दरतम निदर्शन है।

पद्मगुप्त ने नवसाहसकचरित लिखकर संस्कृतसाहित्य को एक अमूल्य देन दी है। नवसाहसकचरित की सौन्दर्य और शृंगारप्रियता को आदर्शोन्मुख बनाकर पद्मगुप्त ने परम पुरुषार्थ काम की सफलता को जनता के सामने रखा। गीता के “कामोऽस्मि सर्वेषाम्” के व्यापक रूप और व्यापक प्रभाव को नवसाहसकचरित पूर्ण रूप से चरितार्थ कर देता है। इसके मूल में जीवन की सार्थकता का पुट है। उसी सार्थकता को पद्मगुप्त ने व्यावहारिक रूप देकर स्पष्टहणीय बना दिया है।

इतना महाकाव्य लिखने पर भी पद्मगुप्त अपने विषय में मौन ही रहा। यह भी उसकी संस्कृतसाहित्य के सर्वसाधारण कवियों की ही भाँति निःस्पृह भाव की ही स्थिति रही है।



कथासार

जब प्रशस्त अन्त करण की पृत भावनायें व्यापक होने लगती हैं, तब किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए उनको एक साथ सीमित वातावरण में अपने तक ही रखना कठिन हो जाता है। उदाम पावस-नदी की भांति जब भावनाओं का प्रवाह वह निकलता है, तब उसमें छुद्र नदियों की भांति कई लघु भावनाएँ भी मिलकर एकाकार होकर उसे बज्रवती बना देती हैं। यहीं से भावनाएँ एक धारारूप में उद्ग होकर मनोहारिणी होती हुई अनेक अन्त करणों की उदात्त वृत्ति की उद्बोधिका हो जाती हैं।

साहित्य की सृष्टि इहीं उदात्त, प्रशस्त और मंगलमयी भावना की आधारभूमि पर होती है, तभी विचारशील सद्बुद्ध कुछ लिखने के लिए भी प्रवृत्त हो जाते हैं। उनकी ये भावनाएँ लेखबद्ध रूप में आकर अधिक प्रभावोत्पादिका हो जाती हैं, और तब ये यश, अर्थ, व्यवहारशास्त्र और मंगलमय प्रसन्नो की प्रस्तुतिका बनायास ही हो जाती हैं। इन वस्तुओं के अतिरिक्त कविवृत्ति का यन्त्र भारी ज्येष्ठ इन (आनन्द)तरंगों में मानव की आत्मविस्मृति करा देना होता है। यही सफल कवि की वृत्ति का उद्देश्यजन्य प्रभाव होता है। इसलिए आज हम देखते हैं कि यह शक्ति उही यशस्वी व्यक्तियों पर चरितार्थ सी जान पड़ती है।

जयन्ति ते सुकृतिनः रसमिद्धा कवीश्वरा ।

नास्ति येषां यश काये जरा मरणजं भयम् ॥

यही जीवन की सार्थकता भी है। आज कालिदास, भवभूति, बाण, दण्डी, माघ, भारवि आदि सरस्वती के वरदपुत्र इसीलिए स्तुत्य हैं, इसीलिए उनकी कीर्ति गीय है, क्योंकि उन्होंने मानव के अन्त करण की उदात्त भावनाओं को बाह्य करने के लिए, उसे मंगलमय पथ दिखाने के लिये, उसका मान सोह्लास के लिये अपनी वह अमर मुघाम्यदिनी वाणी दी है, जिसका भवण, मनन एवं अध्ययन करके हम अपने को घन्य समझते हैं।

इस सन्दर्भ में हम परिमलपद्मशुभ को भी भूल नहीं सकते। परिमल पद्मशुभ ने अपने समय में जिस प्रकार की साधना में लगकर हमें नवसाहस्राब्द चरित जैसा महाकाव्य दिया, वह सदैव स्मरणीय रहेगी। यद्वा पर हम उस कथा से पाठकों को परिचित करा देना चाहते हैं, जो पद्मशुभ ने नव-साहस्राब्दचरित में निबद्ध की है।

नवसाहसार्कचरित की कथावस्तु का सार

उज्जयिनी में वाक्पतिराजदेव नाम के महीपति महाकवि हुए हैं। उन्हीं के छोटे भाई सिन्धुराज नवसाहसार्क बड़े वीर, साहसी, काव्यकला-मर्मज्ञ, विद्वत्प्रेमी और आनन्दी राजा थे, जो समस्त कार्यभार का संचालन यशोभट उपनामक मंत्री रमांगद की सहायता से करते थे। रमांगद भी अति विचक्षण बुद्धि का कार्यकुशल व्यक्ति था।

एक दिन सिन्धुराज की इच्छा आखेट करने की हुई। रमाङ्गद को साथ लेकर वह विन्ध्याचल की वनभूमि में शिकार खेलने गया। इधर-उधर भ्रमण करते हुए उसने एक इन्द्रधनुषी आकृति के विचित्र मृग को देखा, जिसके गले पर सोने की शृंखला बंधी थी। राजा का चित्त उस मृग की ओर आकृष्ट हुआ। वह मृग के पीछे चला। मृग उसे घनघोर, वीहड़ वन के बीच ले गया। राजा ने उस पर अपना नामांकित शर चलाया। मृग बाण से विद्ध होकर भागा। राजा उसे हूँदते नर्मदा के किनारे की ओर बढ़ने लगा। इसी बीच एक और आश्चर्यजनक घटना घटी। एक राजहंस विचित्र मोतियों का हार लेकर सामने आता हुआ दिखाई दिया। वह चोच में हार को बांधे राजा की ओर आया। राजा उस हार को ग्रहण करने के लिये चला। बहुत दूर तक घने जंगल में मार्गक्रमण करने से राजा, रमांगद और हंस—तीनों ही थक गये। पुनः हंस एक स्वच्छ सररोवर के पास उस हार को छोड़कर पानी में कूद पड़ा। राजा ने हार को उठा लिया। पास में ही अशोक वृक्ष के नीचे पल्लवों का आसन रमांगद ने लगा दिया और राजा उस पर लेटकर हार की सुन्दरता को देख कर मुग्ध होने लगा। फिर हारमध्यमणि पर सुन्नर लिपि में “नागराजकथा शशिप्रभा” लिखा हुआ देखा। उसको पढ़ते ही राजा शशिप्रभा के बारे में सोचने लगा और कामासक्त हो गया। रमांगद ने राजा को बहुत कुछ समझाया, पर राजा का मन शान्त न हो सका।

उधर शशिप्रभा का मृग घायल होकर उसके पास पहुँचा। शशिप्रभा ने अपने हाथ से उस बाण को निकाला। उसने बाण को ध्या से देखा तो उस पर “सिन्धुराजनवसाहसार्क” लिखा था। वह भी राजा के नाम को पढ़कर राजा से मिलने के लिए उत्सुक हो गई, क्योंकि वह भी पातलोक में उसकी महिमा को सुन चुकी थी। दोनों ओर दोनों की विचित्र दशा थी।

जब राजा को रमांगद समझा रहा था, उसी समय दूर से एक सुन्दरी स्त्री हाथ में चर लेकर आती हुई दिखाई दी। राजा और रमांगद उसको इस विजय वन में एकाकिनी घूमती हुई देखकर आश्चर्य कने लगे। जब

वह पास पहुँच गई, तब उसने अपना परिचय राजा से कराया । फिर रमागद ने उसके साथ राजा का परिचय कराया । उसने अपने निर्जन बन में घूमने का कारण यह बताया कि हमारी राजकुमारी पाताललोक से घरती पर घूमने आई थी । वह नर्मदा के तट पर जब कुछ विभ्राम करने लगी तो एक हंस मृणालतनु के धोखे में उसके हार को लेकर न जाने कहाँ चला गया । उसी को ढूँढ़ने के लिए हम लोग इधर-उधर भटक रहे हैं । मैं नागराजपुत्री की चरधारिणी पाटला हूँ । यदि आप लोगों ने उस हंस को कहीं देखा हो तो कृपया बता दीजिए ।

कुछ देर बाद वह बोली—“हे राजन् ! आपकी घरती पर आकर हम लोग इस भाँति एक पत्नी के द्वारा छुट जायें और आप उसका कोई भी प्रातकार न करें, यह कैसा न्याय है ?” राजा ने कहा—“सुन्दर ! हम तुम्हारे हार को ढूँढ़ने की चेष्टा करेंगे, तब तक तुम मेरे इस हार को अपनी राजकुमारी को दे दो ।” पाटला ने राजा के हाथ में बाणों को देकर यह अनुमान दिया कि मृग को भी इसी तरह का बाण लगा है, तो इसी राजा ने उस पर बाण चलाया होगा । फिर पाटला बोली, “हे मृग ! आपका बाण हमारे मृग के शरीर पर लगा है । आप चाहें तो चलकर अपना बाण लें । नर्मदा के तट पर हमारी सखी बठी हुई आपके नामाक्षरी को पढ़कर व्याकुल ही हो रही है । यदि क्षण न हो तो मेरे साथ आप वहाँ तक चलें ।”

रमागद की सलाह लेकर राजा वहाँ चलने के लिए प्रस्तुत हो गया । आगे-आगे पाटला चल रही थी और उसके पीछे वे राजा और रमागद । वहाँ पहुँचने पर पाटला ने राजा से राजकुमारी का परिचय कराया । दोनों एक दूसरे को देखकर मुग्ध हो गये । पास की एक शिला पर शशिप्रभा क मनोविनोद के लिए उसकी सखी अनगवती ने राजा का चित्र बना रखा था । वह एक बार महाकालेश्वर की पूजा के लिए उज्जयिनी आई थी और उसने मूर्ति को देख रखा था । शशिप्रभा ने उस चित्र को अपने हाथ क कमल से रक दिया । राजा ने उससे कहा कि यह कौन पुण्यरत्ना है या तुम्हारी किस प्रिय सहेली का यह चित्र है, जिसे तुम इतना छिपाकर रखना चाहती हो । इस बात को सुनकर उसकी सहेलिया भी मजाक करन लगी । वहा पर उस समय एक आनन्दमय वातावरण उपस्थित हो गया था । सदसा आकाश में काले मेघ छा गये । चारों ओर स आधा चन्द्रा लगी । मेघाचला सुनकर शशिप्रभा भयभीत हान लगी । राजा ने कहा—“नागराजकन्ये ! डरो मत, मेरे पास चलो आओ ।” वह जैसे ही राजा के

पास आने लगी कि एकाएक आकाशवाणी सुनाई दी—“राजन् ! व्यथ की मृगतृष्णा न करो, तुम शशिप्रभा को नहीं पा सकते हो, हे शशिप्रभे ! तुम वापस लौटकर अपने पिता के पास चली जाओ ।” आकाशवाणी को सुनते ही शशिप्रभा आकाश की ओर उड़ती हुई दिखाई दी । पर वह राजा के प्रति आसक्त होने के कारण दुखी थी । शशिप्रभा के अदृश्य हो जाने पर राजा अत्यन्त दुखी हुआ । आकाशवाणी गूँजती हुई पुनः राजा को सुनाई दी कि “जो इसकी प्राप्ति के लिए साहस करेगा, उसी को यह मिल सकेगी । देखो, यह तुम्हारे सामने से ही विलीन हो रही है, तुम जो कुछ कर सकते हो करो ।” कुछ समय पश्चात् सारा वातावरण शान्त हो गया, मेघमाला नष्ट हो गयी । वायु अपनी गति पर चलने लगी । नर्मदा भी यथावत् शान्त रूप से बहने लगी । राजा को अपने बल तथा पुरुषार्थ पर लज्जा आने लगी कि मेरे देखते-देखते ही वह लुप्त हो गई और मैं कुछ भी न कर सका !

इसके पश्चात् सारसों की ध्वनि में मानो रेवा की वाणी राजा को सुनाई दी कि “नृप ! दुःख मत करो, तुम्हारी प्रिया इसी रास्ते से गई है, यह उसके पदचिह्न बने हैं, यहाँ पर एक बड़ा भारी विल है, उसी मार्ग से वह रसातल चली गई है । राजा धनुष-बाण सजाकर रमांगद के साथ नर्मदा के तीर पर आया और नर्मदा के जल में कूद पड़ा । रमांगद भी उसी के साथ नदी में कूद गया । नर्मदा ने राजा को धन्यवाद दिया और उस विल को उसे दिखा दिया, जिसमें से होकर शशिप्रभा गई थी । राजा और रमांगद उस विल में प्रविष्ट हो गये । उस अन्धकारपूर्ण विल में राजा ने एक भयानक सिंह को देखा । सिंह राजा की ओर झपटा । राजा ने उस पर बाण छाड़ा । फिर वहाँ राजा ने एक क्रुन्द के पेड़ को देखा । इसके बाद जब कुछ और आगे बढ़ा तो एक भयानक मदोन्मत्त हाथी उसे रास्ते में मिला । राजा ने जब उसे मारने के लिए बाण उठाया तो वह अदृश्य हो गया ।

राजा अपने साहस से इन भयानक दृश्यों का सामना करके उन पर विजय पाता गया । इसी भाँति नदी को पार कर वह अन्धकारपूर्ण विलमार्ग से नागराज की राजधानी भोगवती नगरी में पहुँचा । उस नगर की शोभा भी अनिर्वचनीय ही थी । उसके भवन इन्द्रनील मणियों से सजे थे, स्फटिक-शिला के आँगन बने थे । स्वर्ण के द्वारों से वह सुशोभित थी । सभी भवनों के कपाट स्वर्णमण्डित थे । आश्चर्य के साथ उस नगरी को देखता हुआ राजा सिंहद्वार को पार कर अन्दर गया । उसने देखा कि वहाँ के भवनों के गवाक्ष मूंगों से जड़े हैं, उनकी लालिमा को देखकर प्रतीत होता था, मानो संध्या यहीं वास किया करती है । एक स्थान पर

पद्मराग मणियों के बने हुए चबूतरे के बीचोंबीच स्वर्णकान्ति की माधवी लता लगी हुई थी। अपनी थकान को मिटाने के लिए धन सिन्धुराज उस लता के समीप जाने लगा, तब उसने बिल के गर्भ से निकलने वाली भी की भाँति स्वर्णपद्म से निकलती हुई एक स्त्री को देखा। वह अद्भुत कान्ति से विराजित थी। नीले कपड़ों को पहन कर वह जमुना नदी की भाँति दिखाई दे रही थी। उसका मुख चन्द्रकान्ति को भी जीतने वाला था। वह एक हाथ में अक्षत, दधि, दूर्वा आदि सामग्री से पूर्ण पात्र लिए थी और दूसरे हाथ में स्वर्णकमल लिए थी। पास में ही आस की शाखा पर लटकते हुए पिंजरे में एक तोता था। उसने देखा कि राजा इस स्त्री को दत्तकर निम्नित हो रहा है, तब उसने मनुज वाणी में यों कहा, “हे नृपते ! यह नर्मदा है, तुम्हारे अतिथि सत्कार के लिए आ रही है। आप जैसे लोग सभी के पूज्य होते हैं। हे नृप, यहाँ की नागवधुयें अपने प्रियों के साथ केलिमयनों में आप के यश को बीजा के खरों पर गाया करती हैं। सभी अभी शशिप्रभा अभ्यमनस्का थी इसी रास्ते से गई है। उसके मुँह से मैंने भी तुम्हारे यहाँ आगमन की चर्चा सुनी है।” राजा ने तोते की बात ध्यान से सुनी और नर्मदा को प्रणाम किया। नर्मदा ने विधि विधान से राजा का सत्कार किया, और प्रश्न किया कि आपने किस प्रयोजन से भूमि को अलङ्कृत किया है। राजा ने मुग्धा-विहार से लेकर यहाँ आने तक का सारा वृत्तांत उसे कह सुनाया।

नर्मदा ने राजा से कहा—“ठीक है, यद्यपि आपने शशिप्रभा के कारण जो यहाँ तक की यात्रा की, पर मेरा भी पुण्योदय था, जो आप जैसे अतिथि को मैंने पाया। धन्य है वे माता पिता, जिनके आप जैसे साहसी लाल होते हैं। आप शशिप्रभा के प्रति इतने दुःखी न हों, वह त्रिलोक-ललाम-भूता नागराजपुत्री आपको अवश्य मिलेगी। क्योंकि वह भी आपने वियोग में उमनी ही बनी हुई है। भला आप जैसी का वियोग किसे दुःख न देगा। चिन्ता की बात नहीं, आपको अवश्य सिद्धि मिलेगी।”

राजा ने नर्मदा की प्रशंसा करते हुये उससे कहा—“माता ! मुझे और किसी बात का दुःख नहीं, खेद इस बात का है कि मेरे देखते-देखते शशिप्रभा का हरण हो गया और मैं कुछ भी न कर सका, वह कहाँ गई, ऐसा क्यों हुआ, क्या इस विषय में आप मेरी उत्सुकता को मन्द कर सकेंगी !”

नर्मदा बोली—“हे नृप ! एक बार शशिप्रभा के पिता ने सुर, सिद्ध, उरग—सबके समक्ष यह प्रतिज्ञा की थी कि जो वज्राकुश राजसूय के लीलाश्रम की बावड़ी में लगे हुए स्वर्णकमल को लाकर मेरी पुत्री के कान का आभूषण बनावेगा, वही इसका पति होगा। यह सुनकर सब स्तब्ध रह गये।

मन्दोन्मत्त वन्यगज के कुम्भस्थल को विदीर्ण करने के समान इस कठिन कार्य को कौन करता ? आप इस कार्य को पूर्ण करेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है । आप इस कार्य की सिद्धि के लिए प्रस्थान करें । यहाँ से कुछ दूर पर रत्नपुरी नगरी है, जिसे मयदानव ने इन्द्रपुरी के समान ही बनाया है । वही वज्राकुश की राजधानी है । वह राक्षस देव, उरग, मानुष सभी को व्याकुल एवं पीड़ित किए हुए है । आप भी देवांश हैं, अतः रावण-विनाश के लिए राम जैसे आप भी इसके विनाश के लिए समर्थ होंगे, और उसके यहाँ से स्वर्णकमल लाकर अवश्य शशिप्रभा का कर्णाभूषण बना कर उसे प्राप्त करेंगे । रास्ते में वंकुमुनि का आश्रम पड़ेगा, उनको प्रणाम कीजिएगा । वे आपकी कार्यसिद्धि के साधक होंगे ।” ऐसा कहकर नर्मदा ने अपने हाथ से एक कंकण निकालकर राजा को दिया । राजा ने उसे अपने हाथ में पहना और नर्मदा अन्तर्धान हो गई । उसके चले जाने पर राजा ने अपने मंत्री रमांगद से नर्मदा ने जो कुछ कहा, उसके विषय में पूछा कि तुम क्या कहते हो ? रमांगद ने वज्राकुश पर विजय प्राप्त करने का प्रस्ताव रखकर राजा को प्रोत्साहित किया और कहा कि आप अवश्य जयी होंगे, अब विलम्ब न कर शीघ्र अभियान कर देना चाहिए । जब आप इस कार्य के लिए प्रस्तुत हो जाएंगे तो फिर नागसेना, देवसेना और गन्धर्वसेना भी वज्राकुश के विरोध में आपकी सहायिका हो जायेंगी ।

राजा ने रमांगद की बात मान ली । उसने वज्राकुश की राजधानी की ओर रमांगद के साथ चलने का निश्चय किया । इतने में वह पिंजरे में बन्द तोता राजा से बोला—“श्रीमन् ! मैं शंखचूड़ के वंश से उत्पन्न होनेवाला रत्नचूड़ नाम का नाग हूँ । कण्वमुनि के शाप से मैं तोता बन गया हूँ । मुनि ने कहा था कि जब नवसाहस्राब्द शशिप्रभा के पास जायेगा और तब उसका संदेश राजकुमारी को सुनाओगे, तब अपने वास्तविक रूप में आ जाओगे । अतः अब से आपके कारण मैं शांन्मुक्त हो जाऊँगा । आप संकोच न करें । शशिप्रभा को जो सन्देश कहना हो, कहिये, मैं उसे शशिप्रभा तक पहुँचाऊँगा ।” राजा ने उसके कथनानुकूल शशिप्रभा को सन्देश भेजा । उसने अपनी मानसिक दशा का पूर्ण चित्रण किया । तोता रत्नचूड़ उस सन्देश को लेकर शशिप्रभा के पास पहुँच गया और राजा वज्राकुश की राजधानी की ओर चल पड़ा ।

शत्रुजयार्थ प्रस्थान करने पर वह वंकुमुनि के आश्रम पहुँचा । आश्रम के सौन्दर्य से राजा को बड़ा आनन्द मिला । वहाँ महातपस्वी सिद्ध वंकुमुनि को राजा ने प्रणाम किया । मुनि ने राजा से उसका सारा वृत्तान्त पूछा । रमांगद ने राजा का परिचय देकर शशिप्रभा का वृत्तान्त भी कह सुनाया ।

फिर मुनि ने कहा, “धन्य है तुम्हारा साहस । शीघ्र ही शशिप्रभा तुम्हारी रानी बनेगी, तुम चिन्ता न करो । कुछ दिन यहाँ आश्रम में रह कर आराम कर लो, बाद में चले जाना ।” राजा ने कहा, “प्रभो ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है” और राजा कुछ दिन वहीं रुक गया ।

एक दिन स्वप्न में राजा ने शशिप्रभा को देखा । उस स्वप्न ने राजा को धैर्यहीन कर दिया । शशिप्रभा से मिलनोत्सुकता ने उसे व्याकुल कर दिया । वह शशिप्रभामिलन की कल्पना में मग्न था, इसी बीच उसकी दक्षिण भुजा विशेष रूप से पकड़ने लगी । वह विचारमग्न ही था कि इतने में उसे ब्रह्ममुनि आये दिखाई पड़े । समीप आने पर मुनि ने राजा से प्रश्न किया—“आपकी थकान दूर हो गई ?” राजा ने उत्तर दिया—महाराज, आपके चरण के रज कणों के स्पर्श से ही मेरी थकान दूर हो गई थी । चन्द्र-किरणों का स्पर्श पाने पर भला कुमुदिनी कभी कान्तिहीन हो सकती है ! महाराज ! मैं आपके दर्शन से ही अपने को धन्य समझता हूँ ।”

इतनी बातें हो ही रही थी कि राजा ने सहसा आश्रम के एक दाहिम वृक्ष पर फल ग्रहण करते हुए एक कपि को देखा । वह कपि उस दाहिम वृक्ष को त्याग कर शीघ्र ही राजा और मुनि के मध्य में आकर लड़ा हो गया । उस बादर ने राजा को एक अनार दिया । राजा को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो सीतान्वेषण का सहायक यह हनुमान ही आया है, और उसे भेंट अर्पित कर रहा है । राजा गार-बार उस फल को देख रहा था, उसकी लालिमा को देख कर उसे शशिप्रभा के अवरो का स्मरण हो आया । राजा का हाथ कम्पायमान हुआ और वह फल भरती पर गिर कर फूट गया । उससे एक लालमा वहाँ पर पैर गई, मानो शिव के तृतीय नेत्र की ज्वाला पैली हो । राजा ने सहसा नर्मदा के दिये ककण को कपि के हाथ में पहना दिया । ककण पहनते ही वह कपि एक श्यामाकृति का पुरुष बन गया । उसने विस्मित मुनि, राजा और रमाकृद को प्रणाम किया । मुनि ने उससे पूछा, “इस आश्चर्य का कारण क्या है ? तुम कौन हो ? कैसे तुम कपि बने हुए थे ?” उसने कहा—“महाराज, मैं शिखण्डकेतु का पुत्र हूँ, मेरा नाम शशिखण्ड है । मेरे पिता विद्याधरराज हैं । मैं शशिकान्त पर्वत का निवासी हूँ । एक बार मैं मण्डीप में वहाँ की सर्वसुन्दरी मालती को देखने गया । उसे मैंने देखा और वह मुझ पर आसक्त हो गई । मैं उसे लेकर आकाशमार्ग से चलने लगा । कुछ देर बाद हम समुद्र के ऊपर उड़ने लगे । इतने में मालती का सीमन्त चूड़ामणि गिर पड़ा । मैं उसे पकड़ने की चेष्टा करता रहा, पर वह समुद्र में गिर ही गया । मैं उसकी प्राप्ति के लिए समुद्र में प्रविष्ट

हुआ। मैंने देखा कि उस मणि को हाथ में लेकर एक सर्वोत्तुन्दरी कन्या ममता की मूर्ति जैसी एक आश्रम में जा रही है। मैंने उससे बार-बार अपनी प्रिया का सीमन्त-चूड़ामणि माँगा। बारबार माँगने पर भी जब उसने वह नहीं दिया, तब मैंने उसकी मकराकृति पादुकाएँ हरण कर लीं। उसने हल्ला मचाया कि क्या यह आश्रम निर्जन हो गया, जो कोई भी मेरी सहायता नहीं कर रहा है? इस दुष्ट ने मुझे लूट लिया। ऐसा कह कर वह जोर-जोर से रोने लगी। उसकी कंदन-ध्वनि को सुनकर रत्नशिलाग्रह में एक महातपस्वी मुनि बाहर आया। उस लड़की ने उनसे कहा, “महाराज! आपके आश्रम में इस दुष्ट नीच ने मेरी रत्नजटित पादुकायें छीन ली हैं।” जब तक मैं भी कुछ कहने ही वाला था कि उस मुनि ने भृकुटि चढ़ाकर आँखें लाल कर कहना आरम्भ किया—“दुष्ट, तुझे ज्ञात नहीं कि मेरे आश्रम में बिना मेरी आज्ञा के पवन भी एक तिनका हरण नहीं कर सकता? और तू अचला के आभूषण का अपहरण करना चाहता है? जा, इस महापराध के कारण तू कपि बन जा।” इस प्रकार उसने मुझे शाप दे दिया।

मुनि का क्रोध शान्त हो जाने पर मैंने प्रार्थना की—“भगवन्, मेरी भवितव्यता ही ऐसी थी, पर अब यह बतायें कि मेरे इस शाप का अन्त कब होगा?” उसने कहा, “जब वंकुमुनि के आश्रम में आकर सीयकराजपुत्र सिन्धुराज नर्मदा के दिए हुए कंकण को तेरे हाथ में डालेगा, तब तू शाप से मुक्त हो जायगा। इसी प्रतीक्षा में मैं आपके आश्रम में रहता था। आज इस नृप ने मुझे शापमुक्त कर दिया। महाराज, अब मैं यदि अपने शरीर को देकर भी इस नृपति का प्रत्युपकार कर सकूँगा तो मैं अपने को धन्य समझूँगा। मुझे कोई काम बतायें जिससे मैं इस नृपति से उन्मृण हो सकूँ।”

राजा ने भी शशिखण्ड से अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। विद्याधर-पुत्र भी अपने घर न जाकर राजा के कार्य को सिद्ध करने के लिए सचेष्ट हो गया। उसने कहा, “महाराज, आप वज्राकुश राक्षस पर आक्रमण करें। विद्याधरों की समस्त सेना आपके साथ होगी। इतना कह कर वह राजा के लिए एक रथ लाया। राजा, रमांगद और शशिखण्ड तीनों वंकुमुनि के निर्देशानुसार वज्राकुश पर चढ़ाई करने के लिए चल पड़े। आश्रम से चल कर आकाशमार्ग से उनका रथ चलने लगा। उसकी गति को विद्याधर, गन्धर्व, नाग सभी देखने लगे। आकाश-मार्ग से दर्शनीय नाना प्रकार के दृश्यों को देखते हुए वे वज्राकुश के निवास से थोड़ी ही दूर पर पातालगंगा-तट पर उतरे। वहाँ विद्याधरों द्वारा निर्मित निवासस्थान पर पहुँच कर राजा ने विभ्राम किया। गंगा में स्नान कर पथजन्य परिश्रान्ति को दूर किया।

इसी बीच वहाँ पाटला भी आकाशमार्ग से आ गई। द्वार पर उसे रमागद मिला। रमागद के साथ वार्त्तालाप होने पर वह राजा के पास गई। उसने राजा को प्रणाम करके रमागद को पत्र दिया और संकेत दिया कि वे उसे राजा को पदकर सुनायें। पुन वह राजा के समीप ही बैठ गई। फिर राजा की कुशल पूछी और कहा कि “आप इस मयानक मूम में कैसे आ गये। अहो, आप बेचारी शशिप्रभा के लिए कितनी आपत्ति सह रहे हैं।”

राजा ने कहा, “पाटले ! क्या शशिप्रभा कभी हमारा स्मरण भी करती है ? अनगवती, मालती क्या कहती हैं ? नागलोक में हमारे विषय की कोई चर्चा होती है क्या ? मैंने रत्नचूड़ को अपना सन्देश देकर शशिप्रभा के पास भेजा था, क्या उसे सन्देश मिला ? तुम यहा कैसे आई हो ? तुम कुछ उदास सी दीख रही हो, बताओ तो बात क्या है ?” पाटला ने कहा, “इस पत्र में सब कुछ लिखा है। पहिले आप इसे पढ़ लें। रमागद ने राजा को पत्र दिया, राजा ने उसे पढ़ना प्रारम्भ किया। उसमें लिखा था—“भीमन्, आपका कल्याण हो। मैं मारुदवती अपनी सखी शशिप्रभा के कहने से लिख रही हूँ कि जब से शशिप्रभा आप से विरक्त हुई है, उसकी दशा चिन्ताजनक है। आपका प्रेम उसके लिए निष्ठ हो गया है। वह न विनोद करती है न शयन और न भोजन, हम मृत समझाती हैं, पर उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी मरणासन्न दशा हो रही है। दीपशिखा की भाँति वह प्रतिपल आपके स्नेह के बल पर जल रही है। अतः आप शीघ्र ही हेमपद्म को लेकर आयें और शशिप्रभा के प्राण की रक्षा करें।”

पत्र पढ़ने के पश्चात् राजा ने पाटला से कहा—“पाटला, जो दशा तुम्हारी सखी की है, क्या तुम वही दशा मेरी नहीं देख रही हो ? तुम शीघ्र जाओ और शशिप्रभा को आश्वासन दो कि मैं हेमपद्म लेकर शीघ्र ही आ रहा हूँ, धैर्य धारण करो। यह न हो कि मेरा मनोरथ व्यर्थ जाय। प्राणधारण किये रहना।”

सन्देश पाकर पाटला चली गई।

राजा ने रत्नपुरी क प्रति गमन की इच्छा की। इसी बीच कणिकुमार रत्नचूड़ भी लौटकर वहा आ गया। वह अपनी सेना के सहित राजा के साथ चल पड़ा। विद्याधरों और नामों की सभी सेनायें सिंधुराज के साथ हो गई।

तब सिंधुराज ने वज्राकुश के पास रमागद को दूतत्त्व में भेजा और सन्देश दिया कि तुम शान्तिपूर्वक हमें स्वर्णकमल दे दो। रमागद रत्नपुरी पहुँचा। वहा वज्राकुश से मेट होने पर उसने रमागद से पूछा, “आपका यहा कैसे आना हुआ ? आप तो भव्याकृति के व्यक्ति हैं, आपको देखकर

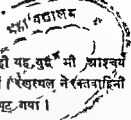
प्रीतिमात्र उत्पन्न होता है। मालूम होता है, आप सिन्धुराज के दूत हैं। हमने आपके स्वामी के सेना सहित आगमन का समाचार पा लिया है। आपका स्वामी क्या चाहता है ? मैं याचक की प्रार्थना को कभी विफल नहीं करता हूँ, निःसंकोच कहिये, क्या चाहता है आपका स्वामी ?”

रमांगद ने कहा, “तुम वास्तव में प्रीति के पात्र हो, जो इस प्रकार स्वागत करना जानते हो। तुम नवसाहस्रों के विषय में भी सब कुछ जानते ही होगे। वे फणिराजपुत्री शशिप्रभा ने पाणिग्रहण करना चाहते हैं। परन्तु उसका शुल्क तुम्हारी वावड़ी में उत्पन्न होनेवाले स्वर्णकमल को देना होगा। इसलिए यह अच्छा होगा कि तुम भी उस स्वर्णकमल को देकर नवसाहस्रों के मित्र बनो, कमल देकर तुम राजा का आतिथ्य करो। तुमने स्वयं ही कहा है कि मैं अर्थियों को विमुख नहीं जाने देता।”

इतनी बात सुनकर वज्राकुश कुछ क्रुद्ध हो उठा, और व्यंग्यमयी हँसी हँसकर बोला, “तुम चतुर होते हुए भी मूर्ख मालूम होते हो। कहाँ तुम घरती के प्राणी और कहाँ शशिप्रभा। ऐसी त्रियाँ जो रत्नोपमा हैं, सदा मेरी ही गोद को अलङ्कृत करती हैं। वह मेरी हो कर रहेगी। उसके योग्य पात्र मैं ही हूँ। मैं इन्द्रादि को भी पराजित करने वाला हूँ। तुम्हारे स्वामी की इस घृष्टता को मैं सहन नहीं कर सकता। तुम्हारा स्वामी विषधर सर्प की मणि को छूने की अनधिकार चेष्टा क्यों कर रहा है ? तुम लोग क्या अपने आपको बैठे-बैठे संकट में डालना चाहते हो ! जाओ, इस अनधिकार चेष्टा करने से अपने स्वामी को रोको। उसे समझाओ कि वह मौत के मुँह में क्यों जाता है, और यदि उसमें शक्ति है तो वह स्वयं आकर मेरी वावड़ी से स्वर्णकमल ले जाय, वह मेरी तलवार का आतिथ्य तो बने।”

रमांगद ने उत्तर में कहा—“मालूम होता है तुम्हारे आखिरी दिन भी समीप ही आ गये हैं। तुम नवसाहस्रों को केवल मनुष्य समझते हो, यह तुम्हारी मूर्खता है। वह भगवान विष्णु का अंश है। यदि तुम हेम-कमल न दोगे तो समझ लो, तुमने अपनी आपत्तियों के लिए द्वार खोल दिया। हम चाहते हैं, तुम्हारी रत्नपुरी में शोक-साम्राज्य न छा जाय। यदि नहीं मानते तो रण के निमित्त प्रस्तुत रहो। तुम्हारे शिरश्च्छेद के साथ ही हमारे स्वामी स्वर्णकमल भी स्वयं ही ग्रहण कर लेंगे।” इतना कह कर रमांगद वापस आ गया। जब रमांगद ने आकर राजा को सब बात सुनाई तो राजा की भृकुटि तन गई। उसने आक्रमण कर दिया। विद्याधर और नागसेना सेना ने चारों ओर से रत्नपुरी को घेर लिया।

इसके पश्चात् वज्राकुश की सेना के साथ विद्याधर और नागसेना का



भयकर युद्ध हुआ। राम-रावण के युद्ध के समान ही यह युद्ध भी आश्चर्य-का था। दोनों शक्तियाँ पूर्ण बल के साथ लड़ रही थीं। ऐश्वर्यशाली नेरस्तवाहिनी का रूप धारण कर लिया। रुद्र-मुण्ड ने समरोपण पट गया।

रमागद राजा की रक्षा में लगा था। राजा मृदु काल सा लड़ रहा था। वज्राकुश ने राजा पर रथचक्र का आघात किया। रमागद ने उसे रोक लिया। अन्त में भयानक युद्ध के पश्चात् राजा ने वज्राकुश का सिर काट लिया, स्वर्ग में पुनर्वाहिनी होने लगी, अप्सराएँ नृत्य करने लगीं।

पुनः राजा ने रत्नवती पुरी में प्रविष्ट होकर वहाँ रत्नचूड़ का अभियेक कर उसे वहाँ का राजा बना दिया। वज्राकुश की बाबडी से स्वर्णकमल लेकर उत्सुकता के साथ वह नागपुरी भोगवती की ओर चल पड़ा। यह समाचार नागपुरी में पहुँचा और शशिप्रभा के पिता ने राजा के स्वागत की तैयारी की। राजा जब वहाँ आया तो नागराज ने उन्हें अभ्यर्चन दिया और अपने साथ पुरप्रवेश कराया। उस समय रमागद, विद्याधरपति शशिलक्ष्मण, नागपुत्र रत्नचूड़ और अन्य प्रमुख सैनिक भी राजा के साथ थे। नागपुरी की स्त्रियाँ इस भीतूहल को अपने-अपने गवालों से देखने लगीं। राजा के रूप को देखकर सब मुग्ध हो गईं, और दर्पण में अपनी अपनी सुरतें देखने लगीं कि हम इसके योग्य हैं कि नहीं।

जब राजा नागराजदह में आया, सब बन्दिनों ने उसका यशोगान करना प्रारम्भ कर दिया। राजा की अद्भुत शक्ति का प्रभाव देख कर सब उसे अद्भुत से देखने लगे और नागराज भी कह रहा था कि धन्य है यह नृपति, इसने वज्राकुश जैसे असुर को मार कर हमारी प्रतिष्ठा पूर्ण की। अब यह स्वर्णकमल शीघ्र ही शशिप्रभा को पहना कर उसे राजा के अधीन कर दिया जाय।

उस उपलक्ष्य में पहले राजा को हाटकेश्वर महादेव का दर्शन कराया गया। राजा ने हाटकेश्वर की पूजा की। पुनः वह लौटकर रावणदह में आया। समस्त पुरवासियों ने राजा का स्वागत किया।

प्रथम ही निर्मित मण्डप के नीचे विद्याधरपुत्र और रमागद को आसन देकर एक पण्डितकुमार ने बैठा दिया। पुनः राजा भी वहाँ आकर स्वर्णसन पर बैठ गया। फिर वहाँ की सुवर्णियाँ भगवन्गीत गाने लगीं। राजा की दृष्टि सहसा उसी मृग पर जा पड़ी, जो उसने त्रिष्याचन में देखा था। और उसी के साथ आती हुई शशिप्रभा पर भी रमागद और राजा की दृष्टि एक ही साथ पड़ी। वह अत्यन्त सुन्दर वेश भूषा धारण किये हुए थी। सखियाँ उसके साथ में थीं और वह लबाठी हुई धीरे धीरे चली आ रही थी। सहसा नायक ने नायिका को और नायिका ने नायक को देखा।

उस समय उनकी गति अनिर्वचनीय थी । शशिप्रभा की सहेली माल्यवती ने राजा से कहा—“श्रीमन्, अब विलम्ब क्यों कर रहे हैं ? अपने भुजबल से उपाजित इस स्वर्णकमल से इसके कान को अलंकृत करें, और नागराज की प्रतिज्ञा को पूरा करें ।” राजा ने जैसे ही उसके कर्ण को अलंकृत करने के लिए हाथ बढ़ाया, वैसे ही वह इन्द्रधनुषी आकृति वाला मृग मृगरूप को त्यागकर पुरुष रूप में परिणत हो गया । राजा को आश्चर्य हुआ । नृपति ने उससे पूछा—“तुम कौन हो ? तुम कैसे मृग हो गये थे ?” वह सतृष्ण नेत्र से राजा को देखकर बोला—“मैं हर्षदेव नृपति का प्रतिहार था । एक बार कैलास पर्वत से आया हुआ मुनि कश्यप राजदरबार में प्रविष्ट होना चाहता था । मैंने उसे रोका । उसने क्रोध में आकर मुझे शाप दे दिया कि जा, तू मृगयोनि में विचरण कर और जब नवसाहसार्द्ध कण्णिराजपुत्री शशिप्रभा के कान में स्वर्णकमल पहनायेगा, तब तेरे शापकी मुक्ति होगी”, इतना कह कर वह पुरुष राजा के ऊपर पुष्प चढ़ाकर आकाशमार्ग से चला गया और कह गया कि मैं सर्वत्र तुम्हारे यश का विस्तार करूँगा ।

इसके पश्चात् नागपुरी में नागराज के घर पर विवाह-मंगलविधि पूर्ण की गई । पुत्री को समर्पित करते हुए नागराज ने नृपति से कहा—“आपकी क्या दिया जाय ! आपके योग्य हमारे यहाँ कोई भी वस्तु नहीं है । यहाँ को सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति यह एक स्फटिकनिर्मित शिवलिङ्ग है । यह अर्धनारीश्वर के आकार का है । इसके दर्शन करने पर देखने वाला साक्षात् शिव को इसी में देख लेता है ।” इतना कहकर उसने राजा को शिवलिंग दिया और राजा ने उसे अपने यश के रूप में ग्रहण किया । राजा के स्वागत में वहाँ नाना प्रकार की वाद्यध्वनि की गई और पूर्ण रूप से उसका स्वागत किया गया ।

विवाहोत्सव की समाप्ति पर कुछ दिन वहाँ रह कर राजा अपनी राजधानी धारानगरी जाने के लिए उत्सुक हो गया । वहाँ से विदा होकर जब सिन्धुराज अपनी नगरी में आया तो पुरवासियों ने महोत्सव मनाया । लाजा और पुष्पाञ्जलियों की वर्षा की गई । जिस प्रकार राम लक्ष्मण और सीता के साथ अयोध्या आये थे, राजा भी रमाङ्गद और शशिप्रभा के साथ वैसे ही घर आए । घर आकर वे महाकालेश्वर का दर्शन करने गये । पुनः राजकुल में प्रविष्ट हुए । उज्जयिनी में कुछ दिन व्यतीत करके पुनः वे धारा नगरी गये । राजा के वहाँ जाने पर धारा नगरी माना प्राण्वती सी हो गई ।

वहाँ की शोभा वर्णनातीत हो गई । वहाँ राजा ने फिर नागराज के दिये हुए शिवलिंग की प्रतिष्ठा की । उत्सव के अन्त में अपने साथ आए

हुए अतिथियों का हृदय से स्वागत करके उनको आर्त्तिगान करके राजा ने शशिप्रसाद और रत्नचूड़ दोनों को विदा किया । वे लोग अपने अपने देशों को गये ।

कुछ दिन बाद शशिप्रसाद की सखियाँ भी उसे प्रबोध देकर अपने-अपने घरों को विदा हुई । कुछ दिन बाद फिर राजा ने राज्यभार ग्रहण किया । इस प्रकार सिन्धुराज शशिप्रसाद और राज्यलक्ष्मी को पाकर आनन्द से समाधि की सहायता से राज्यशासन करने लगा ।

प्रमाण ग्रंथ

प्रस्तावना लिखने के कार्य में अनेक ग्रन्थों का उपयोग किया गया है।
उन ग्रन्थों के लेखकों का मैं आभारी हूँ। जिन ग्रन्थों का उपयोग किया
गया है, उनकी सूची नीचे दे दी गयी है।

१. काव्यप्रकाश

२. ध्वन्यालोक

३. साहित्यदर्पण

४. संस्कृत साहित्य का इतिहास : श्री पं० बलदेव उपाध्याय

५. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा : श्री पं० चन्द्रशेखर शास्त्री

६. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल लिटरेचर : श्री बृष्णमाचारी

७. सरस्वतीकण्ठामरण

८. मुद्राराक्षस की आलोचना

९. शकुन्तला नाटक

१०. किरातार्जुनीय

११. शिशुपालवध

१२. मेघदूत

१३. राजा मोक्ष : श्री वि० ना० रेव

१४. हिन्दू राक्षस १, २ : कायसवाल

१५. हिन्दू राक्षस : लक्ष्मीधर वाजपेयी



भूमिका-सूची

विषय	पृष्ठ
संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक परम्परा	१
नवसाहसकचरित का स्थान	५
—विरोधताप	७
—मूलवृत्त	११
—इतिवृत्तियोजना	१२
—शरित्र चित्रण	१३
—रसयोजना	१६
—अलंकारयोजना	२५
—प्रकृति चित्रण	३७
—शैली	४५
—छन्दोयोजना	५१
—उपसंहार	५६
—कथासार	५७
प्रमाण ग्रन्थ	७०

ग्रन्थ-सूची

		पृष्ठ
प्रथमः सर्गः	...	१
द्वितीयः सर्गः	...	१८
तृतीयः सर्गः	...	३४
चतुर्थः सर्गः	...	५१
पंचमः सर्गः	६५
षष्ठः सर्गः	८०
सप्तमः सर्गः	...	१००
अष्टमः सर्गः	...	११६
नवमः सर्गः	...	१३२
दशमः सर्गः	...	१४४
एकादशः सर्गः	...	१६०
द्वादशः सर्गः	१८१
त्रयोदशः सर्गः	...	१९६
चतुर्दशः सर्गः	२१०
पञ्चदशः सर्गः	...	२२६
षोडशः सर्गः	२४०
सप्तदशः सर्गः	२६०
अष्टादशः सर्गः	२७४

मङ्गल-नवपदी

पद्मगुप्त कवि ! अमर ! अमर हँ दिव्य तुम्हारी वाणी ।
सद्दय जन मन मुग्ध कर रही जो मुग्धदा कल्याणी ॥

(२)

सिन्धुराज नवसाहसाङ्क को, तुमने अमर बनाया ।
नहीं आज तक कुटिल काल ने जिसके यश को खाया ॥

(३)

देख तुम्हारी सुषोपमाकृति, भाव हृदय में आया ।
हिन्दी प्रेमी पढ़े इसलिये यह अनुवाद बनाया ॥

(४)

गुरुवर श्री अद्वयजी ने यह मुझको मार्ग दिखाया ।
उनकी ही आज्ञा से मैंने आगे पैर बढ़ाया ॥

(५)

पढ़े सभी इस भव्य ग्रन्थ को काव्यामृत रस पायें ।
परिमल पद्मगुप्त की वाणी का मन से गुण गायें ॥

(६)

जिन गुरु-चरणों की अनुकम्पा से बल मुझमें आया ।
उन चरणों पर भक्ति भाव से हूँ मैं सीस नवाया ॥

(७)

सिंह सट्टा 'सत्यव्रत' पालक गुरु पथ-दर्शक पाये ।
बैठ चन्हीं के चरणों में कुछ भाव नवीन सजाये ॥

(८)

गुरु श्री सत्यव्रत सिंह जी का मिला सहारा भारी ।
तभी काव्य के भाषान्तर का हुआ सफल अधिकारी ॥

(९)

उनके ही चरणों पर ये मृदु अद्भुत सुमन चढ़े गे ।
होगा सफल यत्न मेरा, यदि पाठक इसे पढ़े गे ॥



• विराजता सा जननो सरस्वतो •

परिमलापगन्नामः पद्मगुप्तस्य कृतिः—

नवसाहसार्द्धचरितम् ।

अव्यात् स घो यस्य निसर्गपङ्क्तं स्पृशत्यधिज्यस्मरचापलीलाम् ।

जटापिनद्धोरगराजरत्नमरीचिलीढोभयकोटिरिन्दु ॥ १ ॥

शिव (देवाधिदेव) के शिर पर स्थित वह स्वभावतः टेढ़ा चन्द्रमापाठक एव भोता की रक्षा करे जिसके शोनोछार शिवशिर स्थित सर्प की मणिकिरणों का स्पर्श पा रहे हैं और जो कामदेव के धनुष के समान है ॥ १ ॥

जटाहिरत्नगुतिपाटलोऽव्यात् स व शशी शङ्करमीलिरत्नम् ।

श्रुतानशोकाङ्कुरकौतुकेन य कतुमिच्छत्यचलेन्द्रकन्या ॥ २ ॥

शिवशिर का आभूषण बना वह चन्द्रमा भोता एव पाठकों की रक्षा करे, ता शिव का जटाओं में स्थित सर्पगज की मणिकिरणों से लाल वर्ण का बना हुआ है, और जिसे जगत् का अकुर समझ कर पार्वती अपना कणाभरण बनाना चाहती है ॥ २ ॥

कुम्भस्थली रक्षतु नो त्रिकीर्णसिन्दूररगुद्विरदाननस्य ।

प्रशान्तये निव्रतमन्त्रदाना निष्ठयूतवालातपपल्लवेन ॥ ३ ॥

गजानन गणना के गण्टस्थल आपकी रक्षा करें, जिन पर सिन्दूर सुशोभित हो रहा है । मन्त्रा वह निष्ठरूपो तमस्ताम का नाश करने के लिये बाणधर्त की भाँति चमक रहा है ॥ ३ ॥

चक्षुस्तदुन्मेषि सदा मुग्धे व सारस्वत शाश्वतमाविरस्तु ।

पश्यन्ति येनावहिता कवीन्द्रास्त्रिविष्टपाभ्यन्तरवति वस्तु ॥ ४ ॥

जिससे समाहित चित्तवाले कवि राग तीनों श्रेणियों में स्थित वस्तु की देखने में समर्थ होते हैं, वह शाश्वत देदीप्यमान (सारस्वत चक्षु) प्रतिभा आप (सामाजिकों) की वाणी से आविर्भूत होती रहे ॥ ४ ॥

प्राचीनकविवर्णनम् ।

तत्त्वस्पृशन्ते कवयः पुराणः श्रीभर्तृमेण्डप्रमुखा जयन्ति ।

निश्चिरावागसद्गुणेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥ ५ ॥

प्राचीन कवियों का वर्णन ।

(अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रति प्रदार्जलि) तत्त्ववेदी उन भर्तृगण आदि कवियों का जय हो (वे सर्वोपरि हैं) जिनकी कविता उस वैदर्भी मार्ग पर चलती रही, जिस पर चलना स्वप्न पर चलने के समान है ॥ ५ ॥

पूर्णेन्दुविम्बादपि सुन्दराणि तेषामपूरे (मदूरे) पुरतो यथांसि ।

ये भर्तृमेण्डादिकवीन्द्रसूक्तियुक्तोपदिष्टेन यथा प्रयान्ति ॥ ६ ॥

जा कवि लोग भर्तृगण आदि कवियों के काव्यरस पर चलते हैं, उनकी का पूर्णचन्द्र से भी अधिक सुन्दर यश सर्वत्र फैलता है ॥ ६ ॥

सरस्वतीकल्पलतैककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम् ।

यस्य प्रसादाद्व्यमयनन्यकवीन्द्रचीर्णं पथि संचरामः ॥ ७ ॥

सरस्वतीकल्पा कल्पलता के कन्दभूत उस वाक्पतिराजदेव की मैं (पद्मगुत) प्रणाम करता हूँ, जिसकी कृपा से मैं भी कवियों के अशस्त एवं सर्वश्रेष्ठ मार्ग पर चल रहा हूँ ॥ ७ ॥

दिव यियासुर्मम वाचि मुद्राम् अदत्त यो वाक्पतिराजदेवः ।

तस्यानुजन्मा कविवान्धवस्य भिनन्ति नाम सम्प्रति सिन्धुराजः ॥ ८ ॥

(अ) जिस वाक्पतिराजदेव के मग जाने पर मेरी वाणी मुद्रित (मोन) हो गई थी, आज उस मोन वाणी का उनका लघु भ्राता कवियों का बन्धु, सिन्धुराज काव्य-निर्माण के लिये प्रेरित कर रहा है ॥ ८ ॥

कवेः शालीनतादि ।

नैते कवीन्द्राः कति काव्यवन्धे तदेष राजा किमहं नियुक्तः ।

किं बालुकापर्वतके धरेयम् आगोप्यते सत्सु कुलाचलेषु ॥ ९ ॥

कवि का विनय-प्रदर्शन ।

क्या काव्य निर्माण के लिए मुझने अच्छे और कवि नहीं थे जो सिन्धु-राज ने मुझे ही नवमाहसांकचरित - निर्माण के लिए नियुक्त किया । भला

(अ) तंजौर से मिली नवसाहसांक चरित का एक हस्तलिखित पुस्तक से इस कवि का दूसरा नाम कालीदास होना पाया जाता है । यद्यपि इस कवि ने अपने आश्रयदाता मुञ्ज के मरने पर कविता करना छोड़ दिया था, तथापि अन्त में मुञ्ज के छोटे भ्राता (भोज के पिता) सिन्धुराज के कहने से नवसाहसांक-चरित नामक १८ सर्गों के काव्य की रचना करने की (इस श्लोक में यही घटना लिखी है) राजा भोज ३ पृ० (वि० नाथ रंज)

अनेक शक्तिशाली पुत्राचार्य (परंतों) पर स्थिर रहने वाली यह पृथ्वी गालू
के पयस पर टिक सरेगी ? (अर्थात् मैं नगण्य व्यक्ति भत्ता इस काम को पूर्ण
कर सकूंगा ?) ॥ ० ॥

प्रहो महत्माहममेतदेव यद्वर्णनीयो नमसाहसाद् ।

वर पश्चिन्द्रेदृक्वा हि सत्य एतद्गुणानामुत्प्रेरणा च ॥ १० ॥

नमसाहसात् न चर्चित का प्रणन करना उड़े मात्स का काम है । सास्त्र
में यह उतना ही कठिन कार्य है, जितना समुद्र न चरुणों का पश्चिन्द्रेद
करना ॥ १० ॥

भक्त्याथ वास्येव मम प्रत्ये सूर्मोऽयमुन्मीलति शक्तिशेष ।

उल्लसितो यम् कपिना पयोधि सेवानुभाय म रघूद्वहस्य ॥ ११ ॥

इस प्रत्ये कार्य के निमाण में मरी करि प्रतिभा का ना कुटुम्बी दूम्भा
उन्मीलित हुआ है यह दुर्मी (मित्रुग) का रूपा का शयना मात
का फल है । क्योंकि (उद्यो न जानानाद से डा कार्य सिद्ध हात है) हनु-
मान् न समग्र पार करने में रामचन्द्र की सेवा का हा प्रभाव था ॥ ११ ॥

ममत्सर चेत्सि दुर्नता न चातुचिन् सूक्तिगुणो गुणाय ।

निसर्गदृग्नेद्रवपूरपोऽ निरर्थक दुर्दमपत्रभद्र ॥ १२ ॥

स्वभाव से ही दृष्णयण का दृष्टव्य (श्यामाराम) न रूपात्मा पर जिस
भाँति दुर्दम से चित्र बनाना व्यर्थ है उमा भात दाह से गुन दुर्नो के
चित्त में कार्य गुण भा निरर्थक हा जाता है ॥ १२ ॥

किमन्यदस्याश्रितैर्नृपस्य मुक्तावदात कृतमण्डनाया ।

मदायसूस्तेर्मुदुरीभवन्तु स्वभावाशुद्धानि मता मनासि ॥ १३ ॥

और क्या कह, मातिया का भाँति इस राजा न उज्ज्वल चारनों से साल-
कृत मेरी यह शानी, स्वभाव से ही निर्मल सजनों के मन में दपण की भाँति
प्रतिबिम्बित होती रहे ॥ १३ ॥

नमोऽस्तु माहित्यरसाय तस्मै निषिक्तमन्त पृषताऽपि यस्य ।

सुवर्णता वक्त्रमुपैति साधोर्दुर्वर्णता याति च दुर्जनस्य ॥ १४ ॥

उस साहित्य रस को मैं नमस्कार करता हूँ, जिसका एक मण भी जल-
करण का छूकर (जन्त करण में व्याप्त होकर) सद्दयों के मुख का सुवर्णता
(भावपूर्ण अवसर) प्रदान करता है और दुर्जन के मुख का निर्वर्ण
(स्थिर) किया भस्म बना देता है ॥ १४ ॥

श्रीसाहसार्द्धोज्ज्वलकीर्तिगर्भा ममाथ वा कं न हरन्ति वाचः ।

कस्यात्र लोभाय न शुक्तयस्ता मुक्ता हि यासामुदरे स्फुरन्ति ॥ १५ ॥

श्रीसाहसार्द्ध की उज्ज्वल कीर्ति से मण्डित मेरी वाणी भला किमके मन को न मुग्ध कर देगी, जिन सीपियों के गर्भ में मोती रहते हैं उन्हें देखकर किमका मन नहीं ललच उठता ? ॥ १५ ॥

प्रतिज्ञा ।

एतान्यवन्तीश्वरपारिजातजातानि तारापतिपाण्डुराणि ।

सम्प्रत्यहं पश्यत दिग्वधूनां यशःप्रसूनान्यवर्तसयामि ॥ १६ ॥

प्रतिज्ञा ।

अब मैं अवन्तिनाथरूपी पारिजात से उत्पन्न, चन्द्र के समान उज्ज्वल यक्षरूप पुष्पों की माला बनाकर सबके सामने ही दिग्वधुओं का कर्णाभरण बनाना चाहता हूँ । (अर्थात् अपने काव्यग्रन्थद्वारा उनका यश सर्वत्र फैलाना चाहता हूँ) ॥ १६ ॥

अथ उज्जयिनीवर्णनम् ।

अस्ति क्षितावृज्जयिर्नाति नाम्ना पुरा विहायस्यमरावतीव ।

वचन्ध यस्यां पदमिन्द्रकल्पः श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीशः ॥ १७ ॥

नवसाहसार्क की राजधानी उज्जयिनी का वर्णन ।

स्वर्ग में अमरावती की भाँति इस धरती पर उज्जयिनी नाम की नगरी थी, और इन्द्र के ही समान विक्रमादित्य नाम का (नवसाहसार्क) राजा वहाँ राज्य करता था ॥ १७ ॥

आमञ्जुगुञ्जत्कलहंसपंक्तिविक्रम्वराम्भोजरजःपिण्डा ।

आभाति यस्याः परिखा नितम्बे सशब्दजान्मृनदमेखलेव ॥ १८ ॥

यहाँ थी वह उज्जयिनी जिसके परिखा (खाई) रूपी नितम्ब भाग पर स्थित विकसित कमलों के पराग से पोली बनी हुई और गुञ्जार कर्त्ती हुई कलहंसों की पंक्ति ऐसी प्रतीत होता थी मानो शब्द करने वाली सोने की कशमनी हों ॥ १८ ॥

प्राकारवप्रच्छलतः शरीरम् आवर्त्य लीलाशयनं मुरारिः ।

यत्रान्तरस्थायिनिधानरक्षां विधातुमुन्मग्न इवोरगेन्द्रः ॥ १९ ॥

जिसके बड़े-बड़े प्राकार (परकोट) ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों विष्णु का लीलाशयन शेषनाग अपने शरीर को कुण्डलाकार करके स्थित हो गया हो, और समुद्र के रत्नों की रक्षा की भाँति यहाँ भी वह सजग होकर उज्जयिनी की सम्पत्ति की रक्षा कर रहा हो ॥ १९ ॥

पदे पदे मान्द्रसुधोज्ज्वलानि गृहाणि या नास्सदा विभक्ति ।

अभ्युदगतानां फणीन्द्रलोकम् आपूर्य तद्भूमिमृता यशामि ॥ २० ॥

जिसमें जरा जरा दूर पर मुग के समान ज्वेत भजन ह, जिनके कारण वह देवताओं की पुरी सी उम रही है । जिसके भजन पाताल लोक में अपने नृपतियों का यश पेग कर जय मानो मर्म की ओर (यशप्रचार के हेतु) बढ़ रहे हैं ॥ २० ॥

हिमच्छटाहारिभिर्गुञ्जालैः प्रालम्बिमुक्ताफलजालकानि ।

विलासिनीविभ्रममन्दिराणि यस्या हसन्तीव परस्परस्य ॥ २१ ॥

जिसमें तुपार के समान घबल मणिकिरण कान्ति से परिपूर्ण, एग उड़ी बड़ी लट्कती हुई मोतियों की मागणों से मने हुए विलामिनिया के केलि (रात्रिक्रीडा) भरा ऐसे जान पड़ते ह, म ना एक दूसरे का शोभा देकर आपस में हँस रहे हों ॥ २१ ॥

गृहाणि यस्यां मयराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्गना ।

रूप ममुन्मीलितसद्विलासमन्त्र विलासा कुसुमायुधस्य ॥ २२ ॥

जिस उज्जिया में गृह मुन्दर स्त्रियों में पूण हैं, वराङ्गनाएँ रूपरती हैं, रूप हाव भाव का प्रकट रगने बाग ह, और हाव भाव सायात् काम के जख हैं ॥ २२ ॥

यन्त्रानैरण्द्राभमिख्या मितारमनायनपङ्क्तिरेति ।

अम्भोर्हृदरञ्जलहेमन्लृप्तैरगनाशगङ्गाजलवेणिवेव ॥ २३ ॥

जहाँ सगमरमर व भराणों का पत्ति मृगलाचनाओं व मुगों से ऐसी सुन्दर जाग पड़ती है माना स्पर्णमला से मुशोभित जाकाशगंगा की वेणी हा ॥ २३ ॥

विधूयमाना पत्रनेन यस्या नीलाश्मवेशमारणवेजयन्त्य ।

भिन्नाञ्जनश्यामधनोद्गताना तटिल्लताना श्रुतिमायहति ॥ २४ ॥

हा नागकान्त मणियों से रने हुए भजना पर लगी हुई गेरु रग की ध्वजाय जय वायुवेग से प्रचलित हाती हैं, तय ऐसा प्रतीत हाता है, मानो कृष्णवर्ण के मेरों में पिजली चमकती हुई दिखाई दे रही हो ॥ २४ ॥

उदेति कान्तामणिमेखलानां गृहेगृहे यत्र गुरुनिनाद ।

आयाति योऽनङ्गजयद्विपस्य मदायतारोत्तरविष्टिमत्वम् ॥ २५ ॥

जहा प्रत्येक घर की वराहारियों की मणिमेखला का मधुर चनि ऐसी प्रतीत होती है, मानो कामदेव रूपी विजयी गज के (गमन की) प्रथम

मदावतार उत्सव की मधुर घोषणा की जा रही हो (मणिमंजला की ध्वनि के श्रवण मात्र ने ही कामोद्दीपन होने लगता है) ॥ २५ ॥

मुखेन्दुभिः पौरविलासिनीनां कपोलकान्त्या कृतमविभागः ।

नयाति काश्यं बहुलोऽपि यत्र वातायनासन्नचरः शशाङ्कः ॥ २६ ॥

जहा पौरवधुओं के मुखचन्द्र की कान्ति द्वारा सौन्दर्य युक्त चन्द्रमा जब भवनो की गिडकियों के समीप विचरण करता है तो कृष्ण पक्ष में भी वह क्षीण नहीं होता (अर्थात् मुखचन्द्र की कान्ति पाकर वह पीडश-कला-पूर्ण हो जाता है ।) ॥ २६ ॥

न पक्षपातेन वदामि सत्यमुपस्मृ यस्यां भवनाङ्गणेभ्यः ।

सम्मार्जनीभिः परतः क्रियन्ते विसूत्रितैकावलिमौक्तिकानि ॥ २७ ॥

मैं बिना किसी पक्षपात के सत्य कहता हूँ कि जहा प्रत्येक घर के आगनों से, रात्रि में स्त्रियों द्वारा पहनी हुई मोतियों की मालाओं में (रति-रण में) टूटे हुए मोती प्रातःकाल भाड़ू लगाकर बटोरे जाते हैं ॥ २७ ॥

यस्यामसंक्षिप्तदृशां स्तनाङ्के वस्तूरिकापत्रलता चकास्ति ।

शरासनाभ्यासविधौ समाप्ते मुक्तेव गोधा मकरध्वजेन ॥ २८ ॥

जहा की दीर्घलोचना नारियोंके कुचाग्रभाग पर कन्तूरी की पत्ररचना शोभा पाती रहती है, जिसे देखकर ऐसा विचार उठता है कि मानो काम-देव ने धनुर्विद्या का अभ्यास करने के पश्चात् (अधिकाधिक कटाक्षपात के पश्चात्) अपना अंगुलित्राण (गोधा) यहा पर रख छोड़ा हो ॥ २८ ॥

विलासिनीसद्वलसत्पताकापटाञ्जले काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।

निरन्तरैर्या रणितैरजस्रमाज्ञामिवोद्घोषयति स्मरस्य ॥ २९ ॥

जहा विलासिनी नारियोंके भवनों पर शोभा पाने वाली वजाओं के पटाञ्जल पर लगी हुई छोटी छोटी घण्टिकाओं से जो ध्वनि निरन्तर होती रहती है, वह ऐसी प्रतीत होती है मानो कामदेव की रतिरंग आज्ञा घोषित की जा रही हो ॥ २९ ॥

प्रतिक्षणं या गलितांशुकानामनङ्गलीलाकलहोत्सवेषु ।

अनल्पकृष्णागरुधूमभङ्गया वामभ्रवामर्पयतीव वासः ॥ ३० ॥

जो प्रतिक्षण रतिक्रीड़ा महोत्सव में (आनन्द के कारण) अस्त व्यस्त वस्त्र वाली वामलोचनाओं को कृष्ण-अगरु धूप के धुंये के रूप में भीना वस्त्र अर्पण कर दिया करती है ॥ ३० ॥

यत्राष्टमीचन्द्रमुपेयिनासमालम्ब्य सौधेऽसमग्रकान्तिम् ।

केशाहतै केतवर्गभर्तृहरापूरयन्त्यर्धमरालकेश्य ॥ ३१ ॥

यही वह उजयिनी है जहां के सुमालस प्रासादों पर घुंघराले घालोंवाले रमणियाँ समीप जाए हुए जधूरी कान्ति वाले अष्टमी के चन्द्र को पकड़कर अपने केशों पर सजाए गये केरडे के गोच की कोमल पखुड़ियों से परिपूर्ण कर दिया करती हैं ॥ ३१ ॥

लोलारुद्राग्ने मदिरैक्षणां सन्मोहनास्त्रस्फुरित निवेश्य ।

रत्या सह क्रीडति पुष्पवन्या यन्वामशोरुद्रमुवायिकासु ॥ ३२ ॥

जहां कामदेव मदिरैक्षणार्जों के रुद्राक्षों में ता अपने मोहनास्त्र की शक्ति को रज देता है और अशाक घोषिकाओं में रति के साथ त्रिहार करता रहता है ॥ ३२ ॥

जाने जगन्मोहनकौतुकेन विधाय कूजामिपमन्यपुटै ।

अर्हतिश्च चूतवनेषु यस्यामधीयते मान्मथमस्त्रतन्त्रम् ॥ ३३ ॥

माता जहां आम्रकुंभों में कान्तिार्यें भी ससार के वशाकरण के कौतूहल से कलकूजन के गहने काम की प्राणविद्या का निरंतर अध्ययन करती रहती हैं ॥ ३३ ॥

द्विचक्रसचारिमरीचिदण्डच्छलेन चामीरतोरणानाम् ।

अत्रैमि दिक्पालपुरीविजित्य था हेमवन्नग्रहण नियुङ्क्ते ॥ ३४ ॥

स्वर्णरश्मि चित्त तोरणों (द्वारों) के सर्वत्र संचरण करने वाले मरीचिदण्ड (किरण समुदाय) के गहने जा नगरी अमरावती जादि नगरिया को जीत कर उन्हें अपनी प्रतीहारों के रूप में निरन्तर दण्ड ग्रहण करने के काम में नियुक्त करती रहती है ॥ ३४ ॥

लज्जामिषु स्वर्णगनाम्पडङ्क्तेर्या रश्मिदण्डेषु विघूर्णमानै ।

भान्यमवेद्विस्फटिकांशुजालैर्दोध्यमानोऽञ्जलचामरम् ॥ ३५ ॥

जो स्वर्णनिर्मित वातायनपत्तियों के, ऊपर उठ रहे किरणदण्डों के चारों ओर घूमते हुए स्फटिकनिर्मित अग्रवेदिकाओं (गराभों) के किरणजालों से ऐसी जान पड़ती है माना उस पर चमर डुलाए जा रहे हो ॥ ३५ ॥

यस्या गृहप्राङ्गणपद्मरागरश्मिच्छगाटलमन्तरिक्षम् ।

आलिङ्गित किशुकशोणभासा सन्ध्यातपेनेत्र सदा विभाति ॥ ३६ ॥

जहाँ के गृह आगनों में बड़े पद्मराग रमणियाँ की कान्ति से पाटलवर्ण का हुआ अतरीण सदा किशुक (टाक) के समान रत्नवर्ण वाली सव्या-कालीन धूप से आलिङ्गित-मा शोभित होता रहता है ॥ ३६ ॥

अवाप्य यस्यां गृहदीर्घिकाच्छर्वैर्ह्यसोपानमयूखसख्यम् ।

हारीतशङ्खां कलहंसशावा वामभ्रुवां प्रत्यहमर्पयन्ति ॥ ३७ ॥

जहाँ दीर्घिकाओं (बावड़ियों) की वैदूर्य रचित सीढ़ियों की किण्वों का सम्पर्क पाकर कलहंस के बच्चे प्रतिदिन नारियों को अपने प्रति हागिल पक्षी का भ्रम उत्पन्न कराते रहते हैं ॥ ३७ ॥

निकाममच्छदैः प्रमदाकपोलैर्यत्रेन्दुविम्व्राकृतिभिः क्रियन्ते ।

स्ववक्त्रसौन्दर्यविलोकनेषु विलासिनो दर्पणानिर्द्वेषाः ॥ ३८ ॥

जहाँ की नागियाँ ऐसी हैं, जिनके चन्द्रविम्ब समान कपोलफलक विलासियों को अपने मृगसौन्दर्य के देखने के लिये दर्पण को आवश्यकता को दूर कर देते हैं (अर्थात् नियो के कपोलों पर ही उनके मृगों) का प्रतिविम्ब पड़ जाता है) ॥ ३८ ॥

पराङ्मुखीनामपि रत्नभित्तौ प्रमादयन् तद्वदनं विलोक्य ।

यस्यां युवानो हरिणेश्शणानामलीककोपं महत्मा विदन्ति ॥ ३९ ॥

जहाँ बनावटी क्रोध कर प्रिय की ओर पोट करके खड़ी हुई नियों के प्रसन्न मृग का प्रतिविम्ब जब गृह की रत्नभित्तियों (दीवारों) पर पड़ता है तो युवक उन मृगलोचनाओं के बनावटी क्रोध को जोष्ट भाँप लेते हैं ॥ ३९ ॥

कुर्वन्ति यस्यां कुमुमेपुकेलिश्रमोन्मिषत्स्वेदनवास्तरण्यः ।

कपोलकालागरुपत्रवल्लीकल्पापमम्भो गृहदीर्घिकासु ॥ ४० ॥

जहाँ की रमणियाँ काम-क्रीड़ा से परिश्रान्त होकर स्वेद से मने, कालागुरु विभूषित अपने कपोलों को जब गृह-बावड़ियों में जाकर धोती हैं, तो उन बावड़ियों के पानी को भी गँदला बना देती हैं ॥ ४० ॥

यस्यां समुन्मीलति सुन्दरीणां ना कापि सौभाग्यदिशेपलक्ष्मीः ।

विलासमुक्तागुणवद्यदासां सदा प्रियन्तिष्ठति कण्ठलग्नः ॥ ४१ ॥

जहाँ की नियों में एक विशेष प्रकार का सौन्दर्य शोभा होती है । इस-लिये विलास के समय काष्ठ में लग्न मुक्तामाला की भाँति उनके प्रिय सदैव उनके गले का हार ही बने रहते हैं ॥ ४१ ॥

अवमि गीतेन हृते कुरङ्गे पुरन्धिभिः सौधनलस्थिताभिः ।

श्यामासु यस्यां लभते तदच्छकपोलदिम्बानुकृतिं मृगाङ्कः ॥ ४२ ॥

जहाँ गति में लड़कों पर बैठों स्त्रियों के गीत सुनने के लिये जब चन्द्रमा की गोद से मृग हट जाता है, मैं समझता हूँ, चन्द्रमा उन रमणियों के स्वच्छ कपोलों की समता तभी प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥

दुर्गेति सर्वत्र गता प्रसिद्धिं नगेन्द्रस्येव मनोरुपेणा ।

या लग्नकाञ्चीरिषयेण सन्नि मिहासनेनानितरा विभक्ति ॥ ४३ ॥

जो (उज्जयिनी) सर्वत्र उस रूप में प्रसिद्ध है कि गढ़ दुर्गा (पार्वती) है क्योंकि जैसे पारती भगवान् गिर से मयुक्त रहती है वैसे ही यह भी महामालेश्वर के मन्दिर में मयुक्त है जो वैसे दुर्गा अपनी गढ़मती हुई करधनी में प्रियूपित अपने जासन (गह्वर) मिह में अधिक शांति पाती है वैसे ही यह भी उदण्ण स्त्री दुर्गा काञ्ची से सब गन्धविहासन द्वारा अत्यधिक सुगन्धित होती है ॥ ४३ ॥

धृन्नादपास्तैमरुता विकार्यै सुगन्धिविभिन्नारतरुप्रसूनै ।

शिप्रामरित् कलतमालनाला विभाते यस्या कजरालतय ॥ ४४ ॥

जहाँ का शिप्रा नदी किनारे पर गतमांस (प्रतिपत्ति पवन के कारण) नागी नागी दिग्गज ग्राह्य, धृन्तों में व्युत्त सुगन्ध युक्त गन्ध द्वारा इधर उधर फैलाए हुए न गता जो के फल में भगे, एता प्राप्ति होता है, मना उज्जयिनी की पुष्पांशु वणो हा ॥ ४४ ॥

धुमेन या नैरश्लोद्गमान मनेष्ट्यमाणा पतिश्चरति ।

मदात्तरत्नेति समन्मरण कृतोपगारेय महार्णवन ॥ ४५ ॥

अनेक यज्ञों में उठने गत भुक्त चारा जाग में गिरी हुए ता एता दिग्गज द ग्राह, माना मना न गन्तव्य न गन्तु हा कर इस पेर गिया हा द्रमयि कि इनने मेरे ग्लो का चुरा गया है ॥ ४५ ॥

त्रिलङ्घ्यन्ति त्रिनिर्भम यस्या लीलापताना नयनोत्पलानि ।

विभक्ति यस्यामपि त्रिमाणम् एको महाकाजतटार्धचन्द्र ॥ ४६ ॥

जहाँ का त्रिगिता श्रिया के नेत्र समस्त श्रुतिमाग (कर्ममाग, उदय) श्री मा उल्लसन करत है जहाँ गता (देहापन) रही दग्धने का मित्रता है ता केरत महाकाजतटार्धचन्द्र म स्थित न चन्द्र म हा दिग्गज देती है ॥ ४६ ॥

ध्वजाप्रलम्बेन त्रिलम्बना गम्य अनेकरक्षाशुस्मर्येन ।

यस्या म चण्डापतिमहोऽपि विभक्ति मायूरमित्रातपत्रम् ॥ ४७ ॥

जहाँ का चण्डोपति (गिर) मण्डप ऐसा लफला है, माना अपने पत्र के अग्रभाग में लगे हुए, नाना गण केरना के जाकाश में फैलने वाले क्रिणकलाप में मारपन्ना का छत्र गरण कर रहा हा ॥ ४७ ॥

पुरा किल ब्रह्मरुमण्डलोर्ध्वं आपूर्णित पुण्यतमाभिरद्भि ।

धत्तेऽत्र या तत त्रिपुरान्तकस्य तडागमादर्शमिवाङ्कश ॥ ४८ ॥

जो कि अपने अकदेश (गोद) के मध्य भाग में दर्पण की भांति स्वच्छ शिवतड़ाग को धारण कर रही है, जिसका जल पहले कभी ब्रह्मा के कमण्डलु के पावनतम जलकणों द्वारा भर दिया गया था ॥ ४८ ॥

यस्यामनेकामरवेश्मराजिर्मणिध्वजाग्रोच्छलितैर्मयूखैः ।

लिखत्यमर्त्यप्रमदाकुचेपु विचित्रवर्णा इव पत्रलेखाः ॥ ४९ ॥

जहाँ के देवमन्दिरों की अनेकानेक पंक्तियाँ अपनी रत्नवजाओं के अग्रभाग से निकलनेवाली किशोरों के द्वारा स्वर्ग का अम्बराओं के कुचमण्डलों पर रंग-विरंगी पत्र रचना सी करती हुई दिग्वाँ देती हैं ॥ ४९ ॥

यस्यां विसूत्रोज्झितमेखलानि तथा शुकावर्तितसीत्कृताङ्गा ।

शंसन्ति सङ्केतमुपस्यु यूनां शिप्रातटोद्यानलतागृहाणि ॥ ५० ॥

जहाँ शिप्रा के तटवर्ती उद्यानों के वे निकुञ्ज जिनमें मणिमेखलाएँ रति-क्रीड़ा-प्रसंग पर टूटकर उधर उधर पड़ी रहती हैं, और जिनमें शुक नारियों के रति-सात्कार का अनुकरण सा कर रहे हों, मानों प्रातःकाल प्रेमी युवकों के मिलन स्थान का परिचय देते हैं ॥ ५० ॥

मनोहरैः कामिजनम्य यस्यां नारन्ध्रनिर्यन्मृगनाभिगन्धैः ।

सचन्दनैः काञ्चनकैलिशैलैः कुचैरिवोद्यानभुवो विभान्ति ॥ ५१ ॥

जहाँ चन्दन के वृक्षों वाले कस्तूरी को गन्ध में भरे काञ्चन कैलिशैलों में सुशोभित उद्यान-भूमियाँ इस भांति प्रतीत होती हैं, मानों कामियों के मन को मृग्य करनेवाले, निरन्तर निकलते हुए कस्तूरी-सौरभ में भरे और चन्दन से युक्त स्तनों को धारण कर रही हों ॥ ५१ ॥

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ममंभ्रमं पौरविलासिनीषु ।

यत्रोल्लसत्फेनतनिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति शिप्रा ॥ ५२ ॥

जहाँ शिप्रा, जब कि उसमें न्दान करने वाली पुनर्गायियाँ मत्स्यों का सम्पर्क पाकर ससम्भ्रम किनारों पर भाग आया करती हैं, तब अपने निकलते हुए फेन के बहाने अट्टहास भी करती प्रतीत होती हैं ॥ ५२ ॥

नंसर्गमासाद्य विलासिनीनां विलासवेश्मागरुधूपधूमैः ।

वद्भास्पदाः सौधशिखासु यस्यां सुगन्धि तोयं जलदा वगन्ति ॥ ५३ ॥

जहाँ प्रामादों की चाँटियों पर जमे हुए मेघ विलासिनियों के विलास भवनों से निकलने वाले अगुरु धूप के धुएँ का समर्ग पाकर सुगन्ध पूर्ण जल-वरसाते रहते हैं ॥ ५३ ॥

मत्पुष्पगोत्रं योनिरङ्गशोभिन्वमन्दमागच्छामृद्वराणां ।

उद्यानवापीपथमोत्र यस्याम एणाट्टशो नाट्यगृहे स्मन्ते ॥ ५३ ॥

जहा की नागवा उद्यान वापियों में जिनकी गहिरिया रिकसित कमलों में चमक उठा करती हैं तथा जहाँ निगन्तर इतना आराम उठती रहती है, (उनमें) इस प्रकार विहार करती रहता है माना ऐसे नाट्यगृहा में विहार करती हों जा रंगमञ्च पुष्पर यात्रों का ग्यान से मूजते रहते हैं और जिनमें मृदगों की तुमु ध्वनि उद्भूत होती रहता है ॥ ५३ ॥

माणिस्ययानायनशान्तिजालधिलुप्तगध्यातिमिरोत्तरासु ।

इयामासु यस्या प्रमदा क्यचिन्मद्वेतमुत्कम्पितुचा प्रयान्ति ॥ ५४ ॥

जहा की प्रमदायें शौचगी रातों में मणिमण्डित गंगाया के किनारे समूह में गलियों का अन्धकार दूर हो जाने पर किसी किसी का जग मन्त्रे स्थानों पर जाया करती हैं तो माग धरादृष्ट के उन्हे स्नान काँपने गये हैं ॥ ५४ ॥

नद्याम्बुग्राहप्रनिधिस्मरत्या यत्रोच्चहर्म्याग्निरक्षभूमौ ।

व्यक्ति लभन्ते मुरमुन्दगीणा सालक्तता प्रावृषि पान्मुद्रा ॥ ५५ ॥

जहा के पुत्रराज जड भवनों पर जग गया श्रुतु में नद्यान पल्लवों का प्रतिरिम्ब पड़ता है ता उनमें सन्त्रयण करने वाला अम्बरानों के लक्षारस (आगता) युक्त पदचिह्न स्वरूप में स्थित देत है ॥ ५५ ॥

कृतारवानातिशयेन मन्ये या वेधमा मध्यमलोत्तरक्षम् ।

मृशिल्पविज्ञानपरप्रर्षप्रज्ञाप्रनायात्र विनिर्मितेय ॥ ५६ ॥

माना करने शिल्पविज्ञान (कलाशौण्ड) की पराकाष्ठा का प्रदर्शन करने के लिये विज्ञाता ने अत्यन्त मायमान चित्त में पृथ्वी पर रख की भाँति इस उच्चगिनी का निमाण किया हा ॥ ५६ ॥

अथ नायकवर्णनम् ।

रानास्ति तस्या म कुलाचलेन्द्रनिपुञ्चविज्ञान्तयशस्तरङ्ग ।

भास्वान्प्रहाणामित्र भूपर्षिताम अनाममरयो घुरि सिन्धुराज ॥ ५७ ॥

नरमाहसाङ्क का वर्णन ।

इस उच्चगिनी का राजा था, जिसकी कीर्तिनदी से लहरिया कुल परंतों के निकुञ्जों तक पहुँचा करती थी, और मृदमण्डल में घूर्ण की भाँति राजमण्डल में जिसका गणना थी उन्हा नम मिथुन का ॥ ५७ ॥

निर्व्यूढनानाद्भुनमाहसं च गणो वृत्तं च स्वयमेव लक्ष्म्या ।

नाम्ना यमेके नवसाहसार्द्धं कुमारनागयणमाहुरन्ये ॥ ५९ ॥

यह बड़ो राजा था जिसका गणस्थली में लक्ष्मी स्वयं वर्णन कर चुकी थी, जो नाना माहम के कार्यों को करने में कुशल था, और जिसको कुछ लोग नवमाहमाक नाम से सम्बोधित करने थे तथा कुछ कुमारनागयण भी कहा करते थे ॥ ५९ ॥

सहेलमभ्युद्धरता धरित्रीं मग्नां द्विपद्वारिनिधावगाधे ।

येनात्र नीता पृथुविक्रमेण व्यक्तिं जगत्यादिवराहलीला ॥ ६० ॥

शत्रुर्षा अगाध जलधि में मग्न भग्नो का अति मुगमता ने उद्धार कर जिस महापराक्रमशाली ने विश्व में आदिवराहलीला का अभिनय किया ॥ ६० ॥

उदामदुग्धान्धितरङ्गभासो यस्यारिकान्ताकुचमण्डलानि ।

हाराः पतत्साञ्जनवाष्पपङ्ककलङ्कभोत्वेव परित्यजन्ति ॥ ६१ ॥

दूध की तरंगों वाले उमड़ते हुए समुद्र की उज्ज्वल प्रभा के समान यशवाले इस राजा की शत्रुनाशियों के हाव, अञ्जन से मने गिरते हुए अश्रुओं के संसर्ग से काले बने हुए, शत्रुनाशियों के कुत्तों का इस भयसे मानो परित्याग कर रहे हैं, कि यह कालिमा उन्हें भी न लग जाय ॥ ६१ ॥

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं गणेरणे यम्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥ ६२ ॥

यह बड़ी विचित्र बात है कि इस राजा के हाथों में आने ही इस की तलवार यद्यपि तमाल वृक्ष का कान्ति के समान कृष्ण वर्ण की है, फिर भी वह गणस्थल में शरत्कालीन चन्द्रकान्ति के समान उज्जले ऐसे यश को उत्पन्न कर रही है, जो तीनों लोकों को अलंकृत कर देता है ॥ ६२ ॥

पराङ्मुखेनापि सदा परस्वे पत्या भुवः सागरमेखलायाः ।

अहो यशः पूर्वमहीपतीनाम अनाविलं येन बलाद्विलुप्तम् ॥ ६३ ॥

यह भी विचित्र बात है कि दूसरे के धन या यश को ग्रहण करने की अनिच्छावाले, नागरपर्यन्तमेखला वाला भग के पति इस राजा ने अपने पूर्ववर्ती अन्य राजाओं के निर्मल यश को बरबस विलुप्त कर दिया ॥ ६३ ॥

चित्तं प्रसादश्च मनस्विता च भुजं प्रतापश्च वसुन्धरा च ।

अध्यासते यम्य मुखारविन्दं द्वे एव सत्यं च मरुस्वती च ॥ ६४ ॥

इसके चित्त पर प्रसाद (कृपा) और मनस्विता का, भुजा पर प्रताप और वसुधा का, तथा कमल मुग्ध पर सत्य और सरस्वती का ही केवल अधिकार है ॥ ६४ ॥

यस्याप्सराभिः परिर्गायमानम् आनर्ण्यं बाह्योविजयप्रपञ्चम् ।

शर्चोरुचस्पर्शमिवाप्य धत्त रोमोद्गमाध्यासितमङ्गमिन्द्र* ॥ ६५ ॥

अप्सराओं द्वारा गाई गई निम्न गाना के गानुन् की गथाएँ सुनकर इन्द्र का जग प्रत्यङ्ग उन्नी भाति समाश्रित हो उठता है, मानो इन्द्राणी का कुचालिङ्गन पाकर रोमाञ्चित हो उठा हो ॥ ६ ॥

प्रसाधिना येन च वाल्य एव चतुर्भिस्तमाहवता चतस्रः ।

श्रुतेन बुद्धिः प्रभुता नयेन त्यागेन त्वद्मार्चमुधा दलेन ॥ ६६ ॥

उत्साही निम्न राजा ने गाल्यफाल में ही चार वस्तुओं का चार प्रकार से सिद्ध कर लिया था—अ ययन से बुद्धि का, गाय म प्रभुता का, त्याग से त्वद्मी का और मुजबल से मुधा का ॥ ६६ ॥

रणे रणे मुक्तकृप कृपाण म शतवार कृतवान् कृतास्व ।

अनेकराजन्यघटाकिरीटमाणिक्यशणोपलपट्टिकासु ॥ ६७ ॥

अनेक विद्या म निपुण और कठार उन हुए जिस राजा ने प्रत्येक रण म अनेक राजाओं के मुकुटों पर लगे हुए मणिक्या गण पर धर कर अपनी तलवार का पैना किया । जथान् अनेकानक शत्रुराजाओं का नाश कर दिया ॥ ६७ ॥

भरणभूमे स्फुटमानमन्त्या पाशुच्छटा शेषफणामणीनाम् ।

न्यमीलयन् यद्विजयप्रयाणे नागाङ्गनाना नयनोत्पलानि ॥ ६८ ॥

जिसकी विजययात्रा म सेवा के भार से तब तब शायदा ही धारण करने वाले शेषनाग की फणाओं का भाषणा का गगड से उठा हुई धूँ न नाग ललनाओं के नेत्रों में पड़कर उड़ कर रहा हो ॥ ६८ ॥

अन्योन्यसश्लेषविशीणहारज्युतेन सेवाससर नृपाणाम् ।

कीर्णामु मुक्तानिकरण यस्य कन्यामुदारप्रमदा स्प्रलन्ति ॥ ६९ ॥

जिसकी ऊँचाई पर बारगिलसिनिया जग उठा इसलिये निश्चिन्ती हुई दिखाई देती हैं कि सेवा के लिये जाय हुए राजाओं के जग-सर्पण से दूटे हुए हारों के मोती इधर उधर प्रिसर पड़ रहत ह ॥ ६९ ॥

आक्षिप्य हारान् निजप्रिक्रमाप्रिस्फुलिङ्गशङ्कामनुसन्धन्ति ।

येनारिकान्ताकुचमण्डलेषु गङ्गाफलान्याभरणान्वृतानि ॥ ७० ॥

जिसने जत्रुगणियों के गलों से हाथों को दूर करके अपने पराक्रम
स्वी चिनगारी का स्मरण दिवाने वाले धुपची के फलों को उनके उरःस्थलों
का आभूषण बना दिया ॥ ७० ॥

कृपाणपातैर्दलतामरातिकरीन्द्रकुम्भस्थलमौक्तिकानाम् ।

धूलिच्छटासांसलयन्ति यस्य समुद्गतान्याजिमुखे यजामि ॥ ७१ ॥

भयकर युद्ध में जिसका कृपाण धारा की चाटों से पटे हुए जत्रुगणों के
गजगात्रों के गण्डस्थलों के मातियों का धूल, उड़कर, उसके विस्तृत वश को
ओर भी विस्तृत कर देती है ॥ ७१ ॥

इन्दुवृत्तिः कुन्दसितान् दधाना गुणाननङ्गोन्मववैजयन्ती ।

येन द्विषां दूरमनायि कण्ठान् एकावली वामविलोचना च ॥ ७२ ॥

चन्द्र के समान कान्तिवाली कुन्दपुष्प के समान निर्मल गुणों की धारण
करनेवाली और रतिक्रीड़ा की वैनयन्ती एकावली और रमणी, उन दोनों को
जिसने जत्रुकण्ठों में सदा के लिये दूर कर दिया ॥ ७२ ॥

यस्मिन्ब्रह्मस्युधिनेमिमुर्वाम् मौर्वीकिणश्यामलदीर्घदोष्णि ।

विभात्यते पौरवराङ्गनानाम् मध्यं परं धाम दग्धितायाः ॥ ७३ ॥

धनुष की टोरी की चोट से चिराहत लकी भुजा वाले जिस राजा के समुद्र
पर्यन्त श्वरती पर आसन करते हुए, वेदल गुन्धः नगरनाशियों के कटिभाग में
ही दग्धिता या अणवा दिवाई जाती है ॥ ७३ ॥

आक्रान्तद्विड्मण्डलकुन्तलेन्द्रसान्द्रान्धकारान्तरितं रणे यः ।

श्वराज्यमस्मान्मण्डलाग्रे गृहीतवादीधितिसानिवाऽहः ॥ ७४ ॥

युद्धभूमि में रक्तरजित गन्ध धारण किये जिस राजा ने अपने राज्य का,
जिस पर कुन्तलेन्द्र स्वी धनुषीर अन्धकार छाया हुआ था उसी भाति वश में
कर लिया जिस भाति रक्तरजित (गालवर्ण) सूर्य अन्धकार को छिन्न-भिन्न
कर दिनको अपने वश में कर लेता है ॥ ७४ ॥

आकस्मितानां मरतेव यय दोग्णाऽऽजिभूमावति दक्षिणेन ।

अजायतारिप्रसदालताना वाप्योदविन्दूकरपुष्पमोक्षः ॥ ७५ ॥

युद्धभूमि में जिसके अतिदक्षिण वायु मुख्य (दक्षिणी वायु एवं जत्रु-
विनाशी) भुजदण्ड में दिलाई पुलाई गई जत्रुनागीरूपी लताएँ औंसुओं के रूप
में पुष्प बरसाया करती हैं ॥ ७५ ॥

विपक्षहृद्भङ्गकृता नितान्तम् भ्रूलेखयाकुञ्चितयोत्पसन्त्या ।

नाकारमात्रेण परन्तपस्य यस्यान्वकारि क्रिययापि चापम् ॥ ७६ ॥

शत्रुओं को दुर्गो रना देने वाले, निम्न गंगा की गजुओं के हृदयों को निराश करनेवाले वह एक प्रभावशाली भूलेखा ने जाहति से ही वनुष का अनुकरण नही किया अपितु क्रिया से मा अनुकरण किया ॥ ७६ ॥

दाद्वन्द्वनानोरुहमाय यस्य ममुल्लमत्मान्द्रयश प्रसूना ।

गतातिवृद्धिं लज्जलीलतेषु निरद्वमूला परमारलक्ष्मी ॥ ७७ ॥

जिस राना के मुनत्पट्टस्या चदनवृत्त को सहारा लेकर परमारग्य का परमारगत गजलक्ष्मी लज्ज (मायवी) राना का माँति अत्यधिक (बढ़ने लगा) काति सुमना को उत्पन्न करने लगी और निम्न प्रतिदिन बढ़ता चला गई ॥ ७७ ॥

कृतानतिभ्य महसा ददाति य माम्पराज्यभय रिपुभ्य ।

यशश्च गृह्णाति तुपागहारसृणालरूपूरपररागपाण्डु ॥ ७८ ॥

शाण में जाये हुए गजुओं का उद्वन्धट में मा मा गंगा गज ही अमर दान दे दिया करता था और तुषार, हार अमरनाथ, रूपूरपरराग के समान उनले गजाल उनक यग को ग्रहण कर लेता था ॥ ७८ ॥

प्रकाशिताश पति प्रजाना रन्धोदय धामिधैर्यदन्ति ।

मुक्ताञ्जनध्यानपरिग्रहाणि नेत्राणि शत्रुप्रमत्तवन्म्य ॥ ७९ ॥

जिस ननन्दा ने उदय को प्रजानों के करारा के निम्न रूप के उदय के समान गंग (सत्र) चालन करने थे, और गजुनामियों के ज्ञाना रन्धोदय नेत्र निम्न के उदय (अम्बुधान, पाकन) का उचना किया करते थे । अधरा—अञ्जन रानी अन्धकार में गहत गजुनामियों ने नन हा प्रतापी और नेनन्दा जिस (गृयापम) राना के ममम्न प्रजापति के मनारथ का पूर्ण करने वाल अम्बुदय का सूचना दिया करते थे ॥ ७९ ॥

यस्य प्रयागे धृतनाभरण परिमललत्नसमुद्रमुद्रा ।

परस्परक्षोदसमाकुलामु दोलायते भू पणभृत्स्थामु ॥ ८० ॥

जिसका (विजय) राया के समान सन्ध्या के भार से धरता के सातों समुद्र अम्बु व्यस्त हो जाते हैं, और परा ज्ञेयनाम को एक दूसरा से (बोझ समाप्तने में) गुर्गो हुई पणाजा पर निली हुलती सी निम्नाई दती है ॥ ८० ॥

त्रिभिन्नमान रमलेश्रणाना ज्वक्तानुभाय मुनत्रयेऽपि ।

आहर्चना दीर्गगुणाभिराम यमेनचाप कुसुमायुधम्य ॥ ८१ ॥

तीनों मुनियों को अपने प्रताप में व्याप्त करने वाले, रमलेश्रणाओं के मान का भग करने वाले, सुन्दर गुणों में युक्त निम्नका दाय काम का एक चाप अथवा अमोघास्त्र रहा करते थे ॥ ८१ ॥

असंशयं प्रागसृजद्विधाता यमेकमेव त्रिजगद्वदान्यम् ।
कल्पद्रुमादीनथ तैस्तदीयनिर्माणशेषैः परमाणुलेशैः ॥ ८२ ॥

निश्चित ही सर्वप्रथम विधाता ने तीनों लोको में गाई जाने वाली कीर्ति से युक्त इस दानी राजा का निर्माण किया होगा, पुनः इसके निर्माण से बचे हुए परमाणुओं से कल्पद्रुम आदि वस्तुओं को बनाया होगा ॥ ८२ ॥

अकृत्रिमत्यागसमुद्गतानि विपक्वतालीदलपाण्डुराणि ।
आशालतानां बलयेषु भर्तुर्यशांसि यस्य स्तवकीभवन्ति ॥ ८३ ॥

जिस राजा के स्वाभाविक त्याग से उत्पन्न तथा पके हुए ताड़पत्र के समान पीत वर्ण वाले यश, दिशारूपी लताओं की शाखाओं में ऐसे जान पड़ते हैं, मानों पुष्पगुच्छ लगे हों ॥ ८३ ॥

यत्र प्रतापोर्जितराजचक्रकिरीटरत्नश्रुतिचुम्बिताङ्घ्रौ ।
यथार्थतां याति ययातिपाण्डुदिलीपतुल्यौजसि राजशब्दः ॥ ८४ ॥

पराक्रम द्वारा जीते, अनेकानेक राजाओं के मुकुटों में लगे रत्नों की प्रभा जिस राजा के चरणों का चुम्बन करती रहती है, अतः ययाति, पाण्डु और दिलीप के समान तेज वाले जिस राजा के लिये राजशब्द का प्रयोग वस्तुतः सार्थक हो जाता है ॥ ८४ ॥

उच्छिन्दतः दमासरसी विगाह्य धर्मक्रियापङ्कजिनीवनानि ।
स्वैरप्रचारः कलिकुञ्जरस्य येनाङ्कुशेनैव बलान्निरुद्धः ॥ ८५ ॥

पृथ्वी रूपी तालाब का आलोटन (मथन) करके धर्म क्रिया रूपी कमलिनो-वन का नाश करने वाले कलिरूपी हाथी के स्वच्छाविहार (विचरण) का जिस राजा ने मानों जबरदस्त (बलप्रयुक्त) अंकुश से रोक दिया ॥ ८५ ॥

चिरं विभिन्नाः कुमुदेन्दुकुन्दभासः समग्रा अपि यत्र ते ते ।
अन्योन्यमेकत्रनिवाससौख्यकुतूहलेनैव गुणा घटन्ते ॥ ८६ ॥

कुन्द, इन्दु, कुमुद को सी कान्ति वाले समस्त गुण जो अवतक यत्र तत्र [पृथक् भाव से रहते थे, वे एक एक करके जिस राजा की शरण में निवास सुख प्राप्त करने के लिये कौतूहल पूर्वक एकत्र हो गये ॥ ८६ ॥

कान्त्याऽनुलिप्तानि विलोचनानाम् आ पाटलानामतिरोदनेन ।
सकुङ्कुमानीव पुनर्भवन्ति यस्यारिनारीकुचमण्डलानि ॥ ८७ ॥

अत्यधिक रोने के कारण रत्नखानेवाले लोचन की कान्ति से प्रतिबिम्बित (युक्त) जिस राजा की शत्रुनारियों के कुचमण्डल आज भी ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों उनमें कुमकुम लगाया गया हो ॥ ८७ ॥

श्रियि प्रतापे यशसि क्षमायां त्यागे विलासे विनये महिम्नि ।

किमन्यदारोहति यस्य साम्यं न रन्तिदेवो न पृथुर्न पार्थ ॥ ८८ ॥

शोभा, प्रताप, यश, क्षमा, त्याग, विलास, विनय और गौरव में जिसकी समता न रन्तिदेव कर सकता है, न राजा पृथु और न युधिष्ठिर ही । और लोगों का तो कहना ही क्या है ॥ ८८ ॥

सचिववर्णनम् ।

साम्राज्यभारोद्बहनप्रगल्भो यशोभटारय सचिवोऽस्ति यस्य ।

स्वसूक्तिचर्यास्वपरेण नाम्ना रमाङ्गद य कवयो वदन्ति ॥ ८९ ॥

सिन्धु राजा के मन्त्री का वर्णन ।

साम्राज्य के भार के धारण करने में अति निपुण यशोभट नाम के इसके मन्त्री को कवि लोग अपनी काव्यचर्चा के समय 'रमाङ्गद' इस दूसरे नाम से सम्बोधित किया करते थे ॥ ८९ ॥

कुलराजधानीवर्णनम् ।

विजित्य लङ्कामपि वर्तते या यस्याश्च नायात्यलकापि साम्यम् ।

जैतु पुरी साप्यपरास्ति यस्य धारेति नाम्ना कुलराजधानी ॥ ९० ॥

कुलराजधानी का वर्णन ।

रुका जैसी नगरी को भी (अपने गौरव से) जीतने वाली, अल्कापुरी भी जिसकी समता नहीं कर सकती इस प्रकार की इस विजेता राजा की दूसरी कुलक्रमागत राजधानी भी थी, जिसे लोग धारा (उज्जयिनी) कहते थे ॥ ९० ॥

तस्यां स साहसजिताननिपालमौलिरत्नांशुपल्लवितकाञ्चनपादपीठ ।

देव क्षमात्रलयमेतदुदञ्चितैरुलोलातपत्रललिताभरण भुनक्ति ॥ ९१ ॥

इति श्रीमृगाङ्गुतत्तुनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ नरसाहसाङ्ग-
चरिते महाकाव्ये नगरी नरेन्द्रवर्णनो नाम प्रथम सर्ग ॥ १ ॥

वह राजा उस राजधानी में अपने पराक्रम से जीते हुए राजाओं के मुकुटों के रत्नों की कान्ति से युक्त स्वर्णसिंहासन पर बैठकर ऊपर उठाये हुए लीलातपत्र रूपी मुन्दर आभरण से सजे इस सम्पूर्ण मण्डल का जकेले ही उपभोग किया करता था ॥ ९१ ॥

इति श्रीमृगाङ्गुत के पुत्र परिमल उपनाम वाले पद्मगुप्त

रचित नरसाहसाङ्गचरित महाकाव्य का नगरी नरेन्द्र

वर्णन नामक पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः सर्गः

कदाचिल्लोचनातिथ्यमाप्तेनालेख्यवेश्मनि ।

स मृगव्याघ्रिनोदेन पस्पृशे पार्थिवो हृदि ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग ।

किसी समय चित्रशाला में मृगया (शिकार) विनोद के लिये बने हुए चित्र का देखा कर राजा के मन में शिकार खेलने की भावना जाग्रत हुई ॥ १ ॥

उग्रप्रतुरगारूढः स समं राजसूनुभिः ।

गिरंगच्छद्विपिनं विन्ध्यस्यावन्ध्यशासनः ॥ २ ॥

अनितक्रमणीय आज्ञा वाला (सफल आज्ञा वाला) वह राजा अति ऊँचे घोड़े पर चढ़कर अन्य राजपुत्रों के साथ विन्ध्याचल के पहाड़ी बनों में शिकार खेलने गया ॥ २ ॥

हारेणऽऽमलकस्थूलमुक्तेनामुक्तकुन्तलः ।

फणीन्द्रवद्वजूटस्य श्रियमाप स धूर्जटेः ॥ ३ ॥

आवले के समान बड़े बड़े मोतियों के हार से बँधे हुए वालों वाला, वह शेषनाग से युक्त जटाजूट वाले भगवान् शंकर के समान दिग्विजय देने लगा ॥ ३ ॥

देवः स चारवाणेन नलिनीपत्रवन्धुना ।

श्यामजीमूतसन्नद्धः काञ्चनाद्रिरिवाऽऽवर्भा ॥ ४ ॥

नलिनी के पत्रों के समान कान्ति वाले कवच से वह राजा ऐसी शोभा पा रहा था, जैसे नीले बादलों से युक्त सुमेरुपर्वत शोभा पाता है ॥ ४ ॥

तस्योपरि विभोर्नीलमातपत्रं व्यराजत ।

वारिधेरिव पीताम्भश्यामलं मेघमण्डलम् ॥ ५ ॥

उस राजा के सिर के ऊपर नील वर्ण का लुत्र ऐसा दिग्विजय दे रहा था, मानो समुद्र के ऊपर नये पानी से भरा व्यामवन हो ॥ ५ ॥

व्याधूतिमुक्तमरुता व्यरुचञ्चामरेण सः ।

वन्दिगृहान्निःश्वसता यशसेवादिभूमुजाम् ॥ ६ ॥

हिल-डुलकर पवन उत्पन्न करते हुए श्वेतचामर द्वारा वह राजा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वन्दीगृह से निकलता हुआ पहले के शत्रु-राजाओं का यश आहं भर रहा हो ॥ ६ ॥

व्यधादिवोद्गतैर्देरु स चूडारत्नरश्मिमि ।

निशाकरकुरङ्गम्य पाशमाकाशवर्त्मनि ॥ ७ ॥

अपने मुकुट के मणिरत्नों के दूर तक फैले हुए किरणसमुदाय से वह मानो चन्द्रमा के मृग को पँसाने के लिये आकाश मार्ग में जाल बिछा रहा था ॥ ७ ॥

तस्यांसयोर्नृसिहस्थ हारकान्तिसटाभर ।

उवाह कण्ठलग्नश्रीविलासहसितश्रियम् ॥ ८ ॥

नरसिंहायतार रूप (नरश्रेष्ठ उस राजा) के दोनों कन्धों पर लटकने वाला अयालों के समान कान्ति वाला हार ऐसा लग रहा था, मानो उसके कण्ठ का गाढालिङ्गन करने वाली लक्ष्मी रूपी राजश्री का मन्द हास हो ॥ ८ ॥

पुर पटेपटे तस्य नानारत्नाङ्गदरिप ।

रचयन्ति स्म सञ्चारि चाप प्राचीनगर्हिप* ॥ ९ ॥

उस राजा के आगे पद पद पर अनेकानेक (रंग विरंगे) रत्नचिह्न अगद (भुजगन्द) की किरणों फैल रहो थीं (तब) ऐसा प्रतीत होता था, जैसे चलता फिरता इन्द्रधनुष हो ॥ ९ ॥

भाति स्म कण्ठाभरणपद्मरागप्रभावृत ।

राजन्याससर स्नात* स भार्गव इनापर ॥ १० ॥

कण्ठहार में जड़ित पद्मराग-मणियों की किरणों से चारों ओर से घिरा हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था, मानो क्षत्रपक्ष के रक्त म स्नान किये हुए दूसरा भार्गव (परशुराम) हो ॥ १० ॥

रुरुचे स पुरस्त्वङ्गत्सितछत्रपरम्पर ।

बेलानिलसमुद्घूतफेन पतिरिवार्णसाम् ॥ ११ ॥

जब वह चलता था, तब उसके आगे श्वेतवर्ण के राजछत्रों की पक्षियां ऐसी लगा करती थीं, मानो ऐसा समुद्र हो जिस पर तीर के वायु के थपेड़ों से फेन उतरा गहा हो ॥ ११ ॥

उपायनीकृतोत्रिद्रपद्मकिञ्चलरुसौरभ ।

तमसेवत सम्राज विन्ध्यदूत इनाऽनिल ॥ १२ ॥

त्रिकसित कमल के पराग की गंधमें ल चढाकर विन्ध्याचल के पवन ने दूतरूप में उस राजा की सेवा की ॥ १२ ॥

तदश्वीयरुरोत्पातै पामुदूटरजायत ।

पुन प्रसभवर्धिष्णुविन्ध्यशङ्काकल जगत् ॥ १३ ॥

उसके घोड़ों के खुरों से खोदी हुई विन्ध्यभूमियों से जो धूल ऊपर के उठी, उसे देख कर लोगों को ऐसी शंका हुई, मानो विन्ध्याचल पुनः ऊपर को उठ रहा हो ॥ १३ ॥

सहेमशृङ्गलाः श्वानः श्वेतास्तस्याग्रतो ययुः ।

वहन्तः सतडिदामशारदाम्बुधरश्रियम् ॥ १४ ॥

शरत्कालीन चपला से सुशोभित बादलों के समान स्वर्णजङ्गीरों से बंधे सफेद कुत्ते उस राजा के आगे आगे चलने लगे ॥ १४ ॥

ततस्तुरगहेपाभिः पत्तिकोलाहलेन च ।

अजायन्त भयोद्भ्रान्तश्वापदा विन्ध्यभूमयः ॥ १५ ॥

तब घोड़ों की हिनहिनाहट से और पदाति सेना के कोलाहल से विन्ध्याचल के हिंस्र जन्तु भय से व्याकुल हो गये ॥ १५ ॥

रभसाकृष्टकोदण्डं कर्णपूरीकृतेक्षणाः ।

तमनङ्गमिवाऽपश्यन् वनान्ते वनदेवताः ॥ १६ ॥

वेग से सहसा धनुष को चढ़ाने वाले उस राजा को, विन्ध्यवासी देवताओं ने अपने कानों तक फैले नेत्रों से काम के समान देखा ॥ १६ ॥

मयि गोप्तरि चोरोऽयमवलालोचनश्रियः ।

इतीव मुमुचे तेन कृष्णसारं शिलीमुखः ॥ १७ ॥

मुझ जैसे रक्षक के हाँते हुए भी वह अवलालों की नयनशोभा चुरा लेता है, इसीलिये मानो उस राजा ने (चोर) कृष्णसार मृग पर बाण चलाया ॥ १७ ॥

स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः ।

श्रीहर्ष इव सहृद्वं चक्रे बाण-मयूरयोः ॥ १८ ॥

विभिन्न रंगों की शोभा धारण करनेवाले बाण और मोर का उस पृथ्वीपति ने ऐसा संयोग उपस्थित कर दिया (मोर पर बाण छोड़ा) जैसा श्री महाराज हर्ष ने चित्र विचित्र काव्य-रचनाएँ करनेवाले बाण और मयूर कवि को अपनी सभा में जुटा कर किया था ॥ १८ ॥

चमरीणां शरोत्कृत्तैः स बालधिभिर्ज्ज्वलम् ।

परितो व्यधिताऽरण्यं स्वयज्ञःस्तदकैरिव ॥ १९ ॥

उसने अपने बाणों से काटी गई, चमरी गाथों की पूँछों से सारे वन को ऐसा उज्ज्वल कर दिया, मानो इस रूप में उसके कीर्तिकुमुद के गुच्छे वहा खिले हों ॥ १९ ॥

आहूत इव साटोपं लाङ्गूलास्फोटनिःस्वनैः ।

अभ्यधावदभिव्याघ्रानाघ्रातः कांतुकेन सः ॥ २० ॥

मृगयाविहार के प्रति उत्सुक वह राजा व्याघ्रों की ओर ऐसे दौड़ पड़ा, मानो पैंछों की फटकार और गर्जन तर्जन से उन्होंने ही उसे अहंकार पूर्वक लटकारा हो ॥ २० ॥

त्रिधित्सुरात्मनः शौर्यमसामान्यमिवाधे ।

स शगन् पुण्डरीरेषु पुण्डरीकायतेक्ष्णः ॥ २१ ॥

कमल के समान दीर्घ नेत्र वाले उस राजा ने अपने पराक्रम का विस्तार करने के लिये पुण्डरीकों (व्याघ्रों) पर प्राण छोड़े ॥ २१ ॥

तैस्तस्य बाहुधोर्येण दृष्टन ग्रीहितैरिव ।

तत्त्यजे विक्रमस्पर्धा पुर पश्चात्तु जीवितम् ॥ २२ ॥

उस राजा के भुजबल का देखकर प्रथम तो उन्होंने मानो लजित हो कर पराक्रम करना छोड़ दिया और बाद में प्राणों का ही त्याग कर दिया ॥ २२ ॥

क्षितैरेकातपत्रायाः स पतिर्मत्सरादिव ।

सन्मपुण्डरीकत्वं न सेहे विन्ध्यभूभृत ॥ २३ ॥

समस्त पृथ्वी का एक छत्रपति वह राजा, माना जलन से युक्त हो कर विन्ध्याचल (रुपी राजा) के व्याघ्रों की प्रयत्ना (श्वेत कमल रुपी छत्रकी उच्चता) सहन न कर सका ॥ २३ ॥

अरण्यमहिर्पेद्रं तस्मात्सायन्वर्षिणः ।

अपसस्त्रे विकीर्णाशोस्तमोमिरिव भास्वत ॥ २४ ॥

जिस भाति दधर उधर पैली हुई चमकती हुई, सूर्यकिरणों के समस्त अन्धकार टहर नहीं सकने के कारण दूर दृष्ट जाया करता है, उसी भाति चाणूरर्षा करने वाले उस राजा के (चमकते हुए) प्राणों के सामने जगली जैसे भी न ठहर सके ॥ २४ ॥

महामहिपनिपेपकेलिः पारमगाद्ध्रयोः ।

राक्षस्तस्यातिचण्डस्य चण्डिकाचरणस्य च ॥ २५ ॥

अत्यन्त माधी इस राजा और चण्डिका के चरण इन दोनों ने जो भयानक महिष मर्दन लोला की वह पराकाष्ठा की पहुँच गई ॥ २५ ॥

शरदोऽप्रसर्पन्त्या तस्य कोदण्डटाड्यतोः ।

विनिद्रजृम्भितहरिर्विन्ध्योदधिरजायत ॥ २६ ॥

शरत्कालीन छुटा के विस्तार के समान जब उस राजा की धनुष टकार विन्ध्याचल के उन में फैलने लगी, तो विन्ध्याचल रुपी उदधि ऐसा हो गया, मानो उसमें विराजमान हरि (विष्णु जयरा सिंह) निद्रा त्याग कर उठ सका हुआ हो ॥ २६ ॥

अशेषभुवनख्यातविक्रमेऽव्यक्तविक्रमैः ।

दर्पान्मुमुचिरे तस्मिन् तिर्यक्सरिभिर्दशः ॥ २७ ॥

छिपे हुए पराक्रम वाले विन्ध्य-वनवासी सिंहों ने समस्त भूमण्डल में विख्यात पराक्रम वाले उस राजा पर सगर्व तिरछी दृष्टि डाली ॥ २७ ॥

स तेषां सहजोदग्रशौर्यसञ्चारवीथिषु ।

मत्तेभमौक्तिकोत्तसान्न सेहे नखशुक्तिषु ॥ २८ ॥

सहज ही प्रचण्ड बल का संचार जिनमें हो रहा था, सिंहों की उन नखरूपी सीपियों में सजे मतवाले हाथियों के मस्तक के मोतियों को वह राजा न सह सका ॥ २८ ॥

यूथे महावराहाणां गते तद्वाणगोचरम् ।

चिरात् पल्वलमुस्तानां सन्तानः स्वस्तिमानभूत् ॥ २९ ॥

महावराहों (सूअरों) का समुदाय जब उस राजा के वाणों का लक्ष्य बना तो तालाबों में लगा हुआ नागरमोथा कुशल मनाने लगा (अर्थात् सूअरों के मर जाने पर वह बचा रहा) ॥ २९ ॥

समदक्रोडदंष्ट्राभिः कृत्ताभिः कौतुकेन सः ।

स्थलीर्न्यधित विन्ध्यस्य विकीर्णन्दुकला इव ॥ ३० ॥

उस राजा ने कौतूहल से ही काटी गई मदोन्मत्त वराहों की दाढ़ों से विन्ध्या-चल का भूमि को ऐसे पाट दिया जैसे वह चन्द्रकला से सुशोभित हो ॥ ३० ॥

असैरिभमसारङ्गमवराहमकेसरि ।

क्षणाद्वनमशार्दूलमात्तचापश्चकार सः ॥ ३१ ॥

अपने धनुष पर वाण चढ़ा कर उस राजा ने शीघ्र ही विन्ध्याचल की भूमि को जंगली भैंसों, हिरणों, सूअरों, सिंहों और वाघों से रहित कर दिया ॥ ३१ ॥

अलं प्रहृत्य भूपाल सत्त्वेष्वनपराधिषु ।

इतीव स खगारावेर्न्यपेधि वनराजिभिः ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! निरपराध प्राणियों पर इस प्रकार वाण का प्रहार मत करो, इस भाँति वनसमुदाय ने खगकोलाहल की वाणी द्वारा मानो उसे रोका ॥ ३२ ॥

असेवन्त समीरास्तमनस्तमृगयाश्रमम् ।

सुरतश्रान्तशवरीकवरीमाल्यचुम्बिनः ॥ ३३ ॥

सुरतक्रीड़ा करके थकी हुई भीलनियों के जूड़ों पर सजी मालाओं का चुम्बन (स्पर्श) करने वाली वायु ने शिकार खेलने से थके हुए उस राजा की सेवा की (इस प्रकार की वायु के लगने से उसकी थकान दूर हो गई) ॥ ३३ ॥

कुरङ्गदर्शनम् ।

अथेन्द्रचापललित सञ्चरन्तमितस्ततः ।

अमन्दमृगयासङ्गः स कुरङ्गमलोक्त ॥ ३४ ॥

मृगदर्शन ।

इसके पश्चात् मृगया के उत्साह से सम्पन्न सिन्धुराज ने इन्द्रधनुष की कान्ति वाले चञ्चल (विचित्र वर्ण के) एक मृग को दधर उधर बिचरण करते देखा ॥ ३४ ॥

सोऽपि त यलितघ्नीन क्षण स्थित्वा ददर्श च ।

निरन्तरलतापुञ्ज विन्ध्यकुञ्ज निवेश च ॥ ३५ ॥

उस मृग ने भी गर्दन घुमा कर थोड़ी देर रुकें रह कर उस राजा को देखा और शीघ्र ही वह निन्त्यके स्रजन एताकुञ्ज में घुस गया ॥ ३५ ॥

ततस्तुरगमुत्सृज्य निस्त्रयानुप्लगानपि ।

तमन्वियाय सारङ्ग सारङ्गायतलोचन ॥ ३६ ॥

मृग के समान निशाल लोचनां वाला वह राजा अपने घोड़े और अनुचरों को वहीं पर छोड़ कर उस मृग के पीछे चल पड़ा ॥ ३६ ॥

देवो रमाङ्गदेनाथ स श्रियेवान्वगम्यत ।

छाया निवर्तते जातु नतु तस्यैव भूपते ॥ ३७ ॥

सिन्धुराज के मंत्री रमाङ्गदेन ने राजन्दमी के समान सदैव इसका अनुगमन किया । राजा को छाया चाहे राजा से पूर्ण हो जाय किन्तु वह मंत्री उनसे अलग नहीं हो सकता था ॥ ३७ ॥

मृगानुसारी त्रिचरन्नात्तचापो घने वने ।

लीला निरातवेपथ्य स प्रपेदे पिनाकिन ॥ ३८ ॥

धनुष पर बाण चढ़ाए मृग का पीछा करते हुए वन वन में घूमने वाला वह राजा, किरानेव धारण करने वाले शिप के समान प्रतीत हो रहा था ॥ ३८ ॥

दूरादेव स तेनाथ शरयत्प्रमनीयत ।

स्वनामधेयचिह्नस्य हेमपुद्गस्य पत्रिण ॥ ३९ ॥

उस मृग को दूर से ही इस राजा ने अपने नाम से चिह्नित तथा स्वर्ण-फलक वाले अपने राण का निशाना बनाया ॥ ३९ ॥

शिलाभेदक्षमेनापि किमपि श्लथमुष्टिना ।

अभूद्विद्ध स सारङ्ग तेन त्रचि न मर्मणि ॥ ४० ॥

यद्यपि वह बाण पत्थरों को भी भेदने में समर्थ था, किन्तु कुछ शिथिल

मुट्टी से छूटने के कारण उस ने मृग के चर्म को ही वेधा, उसके मर्म स्थल को नहीं वेधा ॥ ४० ॥

स शरापातभीतेन मनसोऽप्यतिरंहसा ।

अतिदूरं कुरङ्गेण निन्ये राम इवापरः ॥ ४१ ॥

बाण गिरने के डरसे मन से भी अधिक वेग वाला वह मृग उस राजा को दूर तक अपने पीछे वैसे ही ले गया, जैसे स्वर्णमृग राम को ले गया था ॥ ४१ ॥

तेन विन्ध्याटवीमध्ये धावन्नीरन्ध्रवीरुधि ।

उत्पतन्नुत्पतन्नेव स केवलमलक्ष्यत ॥ ४२ ॥

विन्ध्याचल के वन में दौड़ता हुआ वह मृग जब घने लताकुजों में बार-बार उछलता था तभी दिखाई देता था ॥ ४२ ॥

दृशा वनस्थलीः कुर्वन् विकीर्णेन्दीवरा इव ।

जवाद्दूरमतिक्रान्तं तं क्षितीशस्तदैक्षत ॥ ४३ ॥

पुनः अपने दृष्टिपात से सारे वन में मानो कमल बिखेरते हुए उस राजा ने वेग से दूर निकल गए हुए मृग को देखा ॥ ४३ ॥

ततस्तिरोहिते तस्मिन्नसमाप्तकुतूहलः ।

स्वबाण इव स प्राप पृथिवीं दुर्विलक्षताम् ॥ ४४ ॥

पुनः उस मृग के आँखों से ओझल हो जाने पर कौतूहल युक्त वह राजा भी लक्ष्य भ्रष्ट हुए अग्ने बाण को ही भाति धरती पर गिर पड़ा (बैठ गया) ॥ ४४ ॥

दशनज्योत्स्नया कुर्वन् लताः स्तवकिता इव ।

इति पाद्वर्गतं स्मित्वा स जगाद रमाङ्गदम् ॥ ४५ ॥

मुस्करा कर अपने दाँतों की काति से लताओं को पुष्पित सा करता हुआ वह राजा अपने बगल में बैठे हुए रमाङ्गद से बोला ॥ ४५ ॥

रमाङ्गदाय मृगवर्णनम् ।

अयं तुलितपौलोमीकान्तकार्मुकविग्रहः ।

मृगो दृग्गोचरं कच्चिद्गतस्तव रमाङ्गद ! ॥ ४६ ॥

रमाङ्गद से मृग का वर्णन ।

हे रमाङ्गद ! अपने शरीर से इन्द्रधनुष की समता करने वाले इस मृग को क्या तुमने भी देखा ? ॥ ४६ ॥

तद्वधूस्वकरन्यस्तचित्रपत्रलताङ्कितः ।

असौ विहारहरिणः किं स्यादनलसारथेः ॥ ४७ ॥

इन्द्र की वधुओं के हाथों से विभिन्न रंगों की चित्रकारियों से सजाया गया, यह वायु का पालतू मृग तो नहीं है ? ॥ ४७ ॥

अपि दृष्टा त्वयैतस्य कण्ठे कनकशृङ्गला ? ।

छुरितस्येन्द्रचापेन मेघस्येव तद्विल्लता ॥ ४८ ॥

क्या तुमने इसके कण्ठ में वह सोने की जञ्जीर देखी जो ठीक इन्द्र धनुष से शाश्वत मेघ की विद्युल्लता सी प्रतीत हो रही है ॥ ४८ ॥

मृगजातिरपूर्वेय सर्पथा वसुधातले ।

मम्मयस्यमराद्री वा मुचने वा फणाभृताम् ॥ ४९ ॥

यह मृग या तो सुमेरुपर्वत पर ही हो सकता है, या फिर नागलोक में हो ही सकता है । इस जाति का मृग वसुधा पर आज ही देखा गया ॥ ४९ ॥

अस्यारण्डजकोदण्डकान्ति चर्मातिपावनम् ।

गजपृष्ठे निधास्यामि महासमरपर्वसु ॥ ५० ॥

इस मृग के इन्द्रधनुष की सी कान्तिवाले पवित्र चर्म को रहे रहे युद्धों में जाते समय मैं हाथी की पीठ पर सजाया करूँगा ॥ ५० ॥

यस्मिन्मज्जति मन्थेत कुतूहलरमोर्मिषु ।

मार्गमन्वेष्टमेतस्य तदेहि प्रयतावहे ॥ ५१ ॥

मेरा चित्त कौतूहल की लहरों में डूब उतरा रहा है (कौतूहल मग्न हो रहा है) अतः जानो इसके अन्वेषण का प्रयास करें ॥ ५१ ॥

इत्युक्त्वा निरते तस्मिन् परमारमहीभृति ।

ऊचे रमाङ्गदेनैवमवाप्यावसर वचः ॥ ५२ ॥

ऐसा कहकर परमारयश के महाराज (नवसाहस्ररु) के पुत्र हो जाने पर अन्तर पाकर रमाङ्गद बोले ॥ ५२ ॥

रमाङ्गदकृती मृगानुमरणनिषेधः ।

क्रुधेवाधिज्यघापन वर्णसङ्करदर्शिना ।

त्वयैव चित्रसारङ्गो देव दूरमनुद्रुत ॥ ५३ ॥

रमाङ्गद का आखेट निषेध करना ।

महाराज ! आपने वर्णसङ्कर (नाना वर्णों वाले तथा दोगले) के दर्शन मात्र से ही मानो क्रोध में आकर धनुष पर राण चढ़ाकर इस कृष्णसार मृग का बहुत दूर तक पीछा किया ॥ ५३ ॥

अशून्या सुर-गन्धर्व-सिद्ध विद्याधरोरगैः ।

इमा नवनवाश्चर्यनिधयो विन्ध्यभूमय ॥ ५४ ॥

सुर, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर और सपों से परिपूर्ण यह विन्ध्यवनभूमि नये-नये कौतुकों की खान है ॥ ५४ ॥

विरमात्यादरः कोऽयं कुरङ्गान्वेषणे तव ।

न धावन्त्यर्थरिक्तासु क्रियासु त्वाद्दृशां धियः ॥ ५५ ॥

आप शान्त हो जायें । मृग के अन्वेषण के लिये आप यह कैसी उत्सुकता दिखा रहे हैं ! निष्फल कामों में आप जैसे व्यक्तियों की बुद्धियाँ नहीं लगा करती हैं ॥ ५५ ॥

मृगयासक्तचित्तस्य तवात्र विचरिष्यतः ।

पथि लोचनयोरेष पुनरप्यापतिष्यति ॥ ५६ ॥

मृगयासक्तचित्त होकर वन में विचरण करते हुए आपकी दृष्टि में वह मृग फिर आयेगा (एक बार फिर आप उसे देखने) ॥ ५६ ॥

शरः संह्रियतामेप धनुरप्यवतार्यताम् ।

शेषा च स्वस्तिमत्यस्तु देव श्वापदसन्ततिः ॥ ५७ ॥

हे देव ! अब आप धनुष की डोरी खोल दीजिए और बाण को उतार लीजिए, ताकि बचे हुए जंगली जानवरों का समुदाय कल्याण का अनुभव करे ॥ ५७ ॥

दशा दिनस्य तीव्रेयं यदयं भगवान् रविः ।

कृष्णस्योरसि पुष्पाति नभसः कौस्तुभश्रियम् ॥ ५८ ॥

मध्याह्न हो गया है, (देखिए) नभस्तल पर भगवान् सूर्य, श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर लगे कौस्तुभ मणि की सी गोभा को धाग्न करने लगे हैं ॥ ५८ ॥

निहतेषु त्वया देव सत्त्वेषु व्यथिता इव ।

एता वहन्ति सन्तापमतीवारण्यभूमयः ॥ ५९ ॥

हे देव ! आपने बहुत से जंगली जानवर मार डाले, इसीलिये मानो ये वनभूमियाँ वेदना से अत्यन्त सन्तप्त (दुखी तथा तपी हुई) हो रही हैं ॥ ५९ ॥

अमीभिर्वालवानीरविटपेष्वाग्नक्लमैः ।

कपिञ्जलेरितः पश्य सहसैव निलीयते ॥ ६० ॥

हे देव ! इधर देखिये । ये थके हुए कपिञ्जल पक्षी छोटो छोटो वेत की लताओं के बीच कैसे जल्दी जल्दी छिप रहे हैं ॥ ६० ॥

अर्काशुग्लपितैरेभिरितोऽप्यालिखितैरिव ।

राजजम्बूनिकुञ्जेषु पश्य पुंस्कोकिलैः स्थितम् ॥ ६१ ॥

सूर्य की किरणों से व्यथित ये नर-कोकिल बड़े बड़े जामुन के वृक्षों में ऐसे बैठ गये हैं, मानो चित्रस्थ हो ॥ ६१ ॥

आह्लादहेतु स्निग्धेयमितो वन्येन दन्तिना ।

पश्य नीपतरोश्च्छाया सवशेन नियेयते ॥ ६० ॥

देखिये, पास ही यह जगली हाथी अपनी हाथिनो के साथ मन को प्रसन्न करने वाली कदम्ब को इस घनी छाया को बैसे सेवन कर रहा है ॥ ६० ॥

नयाम्बुधरनीलोऽय दामधूमलतोद्गम ।

नीलकण्ठैरितस्तर्पात्सोत्कण्ठैरपलोभ्यते ॥ ६१ ॥

काले रादल की कान्ति का रूप धारण करने वाले इस जगली आग से उठने वाले धुवें की ये मोर सृणावग कैसे उत्कण्ठित होकर देख रहे हैं ॥ ६१ ॥

अनया चिद्रुमस्मर्यमङ्गपिङ्गलया ज्ञा ।

इत पल्लवपङ्कान्तव्यक्तिमभ्येति सैरिम ॥ ६४ ॥

तालाय ने नीचड़ के राव पङ्क दुआ मर्या ज्योती मूगे ने समान पिङ्गलवर्ण वाली आँखों में ही पहचाना जा रहा है ॥ ६४ ॥

कठोरातपनमस्य राजरमस्य सम्प्रति ।

नरेन्द्र नलिनीपत्रमातपत्राभिरत्यद ॥ ६५ ॥

हे राजन् ! दोपहर की धूप से व्याकुल इस रात्रहस के लिये इस समय यह नलिनी का पत्र ही छाते का काम कर रहा है ॥ ६५ ॥

मुत्तमरनरलज्जलनपोलफलनृनि ।

देव छन्तुरयन्त्येते तवापि स्वेदमिन्द्र ॥ ६६ ॥

घाड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूल में युक्त रजागें वाले आपके मुख की भी ये पर्णों की बूँदें सुगन्धित कर रही हैं (आपके पारश्रम का घोषित कर रही हैं) ॥ ६६ ॥

तवत्र कुसुमस्मेरे निम्नन्तसमदालिनि ।

त्रितीयता लताकृञ्जे त्ययैष मृगयाश्रम ॥ ६७ ॥

इसलिए हे देव ! त्रिकसित पुणों वाले एत मत्तप्रमरो के मधुर गुञ्जार से परिपूर्ण इस लताकृञ्ज में आप आखेट के परिश्रम को दूर करें ॥ ६७ ॥

अर्प स्वच्छजला देव कलहसाङ्गमैरता ।

प्रगहोत्सातमृत्तनेय पुर पुष्करिणी तव ॥ ६८ ॥

हे देव ! अच्छ जलवाली, कलहसा में शोभित पुलिन वाली, झरनों द्वारा छोदी हुई कोमल मिट्टी से युक्त यह रात्रि आप के सामने ही है ॥ ६८ ॥

नामिवाकंकरकलान्तमाश्रयितुमेतया ।

अयनाधूतकह्लारकलिक प्रेषितोऽनिल ॥ ६९ ॥

सूर्यरश्मियों से व्याकुल आपको बुलाने के लिये इसने मानो कह्लार (कांडेल)

कलिकाओं को कम्पित करने वाले वायु को भेजा है (अर्थात् कल्लार पुष्पों के गन्ध से युक्त नदी का स्पर्श करने वाली ठण्ढी ठण्ढी हवा भी चलने लगी है) ॥६९॥

लतापुष्पोत्करैः कीर्णो मार्गोऽयमवगाद्यताम् ।

इतो वन्येभमुक्ताभिरिमाः शर्करिला भुवः ॥ ७० ॥

इधर जंगली हाथियों के मस्तक के मोतियों से युक्त यह भूमि पथ-रीली-सी हो गई है और इस ओर लतापुष्प-समुदाय से भरा हुआ यह मार्ग है । आप इधर से ही चले ॥ ७० ॥

इत्युक्ते मसृणं तेन नृपस्य पदमादधे ।

स्मितं सरस्वतीरत्नपर्यङ्के दन्तवाससि ॥ ७१ ॥

मंत्री के इस प्रकार कहने पर सरस्वती के रत्नपर्यङ्करूपी राजा के अधरों पर स्निग्धमन्दहास ने अपना अधिकार जमाया ॥ ७१ ॥

यशोभटोपदिष्टेन गत्वा किञ्चिदिवाध्वना ।

प्राप पुष्करिणीतीरमवन्तितिलकोऽथ सः ॥ ७२ ॥

यशोभट (रमाङ्गद) के बताए हुए मार्ग से कुछ दूर चलकर यह अवन्तो का तिलक (अवन्तिनाथ) बावड़ी के किनारे पर पहुँचा ॥ ७२ ॥

करादनुचरस्तस्य सान्द्रस्वेदजलाङ्गलेः ।

मधुर्मनोभवस्येव सशरं चापमाददे ॥ ७३ ॥

राजा के अत्यधिक पसीने से सनी ग्रंथुलियों वाले हाथ से उसके अनुचर (रमाङ्गद) ने इस भाँति धनुष-बाण ग्रहण कर लिये जैसे वसन्त ने कामदेव के हाथ से धनुष बाण ले लिए हों ॥ ७३ ॥

अथ स्नानादिवर्णनम् ।

ततः स्नानेच्छया स्पृष्टो विसृष्टश्यामकञ्चुकः ।

स रेजे मेघनिर्मुक्तः पर्याप्त इव चन्द्रमाः ॥ ७४ ॥

राजा के स्नानादि का वर्णन ।

तदनन्तर जब स्नान करने की इच्छा से उस राजा ने अपने कृष्णवर्ण के कञ्चुक (चोला या कवच) को उतारा तो वह ऐसा दिखाई देने लगा, मानो मेघ से मुक्त पूर्ण चन्द्रमा हो ॥ ७४ ॥

प्रमृष्टमृगयारेणु तन्मुखं पार्श्ववर्तिना ।

रुरुचे मारुताक्षिप्तपरागमिव पङ्कजम् ॥ ७५ ॥

जब अङ्गरक्षक ने उसके धूलभरे मुख को धोया तो उसका मुख उस कमल के समान शोभित हुआ जिसका केशर वायु द्वारा उड़ा दिया गया हो ॥ ७५ ॥

निसर्गललिता तस्य त्रिमुक्तालङ्कृतिस्तनु ।

लतेव पारिजातस्य पर्यस्तस्तवकाऽभवत् ॥ ७६ ॥

स्वभाव से ही सुन्दर, अलंकारों से रहित उसका शरीर पुष्पगुच्छों से रहित पारिजात-वृक्ष-सा दीखने लगा ॥ ७६ ॥

स्वेदभिन्नाङ्गरागः स सरसीं तामगाहत् ।

मदसिक्तेनटाघातधूलिर्वन्य इव द्विप ॥ ७७ ॥

पसीने से सने हुए अङ्गराग बाल बह राजा मद से सने हुये, तटाघात से उठी धूल से युक्त हाथी की भाँति उस रायटी में स्नान करने लगा ॥ ७७ ॥

स तस्या दूरविस्तिम्निहगश्रेणिमेखल ।

विजहार यथाकाम तिलासनुमुमायुध* ॥ ७८ ॥

उस राजा ने पुष्परिणी (रायड़ी) की विहग पत्ति रूपी मेखला को दूर करके तिलासी काम की भाँति स्वेच्छापूर्वक उसने साथ विहार किया (भी भर कर ज्ञान किया) ॥ ७८ ॥

उवाह विस्फुरन्नालकण्टकच्छन्नापि सा ।

तदङ्गयष्टिम्पर्शनं रोमाञ्चमिव पद्मिनी ॥ ७९ ॥

ऊपर उठे कमलनाल रूपी रोमों के रहाने कमलों-साला रावड़ी भी पद्मिनी नायिका की भाँति उस राजा के ग्रगस्पर्श से माना रोमाञ्चित हुई सी बिछाह देने लगी ॥ ७९ ॥

ततस्तरङ्गनिर्घातमध्यास्य स शिलातलम् ।

यश स्नपितदिव्जमीमा देव सस्तौ यथाविधि ॥ ८० ॥

पुन अपने यश से दिग्दिगन्त को श्वेत करने वाले उस महाराज ने बायड़ी की तरंगों से धुली हुई शिख पर नैठकर त्रिधिपूर्वक स्नान किया ॥ ८० ॥

तस्याऽधिरलमत्तालिनि स्ननच्छद्वाभा बने ।

अगीयतेय देवस्य लताभि स्नानमङ्गलम् ॥ ८१ ॥

निरन्तर गुञ्जार करने वाले मत्त भ्रमरों के गुञ्जार के रूप में वन की लताओं ने मानो उसके स्नान के समय मंगल गीत गाये ॥ ८१ ॥

स दूरोदस्तपर्यस्तसपुष्पसलिलाञ्जलि ।

जगत्तमोपह ज्योतिषयीमयमुपस्थित ॥ ८२ ॥

जल से दूर होकर (निकल कर) पुष्प और जल से अञ्जलि भर कर उस राजा ने अधकार को नष्ट करने वाले त्रयीमय—भू भुव स्व अथवा ऋग, यजु, साममय ज्योति सूर्य को अर्घ्य दिया ॥ ८२ ॥

तमानर्च स राजेन्दुमौलौ यस्येन्दुलेखया ।

क्रियते स्वर्धुनीवालमृणालशकलभ्रमः ॥ ८३ ॥

जिसके शिर की चन्द्रलेखा मन्दाकिनी में उत्पन्न कोमल कमलखण्ड की भ्रान्ति उत्पन्न कर देती है उस शिव (चन्द्रशेखर) की अर्चना भी उस राजा ने की ॥ ८३ ॥

धन्या हि ता वनलता यत्फलान्याजहार सः ।

कार्यतः सदृशी तासां समुद्ररशना मही ॥ ८४ ॥

वे वन की लताएं धन्य हैं, जिनके फलों को राजा ने ग्रहण किया और यह समुद्ररशना पृथ्वी भी धन्य है, जो उन लताओं की भांति राजा के काम आती रही है ॥ ८४ ॥

निपीय निखिलव्यक्तराजचिह्नेन पाणिना ।

उपास्पृशत्स चाम्भोजकिञ्जल्ककपिशं पयः ॥ ८५ ॥

चक्रवर्ती राजा के समस्त लक्षणों से परिपूर्ण हाथ से पुनः उस राजा ने कमलपराग से पीतवर्ण जल का आचमन और मार्जन किया ॥ ८५ ॥

नीलातपत्रमित्रेण पत्रेणाम्बुजिनीभुवा ।

निवारितोष्णः सश्रीकं लताकुञ्जं जगाम सः ॥ ८६ ॥

(इस प्रकार) वह राजा जिसके शिर पर नीलछत्र के समान कमलिनी के पत्र से छाया की जा रही थी, राजलक्ष्मी के चिह्न (छत्र) से युक्त होते हुए लताकुञ्ज में गया ॥ ८६ ॥

सपरागे विशश्राम कुसुमप्रस्तरे च सः ।

लक्ष्मीकुचाङ्गरागेण भिन्ने शेष इवाच्युतः ॥ ८७ ॥

लक्ष्मी के कुचों पर लगे हुए और छूटे हुए अंग पराग से सनी शेष-शय्या पर जैसे भगवान् विष्णु सोते हैं, वैसे ही इस राजा ने भी परागपूर्ण पुष्पों के बिल्वौने पर विश्राम किया ॥ ८७ ॥

रमाङ्गदोऽपि निर्वर्त्य त्वरया किञ्चिदाह्निकम् ।

अवाप्तसेवावसरः पर्युपास्त विशाम्पतिम् ॥ ८८ ॥

रमाङ्गद (मंत्री) भी शीघ्र दैनिक क्रियाओं को समाप्त कर, सेवा करने का अवसर पाकर इस नरेन्द्र के पास ही आ गया ॥ ८८ ॥

स भृङ्गध्वनिना सुप्तो विपञ्चीनादवन्धुना ।

तमालपल्लवैस्तेन किञ्चित्किञ्चिदवीज्यत ॥ ८९ ॥

वीणा की मधुरध्वनि के समान भ्रमरगुञ्जन की ध्वनि को सुनते सुनते राजा को नींद आ गई और रमाङ्गद तमाल-पत्रों से धीरे धीरे हवा करने लगा ॥ ८९ ॥

निद्रागृहीतनिर्मुक्तलोचनोऽथ जहार स ।

घनच्छायातृतव्यक्तमाम्बतो नभस श्रियम् ॥ ६० ॥

निद्रा में जाँचें मूँदते तथा झालते हुए वह राजा उस आकाश की सुन्दरता चुरा रहा था (ऐसा सुन्दर लग रहा था) जिसमें मेघों के छा जाने और हट जाने से सूर्य गुप्त और प्रकट हो रहा हो ॥ ६० ॥

पीनामतटसश्लिष्टपुष्पकेसरशोभिना ।

उप साकल्पकेनेन शयनीयममुन्यत ॥ ६१ ॥

पुष्ट कर्धों ने तट पर चिपक हुए फूलों के पराग से मुद्योभित, अतएव उप काल के समान सुन्दर महाराज ने शय्या छोड़ दी ॥ ६१ ॥

पुनर्मृगयागिहारः ।

चकार च पद चित्रं स मृगस्तस्य चेतसि ।

लग्न हि किमपि वापि वृच्छादारुण्यते मन ॥ ६२ ॥

पुन आखेट करना ।

विचित्र घणवाले उस मृग ने राजा के मन में अपना स्थान बना लिया था, क्योंकि किता कारण कहाँ पर गया हुआ मन उड़ी रुठिनाइ से बहा से हटाया जा सकता है ॥ ६२ ॥

प्रसादहृद्यालङ्कारैस्तेन मूर्तिरभूयत ।

अत्युज्ज्वलै कधीन्नेण कालिदासेन वागिष ॥ ६३ ॥

उस राजा ने प्रसन्नतादायक मनोहर अलंकारों से अपने शरीर को उसी भाँति सजाया जैसे कविवर कालिदास ने अपनी कविता का अति प्रसादगुण-सम्पन्न अलंकारों से सजाया था ॥ ६३ ॥

जगाहे स महारण्यमसासत्तधनुर्लत ।

उपोढशशभृन्लेख सायमव्यिमिवार्यमा ॥ ६४ ॥

सायकाल कंधे पर धनुष लटकाए उस राजा ने महारण्य में ऐसे प्रवेश किया जैसे सूर्य (जिसके समीप में उदित होनेवाले चन्द्र की कला हो) समुद्र में प्रवेश कर जाय ॥ ६४ ॥

तस्मिन्नुसुमकिर्मिरतले च त्रिचचार स ।

स्फुन्नन्नत्रशरले नभसीय निशाकर ॥ ६५ ॥

चमकते हुए तारागणों से विचित्र वर्ण वाले आकाश में चन्द्रमा की भाँति वह राजा भी पुष्पों से रंग निरगो भूमि वाले उस घन में घूमने लगा ॥ ६५ ॥

मृगानुगमनिर्वन्धो न जगामास्य मन्दताम् ।

मैथिलीरमणस्येव विपिने पृथिवीपते ॥ ६६ ॥

जिस भांति वन में रामचन्द्रजी की मृग के पीछे जाने की भावना मन्द नहीं पड़ी, उसी भांति मृग के पीछे जाने की सिन्धुराज की भावना (इच्छा) भी मन्द न हो सकी ॥ ९६ ॥

निशातिक्रमणम् ।

ततः पपात जलर्धा विरोचनफणामणिः ।

दिनाहेर्नीयमानस्य बलात्कारगरुत्मता ॥ ९७ ॥

रात्रि विताना ।

इसके बाद दिन रूपी सर्प का, बलात्कार रूपी (काल) गरुड़ के द्वारा अपहृत सूर्य रूपी फणामणि समुद्र में जा गिरा (सूर्यास्त हो गया) ॥ ९७ ॥

शनैः शनैरथ व्योम्नि मृगाङ्कः पदमादवे ।

सशङ्क इव भूपालान्मृगयासक्तचेतसः ॥ ९८ ॥

मृग के आखेट में आसक्त चित्त वाले भूपति से शक्ति होकर (ही) मानो मृगाङ्क (मृग को गोद में रखने वाले चन्द्रमा) ने आकाश में धीरे धीरे पैर बढ़ाया ॥ ९८ ॥

रमाङ्गदास्तृतस्निग्धपल्लवप्रस्तरे ततः ।

वने राजेन्दुना निन्ये तेनेन्दुतिलका निशा ॥ ९९ ॥

रमाङ्गद के बिछाये हुए कोमल पत्तों के बिछौने पर लेट कर उस राजचन्द्र ने चन्द्रविभूषिता निशा को बिताया ॥ ९९ ॥

अथ मुखरखगापनीतनिद्रः क्वचिदपि पद्मसरस्युपास्य सन्ध्याम् ।

पुनरपि तमवेक्षितुं वनान्ते नृपतिरियेष्ट मृगं मृगेन्द्रकल्पः ॥ १०० ॥

इसके पश्चात् कल कोलाहल करने वाले पक्षियों के कलरव से नींद दूर हो जाने पर किसी पद्म-सरोवर में जाकर सन्ध्या-वन्दन करके सिंहसदृश वह गजा फिर वन-मध्य में उस मृग को देखने के लिये चल पड़ा ॥ १०० ॥

पञ्चैकेन स्मर इव शरान्पाणिना हेमपुङ्खान्

अन्येनोर्वाविजयि च धनुः साहसार्द्धं दधानः ।

देवः सोऽथ व्यहरदरिपु न्यस्तपादः पिकाली-

नीडन्यञ्चन्निचुलनिचयश्यामलासु स्थलीषु ॥ १०१ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसक-

चरिते महाकाव्ये चित्रमृगावलोकनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

शत्रुओं के मस्तक पर चरण रखने वाला वह नृपति एक हाथ पर काम की भांति पांच स्वर्ण फलक (अग्रभाग) वाले बाणों को और दूसरे हाथ में भुवनविजयी एवं साहसाङ्क (साहस के प्रतीक) धनुष को धारण कर, काँयलों

के नीडों के मार से नीचे मुझी हुई वेतस लताओं से श्रम्भकारपूर्ण वनस्थली
में विचरण करने लगा ॥१०१॥

इति श्री मृगालक्ष्म के पुत्र परिमल उपनाम वाले

पद्मगुप्त-रचित नवसाहस्रचरित महाकाव्य का

चित्रालोकन नाम का द्वितीय सर्ग

समाप्त ॥ २ ॥



अथ तृतीयः सर्गः

अथ बहु चरतोऽस्य चापपाणेश् चकितवलन्मृगयूथवीक्षितस्य ।

वनभुवि सुलभः परिश्रमोऽभूत् न तु हरिणः स हृतेन्द्रचापशोभः ॥ १ ॥

धनुष-बाण हाथ में लेकर चकित चित्त से अत्यधिक विचरण करते-करते मृग को इधर-उधर देखते-देखते उस वन में राजा को थकावट तो खूब मिली, पर वह मृग न मिला ॥ १ ॥

धनुषि तनुभरं निधाय किञ्चित् तरुणतमालवने विनीतखेदः ।

मृगरुधिरलवाङ्मतेन देवः सम-विपमेण पथा पुरः प्रतस्थे ॥ २ ॥

तब धनुष की कोटि (अग्रभाग) पर अपने शरीर का भार धरकर नव तमाल-निकुञ्ज में थोड़ा सा विश्राम करके पुनः वह राजा मृग के रक्त-बिन्दुओं से चिह्नित ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर आगे बढ़ा ॥ २ ॥

विन्ध्यकन्दरप्रवेशः

अथ स चटुलपट्पदोपगीतं वनगजदानसुगन्धि गन्धवाहम् ।

परिसरमभिनृत्तनीलकण्ठं न्यविशत विन्ध्यनगेन्द्रकन्दरस्य ॥ ३ ॥

विन्ध्याचल की कन्दरा में प्रवेश

जिसमें चपल भ्रमरों का गीत हो रहा था, जो जंगली हाथियों के मद की सुगन्ध से युक्त वायु को धारण कर रही थी, जिसके आस-पास मयूर नृत्य कर रहे थे, ऐसी विन्ध्याचल की गुफा में राजा प्रविष्ट हुआ ॥ ३ ॥

चतुरकृत-कचग्रहः स गच्छन् वनलतया परिहासलोलयेव ।

नरपतिरवशः कृतः स कामं वियति मुखेन्दुमुदञ्चयाञ्चकार ॥ ४ ॥

मार्ग पर चलते हुए उस राजा से परिहास की इच्छुक वनलताओं ने उसका कच-ग्रह किया । तब उस राजा ने बड़ी कठिनाई से अपने चन्द्रानन को ऊपर की ओर उठाया ।

विमर्श—अर्थात् राजा के लम्बे-लम्बे बाल अगल-बगल की लताओं में उलझे जा रहे थे, तब राजा को बराबर रुककर अपना मुँह ऊपर आकाश की ओर करना पड़ता था ॥ ४ ॥

नमदवनिपतिः पतिः प्रजानाम् अयि ! चपले नु विकृष्यते कचेपु ।

विरम मुहुरितीव मञ्जुमुक्तध्वनिभिरसावलिभिर्लताऽभ्यधायि ॥ ५ ॥

अरी ! तू कितनी चञ्चल है कि इस राजा के, जिसको बड़े-बड़े राजा शीश झुकाते हैं, केश पकड़ने चली है ? इस प्रकार भ्रमरों ने अपनी मधुर गुञ्जार के बहाने मानो उसे (लता को) मना किया ॥ ५ ॥

कतिचिदलिनिपीतधूपगन्धान् अनतिविलम्बिपरार्थ्यमौलिरत्नान् ।

त्यरितमथ रमाद्भदोऽस्य केशान् विपिनलताव्रिटपान्तराच्चकर्ण ॥ ६ ॥

लता की टहनियों के बीच उलके हुए राजा के केशों को रमाद्भद ने छुड़ाया, बिनफी मुगध मौरे छुक-छुककर पी रहे थे, और जिनसे बहुमूल्य मौलि रत्न (मुकुट के रत्न) नटकते दिखाई पड़ रहे थे ॥६॥

हंस-दर्शनम्

नृपतिरथ तदोन्मुखश्चरतम् शटिति सितच्छदमग्नये ददर्श ।

दधतमधिगता कुतोऽपि चञ्च्वा निसलतिरामिन् वारहारलेखाम् ॥७॥

हस-दर्शन

पुन राजा ने मृणाल तटुओं के समान उलझल तथा कहींसे पाये हुए हार की चाँच में दबाकर अपनी ओर आते हुए एक हंस को आकाश में देखा ॥ ७ ॥

विकसितकुमुदपत्रं ददायदाते ततनिभृते पतत्वा ततीर्दधानम् ।

विरचयितुमुपायन नृपे-दोर् नवघटिते इव दत्तपत्रलेखे ॥ ८ ॥

विकसित कुमुद पत्र के समान श्वेत वर्ण के फैले हुए और बाद, जिसके दोनों डैने दिखाई दे रहे थे, उस हंस को राजा ने ऐसे देखा, मानो वह (अपनी ओर आते हुए) उसके लिये भेंट स्वरूप नवनिर्मित हाथीदाँत की दो पत्रलेखाएँ ला रहा हो ।

निमर्श—जब पत्नी उड़ते हैं, तब एक बार उनके डैने फैल जाते हैं तथा एक बार बाद हो जाते हैं । इसी क्रिया का स्वभावोक्ति रूप में वर्णन करने के लिए 'ततनिभृते' शब्द दिया गया है ॥ ८ ॥

चित्तमलनु विसर्पता समन्तात् किरणलतानिकरेण हारयष्टे ।

सितमणिभयसूचिनिमित्तस्य स्थितमिव जङ्गमपञ्जरस्य मध्ये ॥ ९ ॥

उस दिव्य हार की चारों तरफ से पड़ने वाली किरण रेखाओं से बिलकुल ढँका हुआ वह हंस ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो स्फटिक मणि की शलाकाओं (सीखचियों) से बने हुए कठते फिरते पिंजड़े में बैठा हो ॥ ९ ॥

तरलमणिस्वाऽऽवृत प्रकृत्या विदलितविद्रुमकन्दकान्तिलुण्डम् ।

प्रणयनिहितपादयान्महाङ्गम् कमलवनस्थितिलोत्तमेव लक्ष्म्या ॥ १० ॥

स्वभाव से तो वह हंस ऐसा है, जिसकी चोंच में कटे हुए मृगे की कान्ति है, किन्तु हार के मध्यमणि की कान्ति से चारों ओर से युक्त है । अतः उसे श्वेत कमल समझकर मानो लक्ष्मी उसपर महाकर लगे पैर को प्रेम से धरे हुए हो ।

विमर्श—हंस की चोंच लाल है। लाल चोंच में सफेद हार लटक रहा है। यहाँ कवि ऐसी उत्प्रेक्षा करना चाहता है कि लक्ष्मी रक्त कमलासन पर विराजमान है। लक्ष्मी का रंग गौर है। अतः वह हार रूप से हंस की लाल चोंच में विराजमान है। लाल चोंच की उत्प्रेक्षा रक्त कमलासन में है।

विद्रुमकन्दकान्तितुण्डम्—मूंगा स्वभावतः ही लाल होता है। फिर अगर उसे फोड़ दिया जाय तो उसकी लालिमा का क्या पृच्छना ? धूलि आदि का संसर्ग न रहने से अन्दर का भाग अत्यन्त लाल होता है। कवि को इतनी लालिमा से ही सन्तोष नहीं है, अतः वह उसकी जड़ याने मूल भाग की लालिमा चाहता है। कन्द शब्द का अर्थ है जड़ (मूल)। 'कन्दकाञ्चितुण्डम्' पाठ में 'कन्द एव कन्दकः' (स्वार्थे कन्) ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिये ॥ १० ॥

चरणयुगतले विभातकाल-स्फुटितजपाकुसुमाभिताम्रभासि ।

स्वयमिव नलिनीवनप्रसूतेः परिचयतः कृतकान्तिसंविभागम् ॥ ११ ॥

प्रभात काल में खिले हुए जपाकुसुम की भांति उसके चरण थे। ऐसा मालूम पड़ रहा था जैसे लाल कान्तिवाले उस हंस ने अपने जन्मस्थान कमल-वन से अत्यन्त प्रेम के कारण उसकी रक्तिमा में हिस्सा बँटा लिया हो।

विमर्श—हंसों का जन्म तथा निवास कमल-वन में होता है, यह बात प्रसिद्ध ही है। प्रत्येक प्राणी को अपनी जन्मभूमि या सम्बद्ध वस्तुओं से अत्यन्त प्रेम होना स्वाभाविक है। उसी प्रेम के कारण हंस ने रक्तवर्ण कमल-वन से उसकी रक्तिमा का कुछ अंश माँग लिया और कमल-वन ने भी प्रेमवश दे दिया। हंस के लाल वर्ण के चरणों पर कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है ॥ ११ ॥

प्रतिपदमतिदीर्घहारभारात् अवनमदुन्नमयन्तमुत्तमाङ्गम् ।

शिरसि निपततो निकाममुष्णान् अहिमरुचः किरणानिवोत्क्षिपन्तम् ॥ १२ ॥

अति दीर्घ हार के भार के कारण पग-पग पर नीचे दबते हुए सिर को वह ऊपर उठा रहा था, मानो अपने सिर पर पड़ती हुई सूर्य की अत्यन्त उष्ण (प्रखर) किरणों को बार-बार दूर करना चाहता हो ॥ १२ ॥

विधृतमुखधृतस्य निष्पतद्विस् तरलमणेररुणस्य कान्तिलेशः ।

अविरतमरविन्दवृन्दपीतान् मधुपृषतानिव भृयसोद्गमन्तम् ॥ १३ ॥

खुले मुख में पकड़े हुए रक्तवर्ण के हारस्थित मेरुमणि की कान्ति ऐसी निकल रही थी, मानो वह कमल-वन में पीये गये मधुविन्दुओं को निरन्तर अपने मुख से बाहर फेंक रहा हो ॥ १३ ॥

१. 'तरल' शब्द से यहाँ तात्पर्य है हार के बीच ग्रथित 'मेरुमणि'। 'तरलो हारमध्यगः'—अमरकोश ।

२. पृषन्ति विन्दुपृषताः—अमरकोश ।

परिप्रचितमयलपूरितारौ अग्रिलमौच्छिदामरस्मिनालै ।

यश इव परभूभृता निरुद्धव प्रसममुपाहृतमात्मनो यशोभि ॥ १४ ॥

इस मुक्ताहार के किरण-समुदाय से अनायास ही दिग्दिगन्त को परिपूर्ण करते हुए दूसरे राजाओं के यश को रोककर, मानो अपने यश का विस्तार कर रहा हो ॥ १४ ॥

अभिनयसिशङ्कयाऽपहृत्य स्फटिकमयीमसमक्षमक्षमालाम् ।

विहगमित्र विमानहमपक्तेर् विघटितमेकतर चतुर्मुखस्य ॥ १५ ॥

मानो वह इस ब्रह्मा के विमान की हसपक्ति में से अलग निकला हुआ एक टुकड़ा हो और उसने मृणाल समझकर ब्रह्मा के बिना देखे ही उनकी स्फटिक अक्षमाला हरण कर अपने मुख में धर ली है ।

निर्भर—ब्रह्मा जी का वाहन हंसों का रथ है । यहाँ कवि ऐसी उल्लेखा कर रहा है कि वह इस रथस्थ हंसों में से एक है । तथा नवीन मृणाल समझ कर उसने ब्रह्मा की स्फटिक की अक्षमाला ही ले रखी है ॥ १५ ॥

च्युतमित्र सितचामर मधोन श्रमजङ्गारविस्त्रासिनीकरामान् ।

अपहृतमित्र लोलपत्रजाल सुरसरित् परनेन पुण्डरीकम् ॥ १६ ॥

जो परिश्रम से थकी हुई अनएव जड़ अर्थात् हिलने-झुलने में असमर्थ इन्द्र की वार-क्लासिनिवों के हाथ से गिरे हुए इन्द्र के श्वेत चैवर की भाँति था, अथवा एवन द्वारा उड़ाये गये मन्दाकिनी के चंचल पत्तुड़ियों वाले कमल की भाँति जान पड़ता था ॥ १६ ॥

इरुसितसित दिवापि कान्तिस्त्वकमिवापतित मुधाकरम्य ।

अपि पतितमित्रा त्रीक्ष्णीलोर् भगवदिभस्य तिलासकर्णशङ्खम् ॥ १७ ॥

वह इस भगवान् शंकर के हास्य की तरह सफेद था । मानो दिन में ही चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (किरण-समूह) छिटक रही हो । अथवा इन्द्र के हाथी ऐरावत का तिलासकालीन (तिलास की सूचना देने वाला) कर्ण शङ्ख हो ।

निर्भर—‘शङ्खो निधौ ललाटास्थिन्’ (अमरकोश) । ‘शङ्ख’ शब्द का अर्थ है माल-प्रदेश के आस-पास की हड्डी । यहाँ कर्णशङ्ख से तात्पर्य है हाथी के पल तुल्य शर्पकर्णों से । अर्थात् आकाश में उड़ता हुआ वह इस ऐरावत मालूम पड़ रहा था, जैसे ऐरावत का कर्णशङ्ख (शर्पकर्ण) ही आकाश से गुजर रहा हो । शतव्य है कि इस का रंग सफेद है, तो ऐरावत का रंग भी सफेद ही है । अतः इस तरह की उत्प्रेक्षा नितान्त सही है ॥ १७ ॥

कुलकम्'

स च परिणतलोध्रधूलिशुक्लम् तरलमवन्तिपतेश्चकार चेतः ।

किसलयमिव बालचन्दनस्य स्तिमितगतिर्मलयाचलेन्द्रवातः ॥ १८ ॥

पके हुए लोध्र पुष्प (कण्डेल) की पराग की भाँति शुभ्र वर्ण के उस हंस ने राजा का चित्त कुछ इस भाँति चंचल कर दिया, जैसे मन्द मलयानिल चन्दन-पत्र को चंचल कर दिया करता है !

विमर्श—अर्थात् जैसे मन्द मलयानिल से कोमल पत्ते हिल उठते हैं, उसी तरह उस अति मनोहर हंस-दर्शन से राजा का चित्त भी चंचल हो उठा । इससे हंस की हृदयावर्जकता तथा राजा की सहृदयता प्रकट होती है ।

‘लोध्र’ को हिन्दी में लोध कहते हैं । यह एक प्रकार का वृक्ष है । वैद्यक में इसकी छाल और लकड़ी दोनों का प्रयोग होता है । यहाँ लोधपुष्प से तात्पर्य है ॥ १८ ॥

नायकवाक्यम्

अवददथ विबुद्धपुण्डरीक-प्रतिममुपान्तचरे निधाय चक्षुः ।

दशनमणिमयूखभिन्नवर्णां गिरमिति मालवराजपूर्णचन्द्रः ॥ १९ ॥

नायक के वचन

मालवराज रूपी पूर्णचन्द्र ने विकसित कमल की शोभा वाले पीछे की ओर स्थित रमांगद पर दृष्टि गड़ाकर इस प्रकार वाणी कही । उसकी वाणी दाँत रूपी मणियों की किरण-कान्ति से युक्त थी ॥ १९ ॥

सुरभिक्षुसुमचुम्बिनाऽवनम्राम् अलिपटलेन लतामिमां विना मे ।

खगममुमुपदर्शयेत् क एवं गगनरमापतिपाञ्चजन्यमन्यः ॥ २० ॥

सुगन्धित पुष्पों को चूसने वाले भ्रमर-समुदाय (के भार) से झुकी हुई इस लता के अतिरिक्त दूसरी कौन ऐसी वस्तु हो सकती थी, जो गगनरूपी विष्णु के पाञ्चजन्य शंखस्वरूप इस हंस को दिखाती ।

विमर्श—गगनरमापतिपाञ्चजन्यम्—यहाँ पाञ्चजन्य के साथ हंस का उपमानोपमेय भाव रूपक द्वारा सिद्ध है । शंख भी सफेद होता है और हंस भी श्वेतवर्ण का है ॥ २० ॥

स्मरवरकरिहस्तशीकराणां हिमशुचयो नवहारमौक्तिकानाम् ।

विदधति रुचयोऽस्य चञ्चुकोटौ कवलितबालमृणालसूत्रलीलाम् ॥ २१ ॥

१. कुलक का लक्षण—‘पंचभिः कुलकं स्मृतम्’ (सा. द. ६।३१४)

अर्थात् जहाँ पाँच या इससे अधिक श्लोकों का अन्वय एक साथ होता हो, उसे कुलक कहते हैं ।

कामदेव रूपी मगराज की सूँड से फँके जाते हुए जलविन्दुओं के समान इस नवीन द्वार के मोतियों की हिम धवल कान्ति, इस इस के धाँच के अग्र भाग पर ऐसी दिखाई दे रही है, मानो उसने इसके खाये हुए छोटे-छोटे मृणाल-तन्तुओं की शोभा को धारण कर रखा हो ॥ २१ ॥

अयि । अथय सितच्छदः खव धायं वननलिनीपुलिनान्तमद्वयसः ।

अवनिपतिक्लत्रकण्ठयोग्य खव न्व शशिपन्धुरनर्घ एव द्वार ॥ २२ ॥

अरे । देखो, कहाँ जगली कमलिनियों के मुख में निवास करनेवाला यह इस, और कहाँ राज रमणियों के कण्ठ में रहने योग्य चन्द्रमा के समान लज्जित यह अमूल्य द्वार ॥ २२ ॥

वनमुवि पतित कुतोऽयमस्या कथमयमस्य मुखातिथित्वमाप्त ।

गुरुविभवपदस्य कस्य वा स्यात् अयमिति मेन परिच्छिनत्ति चेत् ॥ २३ ॥

यह इस इस वन में कहाँ से आ गया ! यह द्वार किस भाँति इसके मुख में आया ! यह द्वार किस वैभवशाली पुरुष का होगा ! मेरा मन कुछ निरर्थक नहीं कर पा रहा है ॥ २३ ॥

अयमुचिततरं कणिस्रियो वा कुचकलशान्तरमर्त्योपिप्तो वा ।

नियतमुदधिमुद्रमीदृशानि क्षितितलमाभरणानि न स्पृशति ॥ २४ ॥

या तो यह किसी नाग वनिता के कुच-कलश का आभरण हो सकता है, अथवा किसी देवोगनाके कुच-कलशों का अलंकार है । निश्चित ही इस प्रकार का शनाभरण चारों समुद्रों से बिदे शून्यतल पर कहीं नहीं पाया जा सकता ॥ २४ ॥

किमपरमनुगम्य पप हंस अमज्जपक्षतिरावयोर्वेनात्ते ।

अयि यदयमवामनस्य भूमिर् मुखधृतहारलत छतुहलस्य ॥ २५ ॥

इस अत्र उड़ते उड़ते एक गया है । थकने से उसके पल कुछ थिलिल हो चले हैं अर्थात् अब वह पहले इतनी तेजी से नहीं उड़ रहा है । इसलिए हम उसका अनुसरण आसानी से कर सकते हैं । अतः दूसरा सब कुछ छोड़कर हम इसका अनुसरण ही करें । क्योंकि इसने मुझ में धारण किये हुए द्वार में हमें बहुत आश्चर्य हो रहा है ॥ २५ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

इति विरतवचस्युदीर्य तस्मिन् वृत्तिनि नृपे परमारवंशजैर्नौ ।

स्फुरदधरविकीर्णदन्तकान्ति प्रसरमिद जगदे रमाङ्गदेन ॥ २६ ॥

१ 'अमर्त्या अमृता-घस' देवा इत्यर्थः ।

२ 'अप्री पक्षति पक्षमूलः'—अमरकोशः ।

३ 'धीमान् क्षीरं पीती'—इत्यमरः ।

इस प्रकार परमार वंश के केतु रूप विद्वान् तथा कुशल इस राजा के कहने के पश्चात् अघरों को कम्पित करते हुए, तथा दाँतों की क्षिरण-क्रान्ति-समूह का विस्तार करते हुए (हँसते हुए) रमांगद ने यह कहा ॥ २६ ॥

जडरुचिरपि रोचते न कस्मै कथमपि दीर्घगुणेन लब्धस्तन्नः ।

नरवर चंदनेन हारदान्ना तव पतगः स्पृहणीय एव जातः ॥ २७ ॥

चन्द्रमा में दोष रहने पर भी सभी उसका आदर करते हैं, वह सभी का प्रियपात्र बना रहता है । क्योंकि उसमें सकललोकात्ताददायकवस्त्वपि महान् गुण विद्यमान है । उसी प्रकार कोई मनुष्य मूर्ख इच्छा वाला श्रियात् अकर्मण्य हो, पर उसमें एखाद महान् गुण हो तो मर्यादा उसे कैसा न चाहेगा ? वह तो सभी का प्रियपात्र बनेगा । इस हंठ के पास भी हाररूपी महान् गुण है, इसीलिए एक यः कश्चित् पत्नी होने पर भी इसपर आपत्ती दृष्टि पड़ी, श्रियात् आप इसे चाहने लगे ।

विमर्श—‘नुषीमः शिशिरो जडः’ (इत्यमरः) अर्थात् जड़ याने शीतल । ‘रक् रुचिस्त्विद् मा’ (इत्यमरः) अर्थात् रुचि याने क्रान्ति । जड़ा रुचिः यस्य सः जडरुचिः चन्द्रमाः ।

‘श्रमप्वंगे स्पृहायां च गमस्तौ च रुचिः स्त्रियाम्’—इत्यमरः । रुचिः = इच्छा । इस पक्ष में जडरुचि का मतलब होगा ऐसा पुरुष, जिसकी इच्छा जड़ हो गयी हो, उल्हाह टंडा पड़ गया हो श्रियात् अकर्मण्य ॥ २७ ॥

उपवन इव सम्भवः कदाचित् नृप घटते विपिनेऽपि हारयष्टेः ।

यदसुर-सुर-नागराजकन्या इह गिहरन्ति नगेन्द्रकन्दरेषु ॥ २८ ॥

हे महाराज ! यह हार उपवन की भाँति इस वन में भी मिल सकता है; क्योंकि यहाँ विन्ध्याचल पर्वत की कन्दराओं में सुर, असुर, और नागराज की कन्याएँ विहार करती रहती हैं ॥ २८ ॥

शकुनिरयमितो दिगन्तलग्नैर् अनुपममौक्तिकनिर्गतेर्मयूरवैः ।

तव विरचयतीव सूत्रपातं सुकृतनिधान भविष्यतः शुभस्य ॥ २९ ॥

हे पुरय के भण्डार ! अनुपम मौक्तियों से निकलनेवाली, एवं चारो दिशाओं में व्याप्त होनेवाली हार की क्षिरणों द्वारा यह हंस आपके भारी मंगल का सूत्रपात कर रहा है ॥ २९ ॥

द्रुतमयमनुगन्तमिदानीम् अनुगमनेन यतोऽस्य हारलानः ।

फलमधिकमतोपि नः कदाचित् किमपि भवेदयमेव यस्य हेतुः ॥ ३० ॥

इच्छिये अथ शीघ्रातिशीघ्र इस हंस का पीछा करना चाहिये, क्योंकि इसका पीछा करने से हार की प्राप्ति हो सकती है, और सम्भव है कि इससे भी अधिक और कोई फल प्राप्त हो, लि । हेतु यही हार बने ॥ ३० ॥

तस्मिन्पलतान्तरेण, गच्छन् । भुवमभजन् बहुमुक्तमेवार्त्ता ।

अयमतिगुरुद्वारभारजान् श्रमजडतामलमात्मनो व्यनक्ति ॥ ३१ ॥

यह इस कमी वृक्ष शाखाओं की लताओं के बीच में से चलता हुआ, कमी भूमि से ऊपर उठकर कमी आकाशमार्ग को त्याग कर भारी द्वार के भार से उत्पन्न होनेवाली अपनी थकान को स्पष्ट प्रकट कर रहा है ।

विमर्श—प्रायः इसपक्षी आकाशमार्ग से अपनी गभीर चाल से एक समान मार्ग का ग्राममण करता है । प्रस्तुत इस कमी वृक्ष-शाखाओं के बीच से, कमी जमीन के बिलकुल पास से उड़ रहा था । इसका कारण था कि वह उस गुरुतर द्वार के भार से थक चुका था । इसमें स्वभावोक्ति अलंकार का चमत्कार है, गुरुतर द्वार के कथन से यह सिद्ध होता है कि द्वार अत्यन्त कीमती रहा ॥ ३१ ॥

नयनपथमयं यथा तगरात् त्वमपि तथास्य सितच्छदस्य यात ।

अत्रनितनमृगाङ्ग 'यद्वना' तरा चकितमिवायमितस्वत प्रयाति ॥ ३२ ॥

हे पृथ्वी के चंद्रमा ! जिस प्रकार यह इस दूर से ही आपकी दृष्टि में आया, अर्थात् दूर ही से आपकी दृष्टि इस पर पड़ी, वैसे ही आप इस इस की दृष्टि में आ गये हैं । अर्थात् इसने भी आपको देख लिया है । इसीलिये यह चकित (भयभीत) सा होकर धन में इधर उधर भागा भागा फिर रहा है ॥ ३२ ॥

निचुल'वनमसीत्य घर्षतेऽय पुरत इमामयमग्निनीमुपेत ।

नयजलधरशङ्कयेव शङ्के तरुणतमालवनावितो निवृत्त ॥ ३३ ॥

यह वेतस वन को पार कर चुका है तथा सामने वाली कमलिनी के पास पहुँच रहा है । मैं सोचता हूँ, इसने नई तमालबीधि को इसलिये छोड़ दिया है, मानो वह नव जनधर माला भी हो ॥ ३३ ॥

किसलयकलिताञ्जलिं त्वरावान् अयमुपसर्पति नीलसिन्दु'धारम् ।

क्षणमयमिह बालचूतमोलौ रिचकिलमारयविलासमादधाति ॥ ३४ ॥

शीघ्रता से चलने वाला यह इस कोमल किसलयों की अजलि बनाने वाले नील सिन्दुवार वृक्ष के पास जा रहा है । और जरा ही देर में छोटे ग्राम के पथ के ऊपर विफसित मञ्जरी की शोभा धारण कर रहा है ॥ ३४ ॥

१ 'आराद् रसमीपयो'—अमरकोश ।

२ 'निचुलो हिचुलोऽम्बुज' अमरकोश—ये तीनों शब्द 'स्थलवेत्त' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । निचुल को हिन्दी में निचोल भी कहा जाता है ।

३ 'सिन्दुवारे प्रसुरधौ निर्गुण्डी'—अमरकोश—सिन्धुवार ।

अयमभिनवकर्णिकारयष्टिं क्षटिति घनस्तवकस्तनीमुपांत ।

अयमतिचपलो निसर्गरक्तां स्थलनलिनीभवधीर्यं देव ! यातः ॥ ३५ ॥

हे देव ! अब यह शीघ्र ही घने पुष्पगुच्छ रूपी स्तन वाली नवीन कर्णिकार (बड़हर) लता (कनेल का पेड़) के पास पहुँच गया है । यह अत्यन्त चपल है, क्योंकि स्वभाव से ही लाल (प्रेम में पगी) स्थल-कमलिनी का तिरस्कार कर अर्थात् उसे छोड़कर आगे बढ़ गया है ॥ ३५ ॥

अयमिह हि लतामुपैति कौन्दी^१ कुसुमवतीं नवमाधवीं विलङ्घ्य ।

क्वणदलिवलयासु नाऽऽसु तेन स्खलितमितः सहकारमञ्जरीषु ॥ ३६ ॥

अब यह पुष्पसंभार से युक्त वासन्ती लता को छोड़कर इस कुन्द पुष्प-लता पर आ रहा है । भ्रमरों के समूह के समूह जिन पर गुंजार कर रहे हैं, ऐसी आम्रमंजरियों पर भी इसका मन नहीं ठहरता ।

विमर्श—यहाँ कवि ने रूपक अलंकार का चमत्कार दिखाया है । जैसे कोई नायक पहले मुग्धा नायिका के पास जाय, फिर मध्या नायिका के पास जाकर भी जब उसका मन वहाँ नहीं लगता, तब वह प्रौढ़ा नायिका के पास जाता है । यह हंस तो प्रौढ़ा नायिका (सहकार-मंजरियों) के पास जाकर भी वहाँ स्थिर न हो सका । अर्थात् अत्यन्त चंचल नायक की तरह इसका वर्तन है ॥ ३६ ॥

अभिसरति वनस्थलीमिवैताम् मंदनवतीमयमूढकामिलीलः ।

स्फुरदतनुशिलीमुखस्य चाग्रे विचरति कर्ण इवायमर्जुनस्य ॥ ३७ ॥

किसी कामासक्त पुरुष के हाव-भाव को यह हंस दिखा रहा है । कामी पुरुष किसी कामोन्मत्ता से अभिसरण करता है, यह हंस वनस्थली के साथ अभिसरण कर रहा है । अर्थात् इस पर से जोरों से उड़ा जा रहा है । भयंकर वाणवर्षा करने वाले अर्जुन के सामने जिस तरह कर्ण विचरण कर रहा था, उसी प्रकार यह भी बहुत से भँरे जिसके आस-पास मँडरा रहे थे, ऐसे अर्जुन वृक्ष के आगे विचरण कर रहा है ।

विमर्श—यहाँ शिलीमुख तथा अर्जुन दो पद श्लिष्ट हैं । शिलीमुख—‘अलिवाणौ शिलीमुखौ’—अमरकोश । भ्रमर तथा वाण । अर्जुन—तृतीय पाण्डव तथा एक प्रकार का वृक्ष—‘इन्द्रदुः ककुमोऽर्जुनः’—अमरकोश ॥ ३७ ॥

श्रममपहरतस्तनूर्मिवातैर् अयमतिथिर्वनपल्लव^२लस्य जातः ।

- तरुततिषु तिरोहितोऽऽयमेतास्वयमरविन्दवनादिवोज्जिहीते ॥ ३८ ॥

१. ‘वासन्ती माधवी लता’ अमर ।

२. ‘माध्यं कुन्दम्’—अमर । यह सफेद रंग का एक पुष्प है ।

३. ‘वेशन्तः पल्लवं चाल्पसरो’—अमर । पल्लव का अर्थ है छोटा तड़ाग अर्थात् पोखरी-पोखरा आदि ।

अपनी तरंगों की मन्द वायु से जो इसके शरीर की थकान को दूर कर रहा है उस सङ्गात का यह अतिथि बन गया है । (अर्थात् वहाँ पर रुक गया,) और अब यह वृत्तों के मुरमुट से टँका हुआ सा दिखाई दे रहा है । देखो, अब यह कमल वनों से भी निकलता चला जा रहा है ॥ ३८ ॥

कुरवन्नतः कदम्बराजिं व्रजति ततो मुचकुन्दकाननानि ।

इति नगमयगाहते सहारस् त्वमिव धृतम्लम एष राजहसः ॥ ३९ ॥

(अब यह) कुरवरा से हटकर कदम्ब वृत्तों के पास पहुँच गया है । वहाँ से जल्दी-जल्दी मुचकुन्द के वन में पहुँच गया है । तुम्हारी तरह ही यका हुआ यह राजहस हार सहित अब पर्वत में घुसना चाहता है ॥ ३९ ॥

कुरु त्रिजयमितो ममार्यैतन् धनुरधुना ससुवर्णपुद्गलाणम् ।

यद्ययममितगतिर्गतोऽतिदूर जलपतग सद् न. कुतूहलेन ॥ ४० ॥

अब आप स्वर्णपङ्कवाले बाधा सहित इस धनुष की मुझे क्षीणिये और इस पर (हस पर) विजय प्राप्त क्षीणिये । क्योंकि हमारे कौतूहल के साथ ही साथ यह हस तीव्रगति से बहुत दूर निकल गया है । अर्थात् देखते देखते यह बहुत दूर निकल गया, अतः अब दूर लगाना उचित नहीं ॥ ४० ॥

हंसातुगमनम्

इति कथयति चापमर्पयित्वा सममिषुभि स रमाङ्गदे मरेन्द्र ।

पतगमनुययौ तमात्तहार हरति न क नयस्तुसम्प्रयोग ॥ ४१ ॥

हस के पीछे दौड़ना

रमाङ्गद के इस प्रकार कहने पर राजा ने बाण सहित धनुष उसको दे दिया, और स्वयं हार लिये हुए उस हस के पीछे गया । (सब है) नवीन वस्तुओं का सम्पर्क (उसे प्राप्त करने की इच्छा) जिसके चित्त की नहीं हर लेता ॥ ४१ ॥

ऋजु तमय विहायसा व्रजतम् रभसयशादुगच्छतो नृपस्य ।

समजनि भृशमायतोऽन्य पन्थास् सरुविटपाऽवटयर्चनेन यक्ष ॥ ४२ ॥

सीधे आकाश में सड़ने वाले उस हस के पीछे, जल्दी-जल्दी जाते हुए राजा को विटों और गतों (गड्ढों) से बचाव करने से घुमाव के कारण मार्ग बहुत लम्बा सा मालूम पड़ने लगा ।

विमर्श—हस आकाश में उड़ रहा था । उसको कोई असुविधा न थी ।

उसका मार्ग सरल सुगम था । राजा को जमीन पर चलना पड़ रहा था । अनेक गड्ढे-गुड्ढे पड़ते थे । अतः राजा को वह मार्ग अपेक्षाकृत लम्बा लगना स्वामाविक ही था ॥ ४२ ॥

नृपतिरनुययौ वने विहङ्गं नृपतिमभि प्रणयौ रमाद्गदोऽपि ।

श्रुतमिव विशदं शुचिविवेकः कृतिनि विवेकमिवान्तरः प्रसादः ॥ ४३ ॥

उस वन में राजा हंस के पीछे-पीछे चला और राजा के पीछे-पीछे राजा का प्रियपात्र रमाद्गद भी चला । वह दृश्य ऐसा लग रहा था, मानो किसी वशस्वी व्यक्ति के जीवन में शुद्ध विवेक विशद शास्त्र के पीछे चल रहा हो और अपना आन्तरिक प्रसाद (प्रसन्नता) विवेक के पीछे चल रहा हो ॥ ४३ ॥

अथ कमलसरस्तरङ्गदोलाचल्यविलोलरथाङ्गनामयुगमम् ।

मदकलकलहंसनादकृष्टः श्रमविवशः स सितच्छदः अपेदे ॥ ४४ ॥

मदविह्वल कलहंसी के नाद से आकृष्ट हुआ, थका हुआ वह हंस तरंग रूपी भूले^१ पर, जिसमें चक्वा-चक्की का जोड़ा क्रीड़ा कर रहा है, उस कमल-नण्डित तालाव के पास पहुँचा ॥ ४४ ॥

विलुलितकयरीकलापमाल्या मृदुनयशवलमेखला वहन्त्यः ।

रतिरणमवसाय चत्र नित्यं सह रमणैरमराङ्गना रमन्ते ॥ ४५ ॥

वह तालाव ऐसा था, जहाँ पर रतिक्रीड़ा को समाप्त कर, केशपाश (जूड़ा) में अस्तव्यस्त रूप में स्थित मालाओं को धारण करनेवाली, कोमल एवं नवीन शैवाल (काई) की करधनी पहनी हुई अन्तराष्ट्र अपने प्रेमियों के साथ विहार किया करती हैं ॥ ४५ ॥

सलिलगतधियाऽथ तेन दूरान् स गुरुरमुच्यत निःसहो न हारः ।

जड(ल) हृत हृदयाः कियच्चिरं वा गुणमहतामिह भारमुद्वहन्ति ॥ ४६ ॥

थके हुए उस हंस ने जल में प्रविष्ट होने की इच्छा से उस थोफिल हार को दूर से ही जल में फेंक दिया, क्योंकि जड़ता ने जिनके हृदय को हर लिया है, ऐसे लोग गुणशाली वस्तुओं के भार को कितनी देर तक दो सकते हैं ।

विमर्श—उस तालाव को देखते ही हंस के मन में जलावगाहन की इच्छा होना उसकी प्रकृति के अनुरूप स्वाभाविक ही था । फिर वह वेहद थका भी था । अतः उसने वह हार ऊपर ने ही फेंक दिया । इसपर कवि ने अर्थान्तर-न्यास द्वारा अपनी बात पुष्ट की । जिनका हृदय मूर्खता के अधीन हो चुका है, अर्थात् मन्दबुद्धि वाले महान् गुणों का भार कब तक दो सकते हैं, वह तो उसे तत्काल दूर कर देंगे ॥ ४६ ॥

१. भूले पर चढ़कर भूलने से बल्य अर्थात् चक्कर आता है । यहाँ तरंग रूपी भूले से बल्य याने भँवर की उत्पत्ति से तात्पर्य है । उस भँवर में इधर-उधर थपेड़े खाने से चंचल चक्वा-चक्की का जोड़ा जिसमें था, ऐसा तालाव ।

२. 'कयरी केशपाशः स्यात्'—इत्यमरः ।

स च मिततमरीचिचञ्चुलेखो विगलितहारलताभिपेण हस ।

परिणतविसकाण्डमङ्गलीतं पय इव विस्तृतवारमुज्ज्वगार ॥ ४७ ॥

पैली हुई हार की किरणों से युक्त चोंच वाले उस हस ने जब उस हार को पानी में फेंका, तो ऐसा जान पड़ा कि मानो मत्स्य करने के पश्चात् पके हुए खोलले कमल-खण्डों द्वारा पिये हुए जल की सी धार फेंकी गई हो ।

विमर्श—उस हस की चोंच का अप्रमाण हार की इतस्तत् फैलने वाली किरणों से शोभित था । उस हस ने जब हार तालाब में फेंक दिया, तब ऐसा मालूम पड़ा कि कमलवन में निवास के समय पके हुए मृणाल पत्रों के मत्स्य के साथ जो पानी पिया गया था, या पोले मृणाल दण्ड से जो पानी पीया गया था, उसीको अब छोड़ रहा हो । इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ४७ ॥

अथ कनकमृणालिकायुगस्य द्युतिनिधयेन चित्तं विसर्पताम् ।

अशिशिरमहसो विसारिणा रत्नैः चल्यितमशुलताकदम्बकेन ॥ ४८ ॥

इसके पश्चात् स्वर्ण कमल समुदाय के नीचे फैलती हुई उस हार की कान्ति ने आकाश में फैलने वाले सूर्य किरणों के समान एक गोल आवृत्त (घेरा) का वहाँ पर बना दिया ॥ ४८ ॥

तटमुवि तमपश्यदापतन्त पतिरवनेरवतसि'तायताम् ।

मितमभिनवहैमदण्डशोभि स्फटिकशलाकमियातपत्रमै'द्रम् ॥ ४९ ॥

तब तटोपरि बैठे हुए लोगों ने तालाब के तट पर आते हुए उसे देखा । वह ऐसा प्रतीत होता था, जैसे तपाये हुए सोने का दण्ड लगा हुआ तथा स्फटिक शलाकाओं से बना हुआ इन्द्र का छत्र हो ॥ ४९ ॥

सरसि धवलिते तत सम'ताद् अमृतमरीचिरुचेव तस्य कान्त्या ।

व्यधित चलती वियोगपीडा पद्मपदे हृदयेषु चक्षुर्नाम्नाम् ॥ ५० ॥

चन्द्रमा की कान्ति की भाँति उस हार को कान्ति से जब सारा सरोवर सफेद ही सफेद लगने लगा, तब अत्यधिक विरह वेदना ने अतमय में श्री चक्षुः-चक्षु की हृदय पर अधिकार कर लिया (वे विरह शका से व्याकुल हो उठे) ॥ ५० ॥

अतिविततगुणैः प्रधाग्नि तस्मिन् त्रिधुरमथ पतिते विशुद्धिभानि ।

कथमपि वसुधाधिप प्रमोद झटिति जगाम गुणिस्वमत्सरो हि ॥ ५१ ॥

अत्यधिक गुणों के मन्दार, पवित्रता से पूर्ण, उस हार के (पानी में) गिर जाने पर वह भूपति हार रहित उस हस को देखकर किसी तरह जाने बड़ी कठिनाई से प्रसन्न हुआ, क्योंकि गुणी लोगों के चित्त में ईर्ष्या नहीं होती ।

१ 'अवतसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे'—अमरकोश ।

विमर्श—यह बात कविसमयप्रसिद्ध है कि चक्रवाको का जोड़ा सूर्योदय होते ही अर्थात् दिन में तो संयुक्त रहता है। पर जैसे-जैसे चन्द्रोदय होता जाता है, वे एक दूसरे से दूर-दूर होते जाते हैं ॥ ५१ ॥

अथ नभसि पिशङ्गसान्ध्यरागच्छुरित इवाम्बरनिम्नगातरङ्गम् ।

कियदपि सरसस्तटे स गत्वा कमलरजः कपिशं ददर्श हारम् ॥ ५२ ॥

तालाव के किनारे जाकर राजा ने कमल-पराग से पीत वर्ण वाले उस हार को ऐसे देखा, मानो आकाश में पीत और लोहित संध्याकालीन लालिमा की शोभा से युक्त आकाश-गङ्गा की तरंग हो ।

विमर्श—यहाँ पर आकाश-गंगा से तालाव का, तरंग से हार का सादृश्य वर्णित है । आकाश में सायंकाल में सूर्यास्त-छूटा बड़ी मनोरम रहती है ! उस समय आकाश में कुछ धुंधलापन लिये रक्तिमा रहती है ॥ ५२ ॥

स च सपदि रमाङ्गदोषनीतं कनकसरोरुहकान्तिना करेण ।

निजयश इव मूर्तमादादेतं भुवनतलाभयदानदीप्तिनेन ॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् शीघ्र ही स्वर्णकमल की कान्तिवाले एवं समस्त भुवनतल को अभयदान देने में दत्त (अथवा समस्त लोक को अभयदान की दीक्षा देनेवाले) हाथ से राजा ने रमाङ्गद द्वारा लाये गये उस हार को अपने मूर्तिमान यश की भाँति ग्रहण किया ॥ ५३ ॥

सुजनमिव गुणैरूपोढशोभं शुचितरवालमृणालसूत्रदीर्घः ।

अहमहमिकया कृतप्रवेशं तरणिकरग्लपितैरिवेन्दुपादैः ॥ ५४ ॥

वह हार श्वेत लघु मृणाल-तन्तुओं के समान मुलायम दीर्घ सूतों से गुँथा गया था, और उन गुणों (सूतों) से ऐसा सुशोभित हो रहा था, जैसे गुणों से सज्जन शोभा पाते हैं । तथा सूर्य की किरणों से मन्द पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणें मानो उसमें होड़ लगाकर प्रविष्ट हो रही हों ॥ ५४ ॥

दधतमरुणमङ्गरागशेषं क्वचिदपि यष्टिषु तारमौक्तिकासु ।

वटिमिव नवातपेन किञ्चिद् बहुनवया शशलक्ष्मणस्त्विषा च ॥ ५५ ॥

चञ्चल (तरल) मोतियों की लड़ियों के बीच में लगे हुए अंगराग से वह ऐसा जान पड़ता था, मानो वह एक ही साथ बालसूर्य की किरण और चन्द्रमा की चन्द्रिका दोनों से बना हो ।

विमर्श—हार के मणियों की कान्ति एकदम सफेद थी । और उसमें लगा हुआ था लाल अंगराग । उससे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि उसमें प्रातः-कालीन सूर्य की लाल किरणें तथा चन्द्रमा की कान्ति एक साथ ही संक्रान्त हुई थी ॥ ५५ ॥

अतिरिक्ततर्कं बहन्तमन्तस्तरलमपि तरुणेन्द्रगोपशोभम् ।

अविरलमसकृन्निवासलग्नं ललितवधूद्वयादिवानुरागम् ॥ ५६ ॥

उसके बीच का मध्यमणि जो नीरवहूटो (इन्द्रगोपवधू) की-सी शोभा दिखा रहा था, और जिसकी कान्ति चारों ओर फैल रही थी, ऐसा लग रहा था मानो किसी सुन्दरी के हृदय में निरन्तर रहने के कारण उसका प्रगाढानुराग ही हो ॥ ५६ ॥

कविचिदपि लतामृते दधानं मृगमदलिप्ततलानि मौक्तिकानि ।

शबलजललवैरिवात्तजन्मान्यमरनदी यमुनाविधेर्धनस्य ॥ ५७ ॥

उसकी कुछ लड़ियों में कस्तूरी के लेप से युक्त कुछ मोती परोये गये थे । वे ऐसे लग रहे थे, मानो इन मोतियों का जन्म अमरनदी गंगा और यमुना के पानी पीनेवाले बादलों के उदर से हुआ हो ।

धिमर्श—गंगाजी का पानी है सफेद और यमुना का नीलवर्ण का । इसी तरह उस श्वेत द्वार में कस्तूरीलिप्त कुछ ऐसे मणि गुंथे थे, जिनकी कान्ति नीलवर्ण की थी । इससे उद्भेदा यह होती है कि गंगा यमुना का जल जो मेघ ने पी लिया, उन्हीं अलकणों से उनकी उत्पत्ति हुई हो ॥ ५७ ॥

अनुगुणपदवीविनिर्गतासु प्रतिलम्भायतमौक्तिकप्रभासु ।

रत्ननिकरमरीचिसूचिर्दीर्घैर्वहुभिरिव भवित मृणालसूत्रैः ॥ ५८ ॥

जिसकी प्रत्येक लड़ी में अपनी अपनी सीध में किरणें निकल रही थीं, और इसलिये वह ऐसा लगता था, मानो चन्द्रमा की किरणों के समान तक्षक और लम्बे मृणाल सूत्रों से ही गुंथा हुआ हो ॥ ५८ ॥

अतिदृढमनुरक्तया वितीर्णम् सुररमहोदधि मेखला बहन्त्या ।

वरसि निहितवन्धुजीवमुर्ध्या विचक्षितमास्यमिव स्वयंवराय ॥ ५९ ॥

जो कि मानो बहुत प्रेम में पगी, मुखरित महासमुद्ररूपी मेखला को धारण करनेवाली पृथ्वी वधू के द्वारा महाराज के ही वस्त्र स्थल पर पहनाये गये जीववन्धु (गुल दोपहरी) के फूलों से गुंथे मौलसरी के बने स्वयंवर-द्वार की भाँति लग रहा था ॥ ५९ ॥

कुलकम्

अरुचदय करे स तस्य विभक्त्युत्तरिदच्छेदकान्तिमध्यरत्नम् ।

किमपि मनसिजेन शासनाङ्गं प्रद्वितनिजायुधचित्रपुष्पसुद्रः ॥ ६० ॥

सुवतियों के दत्त के पर्ण अर्थात् रक्त ओष्ठ की कान्ति के समान (लाल लाल) मणि जिसके मध्य में गुंथे थे, वह चमकता हुआ द्वार राजा के हाथ

१ रक्त याने दाँत के पर्ण क्या हो सकते हैं ! अतः पर्णशब्द से श्रोत्र का ग्रहण किया गया है ।

में शोभा पा रहा था, मानो कामदेव के द्वारा भेजा गया लाल मुहर (मुद्रा) से अंकित कोई शासन-पत्र हो ॥ ६० ॥

शशिकररुचिना स तेन रेजे मृदुकर' पुष्करवर्तिना नरेन्द्रः ।

अमरपुरधुनी समुद्धतेन त्रिदशकरीव मृणालकन्दलेन ॥ ६१ ॥

चन्द्रमा की किरण-कान्तिवाले उस हार से, जो कि कोमल कर-कमल पर विराजमान था, महाराज ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे मन्दाकिनी से उखाड़ कर अपने सुन्दर गुण्डादण्ड में रखे मृणालकन्दल से ऐरावत सुशोभित हो रहा हो ॥ ६१ ॥

उरसि नरपतेः पतंश्चकाशे कनकशिलाविपुले तदंशुपूरः ।

अखिलभुवनकोशराजलक्ष्म्या निहित इवाधिकमुत्कया कटाक्षः ॥ ६२ ॥

स्वर्णशिला के समान विस्तृत राजा के वक्षःस्थल में वह हार डाल दिया गया, तब इस हार की किरण-कान्ति का समुदाय अत्यधिक चमक उठा । मालूम होता था, मानो समस्त भुवन-समूह की धारण करने वाली लक्ष्मी ने अत्यन्त उत्कण्ठित होकर इस राजा पर एक कोमल कटाक्षपात किया हो ॥ ६२ ॥

विकृतिरुदधिशुक्तिपु च्युतानां ध्रुवमियमिन्दुकलासुधालवानाम् ।

जलदजलकणोद्भवेपु कामं निवसति कान्तिरियं न मौक्तिकेषु ॥ ६३ ॥

राजा उस हार को देखकर कल्पना करता है कि इस हार के ये मोती निश्चित ही समुद्र की सीपों में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से गिरे हुए अमृत-विन्दुओं से बने होंगे; क्योंकि बादल के जलकणों द्वारा उत्पन्न होने वाले मोतियों में तो ऐसी कान्ति (पानी) होती नहीं ॥ ६३ ॥

न किमयमुडुमण्डलापवादः कुमुदवनानि पुरोऽस्य न त्रपन्ते ।

कथमयमवधिर्न मुक्तिभाजाम् इति तमवेक्ष्य स चिन्तयाञ्चकार ॥ ६४ ॥

इसकी कान्ति ऐसी लग रही है, जिसके सामने तारों की जगमगाहट भी किसी काम की नहीं । इसके सामने तो कुमुदवन भी लजित प्रतीत हो रहे हैं, यह तो सचमुच मोतियों की सुन्दरता की पराकाष्ठा है । इस प्रकार उसे देख-कर महाराज सोच में पड़ गये ।

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक में वक्तोक्ति के द्वारा नञ्मुखेन विधि दिखाई गई है । अतः विशेष चमत्कार है ॥ ६४ ॥

स्फुरदुदरनिवेशितेन्द्रनीलां मदजलराजिमिव स्मरद्विपस्य ।

अवनिपतिरपश्यदक्षराणां ततिमथ हारमृणालिकान्तराले ॥ ६५ ॥

राजा ने हार की लड़ियों के भीतर नीले अक्षरों की पंक्ति देखी, जिसके बीच में चमचमाते हुए इन्द्रनील (नीलम) मणि जड़े हुए थे । उससे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि कामदेव रूपी गजराज की मदजल की पंक्ति हों ॥ ६५ ॥

२. पुष्कराम्भोरुहाणि च—अमरकोशः ।

अभिनयलिखितामिव प्रशस्तिं मदनमहानृपते* स पार्थिवेन्द्रः ।

इति निविडकुतूहलाकुलस्ता ललितपदाभरणामवाचयच ॥ ६६ ॥

भूषति ने अत्यन्त उत्सुकता के साथ सुन्दर पदों से सुशोभित उस अक्षर-पत्र को पढ़ा । वह ऐसी लगी, जैसे अभी-अभी कामदेव की प्रशंसा-पत्रिका ही लिखी गई हो ॥ ६६ ॥

मनसिजनरवोरप्रेजयन्त्यास त्रिभुवनदुर्लभविभ्रमैकभूमे ।

कुचमुकुलप्रिचित्रवल्ली परिचित एष सदा शशिप्रभाया ॥ ६७ ॥

उसमें लिखा था कामदेव रूपी प्रबल प्रतापी वीर योद्धा की त्रिजयपताका रूप में उत्पन्न हुई चैलोक्य में अनन्यसाधारण अप्रतिम हावभावों से परिपूर्ण शशिप्रभा के स्तनरूपी कली के नाथ बिचिन लता के रूप में यह द्वार प्रसिद्ध है ॥

किमु विपुलमिम मनुष्यलोक पुरमुत्त पर्वतपक्षशातनस्य ।

किमु युवतिरिय भुजङ्गभर्तुर् मुबनमलङ्कुक्ते शशिप्रभेति ॥ ६८ ॥

उस अक्षर पत्र को पढ़कर राजा ने सोचा—यह शशिप्रभा नाम की युवति क्या इस विस्तृत मनुष्यलोक में रहने वाली है, अथवा पर्वतों के पलों को नष्ट करनेवाले (इन्द्र) के नगर की रहने वाली है । अथवा यह नागराज के लोक (पाताल) में रहने वाली तो नहीं है । ॥ ६८ ॥

वदति शशिमुखीमिवो न दूरे तरुणविलेपनभिन्न एष द्वार ।

सरितमिव बन्नातरे समीर स्फुटितसरोरुहरेणुना पिशङ्ग ॥ ६९ ॥

परन्तु इस द्वार पर तो ताजा ताजा कस्तूरी का लेप किया हुआ है । इस से तो यही प्रतीत होता है कि यह शशिमुखी यहाँ से अधिक दूर नहीं है । जिस भाँति विकसित कमलों के पराग से पीतवर्ण का (अर्थात् परागकणों के कारण धूसर वर्ण का—यह कविसमयसिद्ध पदार्थ है,) वायु जब हथर उधर चलता है तो पता लगता है कि वन में कहीं आस-मास ही नदी होगी ॥ ६९ ॥

कुसुमरारसयस्य कस्यचित्कि समञ्जनि नागतलाघिदेवतेयम् ।

वत मुकुलितमन्मथावतारे पथि विचरेदधिनाककन्यकानाम् ॥ ७० ॥

क्या यह शशिप्रभा कामदेव के मित्र अर्थात् सौन्दर्य में काम के समान सुन्दर किसी युवक की अर्धाङ्गिनी होकर तो नहीं पैदा हुई, (स्त्री) अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यह अभी स्वर्ण-कन्याओं के उस मार्गपर विचरण कर रही हो, जिसमें काम का प्रथमाविर्भाव होता है ॥ ७० ॥

अपि वृत्तनयनोत्सवेन तन्वी तरुणमुधामधुरेण दर्शनेन ।

मुदमुपजनयेद्वने किमेपा ? मम शरदि दुकलेव वैरवस्य ॥ ७१ ॥

जिस भाँति शरद् कालीन चन्द्रमा की किरणों से कुमुद को अत्यन्त प्रसन्नता होती है, क्या उसी भाँति यह भी नूतन अमृत के समान मधुर तथा नेत्रों को

आनन्द' देनेवाले अपने दर्शन से मुझे इस वन में आनन्दित करेगी ?
अर्थात् क्या इसके यहाँ आसपास मिलने की सम्भावना है ? ॥ ७१ ॥

इति कियदपि यावदेव चिन्ता-वशमगमत्स मनुष्यलोकपालः ।

धनुरपि निचुलं विधाय तावत् कुसुमशरोऽस्य बभूव पार्श्ववर्ती ॥ ७२ ॥

इस भाँति जब राजा कुछ चिन्तित हुआ, तब शीघ्र ही मौलसरी पुष्प का
धनुष धारण कर कुसुमशर (काम) भी मानो उसके पास आ खड़ा हो गया ॥

अथ सम्भ्रमादनुचरेण विनिहितमालपल्लवे ।

आस्त तरुणमुमसंवलिते सरसः स सैकतशिलातले नृपः ॥ ७३ ॥

इसके बाद वह राजा उस तालाब के एक ऐसे बालू के ढेर पर बैठ गया,
जिस पर रमाङ्गद ने जल्दी ही तमालपत्र रखकर फूल बिछा दिये थे ॥ ३७ ॥

आलक्ष्य स्तनसख्यलक्ष्मणि ततस्तस्मिन्कुरङ्गीदृशो ।

मुक्तादाम्नि करोदरप्रणयितामाप्ते तुपारत्विपि ।

विस्मृत्या सहसा हृतं चतुरया क्रोडीकृतं चिन्तया ।

चेतः श्रीनवसाहसाङ्कनृपतेरुत्कण्ठयाऽवृण्यत ॥ ७४ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूतोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाङ्क-

चरिते महाकाव्ये शशिप्रभाहारलाभो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

उस मृगनयनी शशिप्रभा के स्तनों से मित्रता रखने वाले हिम-धवल
कान्ति वाले हाथ पर स्थित उस मोतियों के हार को देख-देख कर भी नव-
साहसाङ्क नृपति के चित्त को विस्मृति ने हर लिया, चतुर चिन्ता (कामिनी) ने
उसके चित्त को अपनी गोद में ले लिया, और मिलन की उत्कण्ठा ने उसके
चित्त को आकृष्ट कर लिया ।

विमर्श—वह राजा हार को देखकर सब कुछ भूल गया और उसे चिन्ता
ने घेर लिया । उसका मन शशिप्रभा से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो उठा ।

इस श्लोक में 'चिन्तया' पद के साथ 'चतुरया' विशेषण विशेष चमत्कारी
है । जिस तरह कोई चतुर नायिका नायक के मन में किसी अन्य रमणी का
ध्यान आते देखकर तत्काल उसे विविध हाव-भावों से वश करना चाहती है,
उसी तरह चिन्तारूपी नायिका ने राजा के मन में शशिप्रभा के प्रति अनुरागो-
द्रेक होते देखकर तत्काल उसे अपनी गोद में ले लिया ॥ ७४ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्त रचित नवसाहसाङ्कचरित
महाकाव्य का शशिप्रभाहारलाभ नामक तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थः सर्गः

ततः स चेतस्यनीपतिर्दधे शशिप्रभालोकमहोत्सवस्पृहाम् ।

उपोदरागामुदधिस्तटोदरे नवीद्गता विद्रुमकन्दलीमिव ॥ १ ॥

हारप्राप्ति के पश्चात् राजा के मन में शशिप्रभा के दर्शन महोत्सव की लालसा उसी तरह जागी अर्थात् राजा ने उस लालसा को अपने हृदय में उसी तरह धारण किया, जैसे समुद्र अपने तट के मध्यभाग में पड़े हुए नवागत अतपव लाल मृगे की कलियाँ धारण करता है ॥ १ ॥

शशिप्रभाशानलिनीमृणालताम् उपागते मौक्तिकदाम्नि सादर ।

तदागते दूत इव न्यवेशयत् स दशोप्रेमस्रवे विलोचने ॥ २ ॥

राजा ने उस हार पर, जब कि उसमें शशिप्रभा के मिलने की आशा कमलिनी के माल-ही दिखाई देने लगी (उसे विश्वास हो गया कि शशिप्रभा का मिलन अवश्यमावी है), अपने प्रेमपूर्ण नेत्र भी इस भाँति गड़ा दिये मानो वहाँ से (शशिप्रभा की ओर से) आये किसी दूत को (सस्नेह) देख रहा हो ॥ २ ॥

पुनः पुनः पट्पदराजिमेचका तदिन्द्रनीलाक्षरपङ्क्तिमैश्वर ।

स शङ्खणाग्नन्मथजातवेदस तनीयसी धूमलतामिवोद्गताम् ॥ ३ ॥

जो काले भ्रमरों की फतार के समान काली काली लग रही थी, उस हार में जड़े नीलम से अङ्कित उस अक्षर-पङ्क्ति को वह राजा बार बार ऐसे देखने लगा, मानो उसे वहाँ पर अकस्मात् कामाग्नि की हल्की धूमरेखा ही निकलती दिखाई पड़ रही हो ॥ ३ ॥

सुगन्धिहारादनुलेपन करे समुन्मिषत्स्वेदलने विलुम्पति ।

असङ्गताया अपि दीर्घचक्षुष पयोधरस्पर्शमिग्राससाद स ॥ ४ ॥

उस राजा ने पसीने की बूंदों से भरे हुए अपने हाथ में उस सुगन्धित हार के द्वारा यखत ऐसा अनुभव किया, मानो वह अपने से दूर रहने वाली भी उस आयताक्षी (दीर्घनेत्रा) शशिप्रभा के स्तन स्पर्श का आनन्द ले रहा हो ।

विमर्श—किसी भी प्रियजन की कोई वस्तु हाथ में आ जाय तो अत्यधिक प्रेमाधिक्य के कारण मनुष्य को उस प्रियजन के साक्षात् मिलन का अनुभव होता है, यह लोकप्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

तदीयनामाङ्गलिपिं शनैः शनैः सलीलमावर्तयितुं प्रचक्रमे ।

परिस्फुरत्पल्लवपाटलाधरो रक्षस्यविद्यामिव मन्मथस्य स ॥ ५ ॥

धीरे-धीरे वह राजा 'शशिप्रभा,' इस नाम की अक्षर-पंक्ति को बार-बार बड़े प्रेम से दोहराने लगा । जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह अपने फड़कते हुए किसलयों की तरह लाल अधरोष्ठ से कामदेव के गूढ़ शास्त्र को बार-बार दोहरा रहा हो ॥ ५ ॥

अनेकरूपाऽलिखनप्रगल्भया सुतीक्ष्णया वर्तिकयेव चिन्तया ।

स तामनाप्तेक्षणसंस्तवा पुरा लिलेख चित्ते मुहुरन्यथान्यथा ॥ ६ ॥

नाना प्रकार की चित्र-कल्पना में प्रवीण, अति तीक्ष्ण चिन्तारूपी तूलिका से वह राजा आँखों से कभी न देखी गई उस शशिप्रभा का विभिन्न प्रकार का चित्र अपने मानस-पटल पर अंकित करने लगा अर्थात् चिन्ता के कारण उसके विषय में सोचता हुआ उसके सम्बन्ध में नाना भाँति की कल्पना करने लगा ।

विमर्श—जिस तरह कोई कुशल चित्रकार सुन्दर तथा नोकवाली कुँची से कागज या पटल पर ऐसे-ऐसे चित्र अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर खींचता है, जिन्हें उसने कभी देखा भी नहीं होता, राजा भी अपने चित्त रूपी पटल पर चिन्ता रूपी कुँची से कभी न देखी हुई शशिप्रभा के अनेक कल्पना-चित्र खींचने लगा ॥ ६ ॥

अनङ्ग-चण्डातपतप्तयोस्तदा शशिप्रभाविभ्रमदर्शनम्प्रति ।

द्वयोरभूदुत्सुकता वनान्तरे विलासिनस्तस्य च कैरवस्य च ॥ ७ ॥

तब उस वन में शशिप्रभा की सुन्दरता को देखने के लिये काम से पीड़ित विलासी राजा और धूप से व्याकुल कुमुद दोनों की उत्सुकता मानो बढ़ने लगी ।

विमर्श—रात्रि में चन्द्रोदय के साथ ही कुमुद विफसित होता है । अतः उसका चन्द्रमा के लिये उत्सुक रहना स्वाभाविक है । राजा भी शशिप्रभा के लिये व्याकुल है । यहाँ सात्त्विक व्यभिचारी भाव 'औत्सुक्य' विशेष चमत्कारी है ॥ ७ ॥

उदग्रदिग्वारणहस्तहारिणा स दक्षिणेन स्फुरता च बाहुना ।

स्थिरीकृताशो मनसापि दुर्लभाम् अदुर्लभामिन्दुमुखीममन्यत ॥ ८ ॥

विशाल दिग्गज के सूँड के समान (परिपुष्ट एवं बलशाली) दक्षिण हस्त के फड़कने के कारण मन से भी न प्राप्त हो सकने वाली शशिप्रभा को राजा ने दुर्लभ न समझा ।

विमर्श—दक्षिण हाथ का फड़कना सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शुभ-सूचक चिह्न है । कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने भी जगह-जगह पर ऐसा वर्णन किया है ॥ ८ ॥

पुरो विमुञ्चप्रयने यदृच्छया नृपस्तमालदुमकाननोदरे ।

अपश्यदत्रावसरे विलामिनीं पयोदमग्रे शशिन कलामिव ॥ ९ ॥

इधर उधर देखते हुए राजा की दृष्टि एकाएक तमालवृक्ष-समुदाय के बीच पड़ी । वहाँ उसने एक सुन्दरी को देखा । मानो बादलों के बीच चन्द्रकला विराजमान हो ॥ ९ ॥

नायकनाम्यम्

अथैष दीर्घा दशनाचिप किरन् मुखाष्टवारो किरणच्छटा इव ।

निरीदय तामुन्मदहसगामिनीं रमाद्गच्छ सस्पृहमित्यवोचत् ॥ १० ॥

नायक के वचन

उन्मत्त हस की तरह चलने वाली उस रमणी को देखकर राजा ने रमागद से उत्सुकतापूर्णक कहा । बोलते समय उसके दाँतों से कान्ति निकल रहा थी । वह कान्ति चन्द्रमा की किरण छटा के समान शोभ रही थी ॥ १० ॥

शनैश्चरती विपिने तत्र स्थिता नितग्न्यनी कञ्चिदिय दृशो पथि ।

अधीरता दक्षिण मातरिश्वा लतेर नीता मसूणेन माधवी ॥ ११ ॥

(हे मनी) इस वन में घूमती हुई इस सुन्दरी स्त्री को क्या तुमने भी देखा है । यह तो ऐसी दिखाई दे रही है, जैसे स्निग्ध दक्षिण पवन द्वारा अधीर बनाई हुई माधवी छता हो । (मानो वह मलयाचल से कम्पित माधवीलता के समान अधीर हो रही हो) ॥ ११ ॥

युता सिताभै मुमनोभिरेतया परिश्लयेय क्वरी नियम्यते ।

उदस्तभाम्बतरकान्तया श्रिया दिनस्य ताराशरलेख शरिरी ॥ १२ ॥

सफेद कान्तिवाले पुष्पों से यह सुन्दरी अपनी व्यस्त (खिली हुई) बेणी बाँध रही है अर्थात् फूलों को बेणी में गूँथ रही है । वह बेणी ऐसी मालूम पड़ रही है, जैसे उदित सूर्य की किरण कान्ति वाली दिन की शोभा से युक्त रात हो, और रात में ताराएँ उगी हो ।

विमर्शो—तारा सफेद रंग की, फूल सफेद रंग के, रात्रि का रंग काला तथा बेणी भी काली—इस तरह उपमानोपमेय मान रहने से काव्यगत सौंदर्य इस श्लोक में पर्याप्त है ॥ १२ ॥

असत्कवेर्गगिर चीतसौष्ठवे निवेशयन्ती पदमव्ययस्थया ।

असावनेकस्म्यलिने समाकुला त्रिमुच्य मार्गं किमित्प्रतिष्ठते ॥ १३ ॥

१ 'मलयाचल' दक्षिण दिशा में है—ऐसा वर्णन काव्य-जगत् में होता है । अतः यहाँ दक्षिण मातरिश्वा से वायु का सौगन्ध्य भी परिलक्षित होता है ।

लभगप्रथ कवि ऐसे पदों का निवेश करता है, जिनसे भाव स्पष्ट नहीं होता, जिसका पदन्यास भी अस्तव्यस्त रहता है, उस कवि के काव्य की भाँति यह भी व्याकुल होकर पदक्रम (पैरों को) भली-भाँति न धरती हुई, ठोकर खाती हुई, सुन्दर मार्ग को छोड़कर कुमार्ग (ऊबड़-खावड़ जगह) से इधर आती हुई प्रतीत होती है।

विमर्श—जिस भाँति साधारण कवि की रचना का सौन्दर्य बिखरा रहता है, उसमें पदन्यास भी भली-भाँति नहीं रहता, वह कवि काव्य के सत्मार्ग को त्याग कर कुमार्ग पर चलता है, उसी भाँति यह भी अस्तव्यस्त है, इसके पैर ठीक नहीं पड़ रहे हैं, और यह भी मार्ग छोड़कर जंगली रास्ते पर चल रही है ॥ १३ ॥

हठेन नेतुं वशतामिवात्मनो मनोभिरामासु विलासभङ्गिषु ।

धृतांशुका तामिरियं पदे पदे लताभिरम्भोजमुखी निरुद्धयते ॥ १४ ॥

मन को मुग्ध करने वाले हाव-भावों को दिखाने के कारण ये लताएँ जवरदस्ती अपने वश में लाने के लिये इस कमलनयनी सुन्दरी का आंचल पकड़ कर पग-पग पर मानो इसे रोक रही हैं ।

विमर्श—भाड़-भँखाड़ में से होकर चलने से उसका आंचल बार-बार लतरो में उलझ जाता, इसी पर कवि ने यह श्रेष्ठ उत्प्रेक्षा की उड़ान भरी है ॥

विचिन्वती किञ्चिदिवेयमादरात् अपद्मपातस्तिमिते विलोचने ।

गतेऽवतंसोत्पल-पत्रवन्धुताम् इतस्ततः पद्मवने विमुञ्चति ॥ १५ ॥

आदरपूर्वक कुछ हँदती हुई-सी यह रमणी श्रेष्ठ कमल के समान अपने अपलक नेत्रों को इधर-उधर कमल-वनों की ओर डाल रही है ।

विमर्श—मानो कमल-वन में किसी वस्तु को ढूँढने की इच्छा से इधर-उधर एकटक होकर देख रही है ॥ १५ ॥

मृदु प्रयान्तीयमनिम्ननिम्नयोः सितांशुका कामपि कान्तिमश्नुते ।

जले कलेव प्रतिविम्बितैन्दवी वनानिलोदञ्चदवाञ्चदूर्मिणि ॥ १६ ॥

नीचे-ऊँचे मार्ग पर धीरे-धीरे चलने वाली, श्वेत दंष्ट्र धारण करने वाली यह रमणी श्रद्धाशुत शोभाशालिनी प्रतीत हो रही है । मानो प्रतिविम्बित चन्द्रमा की कला वनवायु से परिचलित लहराते जल पर नाच रही हो ॥

प्रसादमस्माकमरण्यदुर्लभैर् विधेहि सालक्तकपादताडनः ।

असावशोकैः क्षणमाश्रितैः श्रमात् इतीव मत्तालिस्तेन योच्यते ॥ १७ ॥

जिस अशोक वृक्ष के नीचे यह क्षण मात्र रही है, वह अशोक वृक्ष

मस्त भ्रमरों की गुजार की ध्वनि से मानो इससे प्रार्थना कर रहा है कि अलता से रंगे चरण जो वा में कभी नहीं आ सकते थे, उनका आघात करके हम पर कृपा कर दो ।

निमर्श—कवि समय का निर्गह यहाँ पर किया गया है—‘पादाहत प्रमदया विकसत्यशोक’ ॥ १७ ॥

अभेदमूढस्तवकाभिरावृता लतामिरीपल्लुलितालिपवित्तिभि ।

इयं पुरो मारुतनलितालका न लक्ष्यते व्यक्तमवामनस्तनी ॥ १८ ॥

घने पुष्पगुच्छों से युक्त उन लताओं से घिरी जिम पर चञ्चल भ्रमर पकियाँ बैठी हैं, यह विशाल स्तनों वाली रमणी जिसके बाल वायु से कम्पित हो रहे हैं, साफ साफ नहीं दिखाई दे रही है ॥ १८ ॥

ऋजु क्यचित्क्याप्यनृजु प्रवर्तते क्वचित्स्त्रलत्युच्चशिलातले पथि ।

इयं शनै शैलनदीम च क्वचित् विनम्रगानीरतलेन गच्छति ॥ १९ ॥

पर्वतीय नदी की भाँति यह रमणी भी कभी सीधे मार्ग पर चल रही है, कभी टेढ़े मार्ग पर चल रही है । कभी ऊँचे-ऊँचे पथरों से आकीर्ण मार्ग पर चल रही है और कभी खेत की लताओं के नीचे होकर चल रही है ॥

स्थिता परिष्वज्य सरोजिनीमिमा घने घनेऽस्मिन् कुसुमोन्मदालिनि ।

प्रयाति सासूयमिय कथंचन स्वहस्तसीमन्तितमार्गवीरुधि ॥ २० ॥

कुसुमों का पराग (मकरंद) पीकर मस्त भ्रमरों से परिपूर्ण इस घने वन में लड़ी हुई यह रमणी, कमलिनी का आलिङ्गन कर, अपने हाथों से लताओं को घुस्से में मानो इधर ठहर इटाकर (अपने लिये मार्ग बनाती हुई) बड़ी लापरवाही से चली आ रही है ॥ २० ॥

क्यचित्क्वचित्स्वेदलरोद्गमो मुखे समाहृतेयं कनरी यथा तथा ।

अथ च कम्प कुचयोर्वधूरिय रतिभ्रमव्याकुलितेव लक्ष्यते ॥ २१ ॥

इसके मुख पर कहाँ कहीं पसीने की बूँदें झरक रही हैं, और जैसे जैसे करके यह अपनी चेष्टा को संभाले हुए है, (चलने के कारण दीर्घ श्वास आने से) इसके कुच काँप से रहे हैं । यह ऐसी दिखाई दे रही है मानो रतिक्रीड़ा में यकी हुई नववधू हो ॥ २१ ॥

अनेन रूपातिशयेन लीलाया विविक्तनेपथ्यपरिग्रहेण च ।

अरण्यसचारपरेयमेकिंवा कुतूहल मे हृदये निपिञ्चति ॥ २२ ॥

अपने इस सुन्दर रूप से, अपनी लीला से, अपनी अस्तव्यस्त वेशभूषा से, और एकाकी वन में विचरण करने के कारण यह मेरे हृदय में एक प्रकार का कुतूहल पैदा कर रही है ॥ २२ ॥

असौ पराधीनतयाऽस्पदीकृतान् न वालिका न प्रतिभासते मम ।

अयं स्फुरत्काञ्चनपद्मसोदरः सचामरोऽस्याः कथमन्यथा करः ॥२३॥

यह वालिका निश्चय ही पराधीन दासी जान पड़ती है, वह यदि दासी न होती तो इसके स्वर्णकमल के समान कान्ति वाले हाथ में चँवर क्यों होता । अर्थात् जिसके लिए यह चँवर धरे है, वह इसकी रानी कोई और होगी ॥२३॥

इयं किमु स्याद्वनदेवताऽऽगतागता धरां व्योमवधूरयं किमु ।

अवेक्षितुं हारमिहंयमागता शशिप्रभावारविलासिनी किमु ॥ २४ ॥

क्या यह कोई वनदेवता तो नहीं यहाँ आ गयी ? अथवा आकाश की कोई ध्वस्तरा तो पृथ्वी पर नहीं आ गयी ? अथवा (शशिप्रभा के) हार को देखने के लिए उसकी कोई दासी तो नहीं यहाँ आ गयी है ॥ २४ ॥

इतः स चित्राकृतिरीक्षितो मृगः सितच्छदादाप्तमितो विभूषणम् ।

इतश्च दृष्टेयमिति प्रसूयते प्रसक्तमाश्चर्यमियं वनस्थली ॥ २५ ॥

यह घना वन तो बड़े-बड़े आश्चर्यों से युक्त जान पड़ रहा है । उधर तो इस वन में विचित्र आकृति वाला मृग दिखाई दिया, इधर हंस से यह हार मिला, और यहाँ यह नारी भी देखी । मालूम पड़ता है, इसमें बड़े-बड़े आश्चर्य भरे हैं ॥ २५ ॥

पाटलाया नायकदर्शनम्

इति प्रकृत्या मधुरोक्तिरुक्तवान् तयाऽऽयतादया दृष्टो विशाम्पतिः ।

तमालपत्रापिहितं शिलातले कुमुद्वतीकान्त इवाम्बरं स्थितः ॥ २६ ॥

पाटला का राजा को देखना

इस प्रकार बोलते हुए स्वभाव से ही मधुरभाषी तमालवृक्षों से आच्छादित शिला पर बैठे हुए राजा को उस दीर्घलोचना नारी ने इस भाँति देखा, मानो आकाश में शोभा पाने वाला चन्द्रमा हो ॥ २६ ॥

ततस्तदालोकनकौतुकेन सा स्थिता निमेषोज्झितपद्मलेक्षणम् ।

विनिद्रसत्केशरपङ्कजा वर्धो वने निवातस्तिमितेव पद्मिनी ॥ २७ ॥

पुनः राजा को देखने की उत्सुकता से वह कुछ क्षण तक अपलक दृष्टि से देखती हुई खड़ी रही । उसकी दशा ऐसी थी, मानो परागपरिपूर्ण विकसित कमलिनी वन में वायु का झोंका न लगने के कारण शान्त बनी हुई हो ॥२७॥

पाटलायाः स्वगतम्

अचिन्तयत्सेति च पाटलाधरः सितारविन्दच्छददीर्घलोचनः ।

मुखं मुधादीधिति सुन्दरं दधन् वने गतः कोऽयमनङ्गविभ्रमः ॥२८॥

पाटला का अपने मन में विचार

उसने अपने मन में सोचा कि रक्त वर्ण की कान्ति वाले ओठों वाला, श्वेत कमल-दल के समान (दीर्घ और विस्तृत) नेत्रों वाला, मुख पर चन्द्र की कान्ति को धारण करने वाला, कामदेव के समान हाव-भाव वाला कौन यह इस वन में आया है ॥ २८ ॥

व्यनक्ति कल्याणमयीयमावृत्तिर_महीयसोमस्य महानुभावताम् ।

असत्यमेतासु रुचा वितन्वति लतासु कार्तस्यरपरलज्जोद्गमम् ॥ २९ ॥

इसकी यह मधुर एवं शान्तावृत्ति इसकी महानुभावता को प्रगट कर रही है । (आकृति से यह उदारचरित कात होता है ।) यह आकृति अपनी कान्ति से लताओं के सुनहली कान्ति वाले नये-नये निकलने वाले पत्तों की कान्ति को नगण्य ही बना रही है ॥ २९ ॥

भुजेन चित्राङ्गादरत्नशोभिना सतारहारेण भुजान्तरेण च ।

यदस्यय मध्यमलोकपालताम् परार्ध्यचूडामलिना च मौलिना ॥ ३० ॥

हाथ पर विचित्र वर्ण का बालूराद धारण करने से, तथा बद्ध स्थल पर अनेक लङ्घियों के दार को धारण करने से और शिर पर अमूल्य रत्न-मुकुट को धारण करने से तो ऐसा जान पड़ता है कि यह कोई राजा है ॥ ३० ॥

अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सिताक्षपत्रैरिव सर्पतो घृत ।

अचामरोऽप्येव सतेज वीज्यते तिलासवालन्यजनेन कोप्ययम् ॥ ३१ ॥

बिना छत्र के भी यह अनेक श्वेत छत्रों से युक्त जान पड़ता है, इसके ऊपर यद्यपि नैवेर नहीं हुआया जा रहा है, फिर भी इसके ऊपर विलास रूपी बाल्म्यजन (चैंकर) हुआया जा रहा है ॥ ३१ ॥

प्रियेयमारुदगुणा सुमशामूर् न चात्तिक चापलताऽस्य मुञ्चति ।

इमे पृथक्का अपि पाथिवज्रियो तिलासकर्णोत्पलपल्लवा इव ॥ ३२ ॥

अति सुन्दर लगने वाली, गुणों से युक्त और सुमश में पैदा होनेवाली चपलता ने इसका साथ नहीं छोड़ा (अर्थात् उन्चकुलीना चपलता इसमें है), इसके पास जो ये बाण हैं, राज्यश्री (नायिका) के विलासकालीन कर्ण-भूषण बनाने के योग्य (कर्ण) पल्लव की तरह मालुम पड़ रहे हैं ॥ ३२ ॥

इव शिलोत्सगवले निपेदुषा दिवश्च्युतेनेव कुरङ्गलक्ष्मणा ।

अधस्तरूपाभमुना विनीयते क्षण मृगव्योपनत परिश्रम ॥ ३३ ॥

स्वर्ग से उतरे हुए चद्रमा की भाँति सुन्दर कान्ति वाले, पेड़ के नीचे (छाया में) पैदा हुआ यह राजा आखेट से उत्पन्न शकावट को दूर कर रहा है ॥ ३३ ॥

अयं स न स्यान्नवसाहसाङ्क इत्यनङ्गलीलासु कृती भुवः पातः ।

स येन मुक्तो निजनामलाञ्छितः शशिप्रभाकेलिकुरङ्गके शरः ॥ ३४ ॥

जिसने शशिप्रभा के क्रीड़ामृग पर अपने नामाङ्कित बाण को छोड़ा है, कहीं यह वही कामक्रीड़ाचतुर पुण्यात्मा पृथ्वीपति नवसाहसांक तो नहीं है

अयं स नो हार इवास्य दृश्यते करोदरे पल्लवपाटलत्वपि ।

इतः किमेतस्य न सैकते स कि सितच्छदो लोचनगोचरं गतः ॥ ३५ ॥

नवीन पत्तों के समान रक्त कान्ति वाले इसके हाथ पर यह हमारा ही हार सा दिखाई दे रहा है । इसके इस ओर नदीतट पर क्या वह हंस भी नहीं दिखाई दे रहा है अर्थात् अवश्य दिखाई दे रहा है ॥ ३५ ॥

सुवर्णपुद्गे लिखितं शिलीमुखे तदस्य नामास्ति समानमाकृतः ।

यदद्भुतामेकपदे पृषत्कताम् अगादनङ्गस्य शशिप्रभाप्रति ॥ ३६ ॥

स्वर्णफलक (बाणाग्रभाग) वाले बाण पर लिखे हुए नाम की ही भाँति हंस की आकृति भी सुन्दर दिखाई दे रही है । मालूम होता है कि इसीलिये यह शशिप्रभा के प्रति एक विचित्र काम के बाण का काम कर रहा है ॥

अनेन चेद्योगमुपैति दैवतः फणीन्द्रकन्या शशिनेव रोहिणी ।

अनल्पलावण्यतिरस्कृतोपमं वपुस्तदस्याः सफलत्वमेष्यति ॥ ३७ ॥

भाग्यवश यदि नागराजकन्या शशिप्रभा का सम्यन्ध चन्द्रमा के साथ रोहिणी की भाँति इस राजा के साथ हो जाय तो लावण्य से अत्यधिक सौन्दर्य के कारण वस्तुतः अनुपम शशिप्रभा का शरीर (जन्म) सफल होजाय ॥

विधातुमेनामहमेव वा क्षमा मितोदरीमङ्कतलेऽस्य को विधिः ।

ममेदृशे यद्विषये विमत्सराः स्तुवन्ति सख्यो ममृणोक्तिसौष्ठवम् ॥ ३८ ॥

मैं ही वृशोदरी शशिप्रभा को इसकी गोद में बैठाने में समर्थ हो सकती हूँ । (यदि ऐसा हो सकता है तो) इसमें विधाता का वश नहीं चलेगा । क्योंकि जय कभी भी मैं ऐसा प्रसंग (शशिप्रभा के विवाह का) छेड़ती हूँ तो ईर्ष्यारहित होकर मेरी सहेलियाँ मेरी मीठी-मीठी बातों के कहने के दंग की सराहना करती रहती हैं ॥ ३८ ॥

सहामुना किञ्चिदुपान्तवतिना वदत्यसावुद्गतदन्तदीधितिः ।

कुतूहलाक्षिप्तनिमेषलास्यया विलोकयन्मामिव दीर्घया दृशा ॥ ३९ ॥

कौतूहल के कारण अपलक अतएव विशेष विलास युक्त विशाल लोचनों से (एकटक) मुझे देखता हुआ यह (हँस कर) अपने समीपवर्ती पुरुष से बातें कर रहा है । बोलते समय इसके दाँतों से चमक निकल रही है ॥ ३९ ॥

पाटलायाः समीपमागमनम्

अथाधिगन्तुं किल तस्य पत्रिणो गतिं वनात्ते कथमप्यलक्षिताम् ।
तमभ्यगात्सा नृपतिं सचामरा सरित् सफेना निधिमम्भसामिव ॥४०॥

पाटला का समीप आना

वन में जिसका कुछ पता नहीं लग रहा था, उस हंस के मार्ग का अनुसरण करती हुई चँवर को हाथ में लिये हुए पाटला राजा के समीप उठी भाँति आ पहुँची, जिस भाँति फन से युक्त नदी समुद्र के पास जाती है ।

विमर्श—समुद्र हुआ राजा, चँवर सफेद फन की तरह था तथा नदी भी वह सुन्दरी—इस तरह उत्कृष्ट उपमा बन गयी है ॥ ४० ॥

समुच्चरन् नूपुरसिञ्चितैः पदैर् यथायथा सम्मुखमाजगाम सा ।

तथाऽयनाक्षयेन तथा तथेरिता दृगस्य पश्चादपसारमाददे ॥ ४१ ॥

बजते हुए नूपुरों के मधुर शब्द वाले पैरों को भागे बढ़ाती हुई (वह) पाटला जैसे जैसे राजा के पास आने लगी, वैसे-वैसे राजा की दृष्टि उस रमणी से प्रेरित होकर मानो पीछे की तरफ खिसकने लगी अर्थात् राजा उसे चाव से देखने लगा ॥ ४१ ॥

शनैस्ततस्तां सविधोपसर्पिणीम् निरोक्ष्य हारं पिवधे नराधिप ।

निजोत्तरीयेण सितेन मारुता शरद्वधनेनेन शशाङ्कमण्डलम् ॥ ४२ ॥

धीरे धीरे उसे अपने पास आती हुई देख कर राजा ने हार को अपने श्वेत हुपट्टे से छिपा लिया, मानो वायु ने शरदकालीन रावल रूपी अपने श्वेत वस्त्र से चन्द्रमण्डल को छिपा लिया हो ॥ ४२ ॥

पयोधरोत्सङ्गनिवामलालितं व्यधादिमं पद्मगराजकन्यका ।

इति प्ररोहद्बहुमानमन्यरो बभूव तस्मिन्नवनीपुरन्दर ॥ ४३ ॥

नागराजकन्या ने इस हार को अपनी छाती पर लगा कर बड़े चाव से रखा होगा, इस विचार के आते ही उस हार के प्रति (प्रेम के कारण) आदर की भावना से राजा कुछ मुग्ध था हो गया ॥ ४३ ॥

अनल्पलाघव्यविलासजन्ममूर्त्तिचित्ररत्नद्युतिभास्वरोर्मिका^१ ।

तमिदम्मुक्ताभरणं भुव पतिम् पयोधिवेलेयं सुवेत्तमाप सा ॥ ४४ ॥

वह सुन्दरी पाटला अत्यन्त लाक्षण्य और विलास से परिपूर्ण थी । त्रिचित्र रत्नों की कान्ति से चमकने वाली अँगूठी उसने धारण कर रखी थी अर्थात् उसकी अँगूठी में रत्न बड़े थे । वह मोतियों का हार धारण करने वाले उस

राजा के पास उसी भाँति पहुँची, जैसे भरती के समय समुद्र की मर्यादा तट तक पहुँच जाती है ।

विमर्श—इस श्लोक में “अनल्पलावण्यविलासजन्मभूः”—“विचित्ररत्नद्युति-भास्वरोर्मिका” ये दोनों पद श्लिष्ट हैं । समुद्रवेला पक्ष में इनका अर्थ होगा—“अत्यधिक नमक तथा चंचल तरंगों का उत्पत्ति स्थान” तथा “नाना प्रकार के रत्नों की कान्ति से जिसकी तरंग चमक रही है” ऐसी वेला ॥ ४४ ॥

अथाप देवः श्रियमन्तिकस्थया तथा स वालव्यजनाङ्कहस्तया ।

निपेक्ष्यमाणः स्फुटलक्ष्यदेहया नरेन्द्रलक्ष्म्येव यशःसमेतया ॥ ४५ ॥

हाथ में चँवर धारण करने वाली पाटला के समीप आ जाने पर राजा इस प्रकार शोभा से मुशोभित हुआ मानो वह यशयुक्त साक्षात् देह-धारिणी राजलक्ष्मी से मुशोभित हो रहा हो ॥ ४५ ॥

पाटलाकृतः सत्कारः

विभिन्नचूर्णालकभक्ति कुर्वती

विकीर्णचूडामणिचन्द्रिकं शिरः ।

अथानुभावेन निदेशितेव सा

ननाम मानिन्यवशा विशाम्पतिम् ॥ ४६ ॥

पाटला द्वारा राजा का सत्कार

चूडामणि (शिरोभूषण) की कान्ति जिसपर फैल रही थी तथा भुकाते समय जिसपर की वेणी का माँग स्पष्ट हो रहा था, ऐसे सिर को उस सुन्दरी ने राजा की आकृति के प्रभाव से ही बरबस भुका दिया ॥ ४६ ॥

दृशा नरेन्द्रेण निदेशिते स्वयं शिलातले नातिविदूरवर्तिनि ।

उपाविशत्सा रसनामणित्विषा निपिच्यमानेऽमरचापशोभिनि ॥ ४७ ॥

करधनी के मणियों की कान्ति से युक्त इन्द्रधनुष का शोभा वाली, समीपवर्तिनी शिला पर, जिसे राजा ने दृष्टि से ही बताया था, पाटला बैठ गई ।

विमर्श—सफेद शिला पर लाल-हरे रंग की मेखला की कान्ति के संक्रान्त होने से ही इन्द्रधनुष की शोभा हो रही थी ॥ ४७ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

तथातिदीर्घदर्शनानुपातिभिर् विवृष्यमाणामिव भूषणांशुभिः ।

इति क्षितीशेङ्गितवर्त्मदीपिकाम् उदीरयामास गिरं रमाङ्गदः ॥ ४८ ॥

रमाङ्गद के वचन

रमाङ्गद ने महाराज नवसाहस्रों के अभिप्राय के मार्ग को दिखाने वाली वाणी कही । उस समय ऐसा मालूम पड़ा कि पाटला के आभूषणों की

लम्बी किरणें जो राखा के दाँतों पर पड़ रही थी, मानो वही किरणें उक्त वाणी को उसके मुँह से खींच रही हों ॥ ४८ ॥

अनेन विन्ध्याद्रिविहारजन्मना श्रमेण काम भवती कदर्यिता ।

प्रसुप्तजूटाहिमुखाऽनिलोष्मणा जटावितङ्गेन्दुकलेन शूलिन ॥ ४९ ॥

भीमनी ! आप इस विन्ध्याचल में घूमने के कारण भ्रम से बहुत थकी हुई प्रतीत हो रही हैं । जिस भाँति शिवजी की जटा में सोने वाले सर्पराज के श्वासों से शिवजी की जटा में रहने वाली चन्द्रकला धूमिल (थकी सी) जान पड़ती है, वैसे ही आप भी थकी थकी सी जान पड़ रही हैं ॥ ४९ ॥

अमो सरोजप्रतिमे मुरे मुहुस् तत्रातपाताम्रकपोलभित्तिनि ।

समुन्मिपन्ति श्रमवारिविन्दवो नताङ्गि लावययमुधालभा इव ॥ ५० ॥

हे सुन्दर शरीर वाली ! धूप से कुछ लाल वर्ण के रने हुए कपोलों वाले तुम्हारे इस मुखकमल पर थकावट के कारण जो पसीने की बूँदें झलक रही हैं, वे ऐसी विदित होती हैं, मानो सौन्दर्यरूपी अमृत के कण हों ॥ ५० ॥

इतोऽद्यतसोत्पललास्यदेशिके निरन्तर गन्धवहे बहत्तपि ।

न घूर्णते स्विभ्रललाटसङ्गिनी तवामकभ्रणिरिय मनागपि ॥ ५१ ॥

अनकार भूत इन कमलों को नचा देने वाले वायु के निरन्तर चलने पर भी पसीने से भीगे हुए ललाट पर चिपकी हुई तुम्हारी यह केशराशि जरा भी नहीं हिल रही है । इससे प्रतीत होता है कि क्षम अधिक दूर से चलकर आ रही हो और बेतरह थक गई हो ॥ ५१ ॥

अनेन पीनस्तनवम्पदायिना निरायतेनोद्वहता कदुष्यताम् ।

अथ प्रवालादपि पाटलच्छत्रिर् न दूयते नि श्रमितेन सेऽधरः ॥ ५२ ॥

परिपुष्ट वक्ष स्थल (मुचमयबल) को ढँपा देने वाली लम्बी लम्बी गरम श्वासों से मूंगे की कान्ति से भी अधिक रक्तवर्ण वाला तुम्हारा यह अधर क्या पीका नहीं पड़ा है !

विमर्श — गरम गरम श्वास से तो अधरोष्ठ को कष्ट होना चाहिए, पर नहीं हो रहा है । अर्थात् कारण के रहने पर भी कार्यात्पत्ति नहीं है । अतः यहाँ विशेषोक्ति बलकार मालूम पड़ रहा है । “वति हैतो पलायाये विशेषोक्ति निगद्यते ।” ॥ ५२ ॥

सदित्य पङ्क्त्या श्रमवारिविप्रपा निरतराध्यासितरेखयाऽनया ।

तवेप कण्ठः कुटजावदातया विलासमुक्तालतयेन भूष्यते ॥ ५३ ॥

परिधम के कारण उत्पन्न होने वाली पथीने की बूँदों की पंक्ति तुम्हारे गले की रेखाओं पर छा गई है, जिससे विमूषित तुम्हारा कण्ठ ऐसे विदित होता है, मानो कुन्द के स्वच्छ पुष्पों की माला से विमूषित हो ॥ ५३ ॥

इदं महच्चित्रममानुषं त्वया विगाह्यते यद्वनमद्वितीयया ।

इमा क्व विन्ध्यस्य भुवोऽतिदुर्गमाः क्व राजवेश्माभरणं भवादृशी ॥ ५४ ॥

यह एक और विचित्र बात है कि तुम इस निर्जन वन में अकेली ही घूम रही हो । कहाँ तो विन्ध्याचल की यह भयानक वनस्थली, और कहाँ राज-भवनों को अलङ्कृत करने वाली तुम ।

विमर्श—तुम किसलिए इस प्रकार विचरण कर रही हो ? क्या तुम्हें इस वन में डर नहीं लगता—यह ध्वन्यर्थ हुआ ॥ ५४ ॥

नवोद्गताशोकपलाशकान्तिना निकामनिर्यन्नखचन्द्रिकेण च ।

विभर्षि कस्येदमनेन पाणिना वदाऽवधूतेन्दुमरीचि चामरम् ॥ ५५ ॥

तुम यह बताओ कि अशोक वृक्ष में नये उगे हुए पत्ते की भाँति कोमल और रक्त वर्णवाले, तथा जिसमें से नखों की कान्ति पर्याप्त मात्रा में निकल रही है, ऐसे इस हाथ में तुम चन्द्रकान्ति के समान श्वेत इस चँवर को किस लिये धारण किये हुये हो ? ॥ ५५ ॥

नृपस्य कस्यापि परिच्छेदाङ्गना यदि त्वमुच्चैर्विभवो हि कोऽपि सः ।

मस्तपतिर्मेनकयेव तन्वि यसूत्ययापि बालव्यजनेन वीज्यते ॥ ५६ ॥

यदि तुम किसी राजा की दासी हो तो विदित होता है कि वह कोई अति ऐश्वर्यशाली एवं प्रभावशाली राजा होगा । मेनका की भाँति तुम जिसके ऊपर चँवर डुलाती होगी, वह वास्तव में देवराज के समान ही (सौभाग्यशाली) होगा ।

अथर्धिमत्या परवत्यसि स्त्रिया कयापि काऽसौ जगदेकमुन्दरी ।

नतभ्रू यस्याः स्मरचापयष्टयो विधेयतां यान्ति भवद्विधा अपि ॥ ५७ ॥

यदि तुम किसी ऐश्वर्यशालिनी स्त्री की दासी हो तो यह बताओ कि (सौन्दर्य से तीनों लोकों को जीतने वाली) तीनों लोकों में वह सर्वसुन्दरी कौन है ? वह कौन भाग्यशालिनी है, काम की धनुष से तुम जैसी स्त्रियाँ भी जिसकी दासी हो सकती हैं ॥ ५७ ॥

परस्परस्पर्धिविलाससम्पदां त्रयं भवत्स्वामितया विकल्प्यते ।

मरुत्वतो वा रमणी रमाऽथवा कलत्रमर्धेन्दुविभूषणस्य वा ॥ ५८ ॥

वैभव, विलास और धन-सम्पत्ति से एवं सौन्दर्यातिशय से परस्पर स्पर्धा करनेवाली तीन स्त्रियाँ ही तुम्हारी स्वामिनी हो सकती हैं । या तो वह इन्द्रपत्नी शची हो सकती है, या लक्ष्मी हो सकती है, या फिर चन्द्रशेखर भगवान् शिव की अर्धाङ्गिनी पार्वती हो सकती है ॥ ५८ ॥

इयं परिभ्रान्तिरगेन्द्रकन्दरे सखीव ते शंसति कार्यगौरवम् ।

भवादृशः स्वापददूषितेऽन्यथा चरन्त्यरण्ये किमधीतनीतयः ॥ ५९ ॥

सब प्रकार की राजनीति एवं अन्य व्यावहारिक नीतियों को जानने वाली तुम वैसी स्त्रियों के इस प्रकार गिरि-चन्द्रराश्रों में ऐसे अकेले ही घूमने से तो यह मालूम होता है कि तुम्हारा या तुम्हारी सखी का कोई बड़ा भारी काम होगा (जिसके लिये तुम यों फिर रही हो), अन्यथा इस जगली जानकरी से युक्त मयानक जगल में तुम्हारे जैसे लोग क्यों आने लगे ॥ ५६ ॥

अनेन खेलन्मददत्तिना वद
त्वमागता चण्डि कुतो दुरध्वना ।

विधाय निश्लेषविपादभाग्रयो

स्वकार्यनिष्ठे कथय क यास्यसि ॥ ६० ॥

हे चण्डि ! मदोन्मत्त हाथी जिस मार्ग पर हथर-उधर आते-जाते रहते हैं, उस मयावने और दुर्गम मार्ग पर तुम क्यों विचरण कर रही हो ! हे अपने कार्य में तत्पर रहने वाली ! अब यह बताओ, हम दोनों से दूर होकर तुम कहाँ जाओगी !

धिमर्श—यहाँ पर चण्डि सम्बोधन कवि ने क्यों दिया ! इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि यह निर्मोह होकर जो वन में घूम रही है तो अवश्य ही निडर होगी ॥ ६० ॥

नायकवाक्यम्

इति साऽभिहिता मृगाऽव्यताक्षी समुपोदप्रणय यशोभटेन ।

सहसा न जगाद लज्जया नु श्रमत किं तु नृपस्तु वामबोचम् ॥ ६१ ॥

नायक का वाक्य

यशोभट (रमाङ्गद मंत्री) ने जब अत्यन्त प्रेम पूर्वक उससे इस माँति के वचन कहे तो वह बेचारी मृगनयनी लज्जा और शकावट के कारण सहसा कुछ भी उत्तर न दे सकी । तब राजा ने उससे कहा ॥ ६१ ॥

श्रान्तासि कौतुकद्वयेन कदयितासि

प्रश्नैरनेन त्रिहितो न तवोपचार ।

आतिथ्यमेव कुरुसे परमङ्गलेखा

सबाह्नैकचतुरो निचुलानिलस्ते ॥ ६२ ॥

मालूम होता है कि तुम अधिक थक गई हो और (आवश्यक के कारण अत्यन्त परेशान भी हो ।) इस (रमाङ्गद मंत्री) ने इस प्रकार के प्रश्नों को पूछ कर तुम्हारा कोई अतिथिसत्कार भी नहीं किया (इसे तुम्हारा अतिथि-सत्कार करना चाहिये था) । (इसी बीच मौलसी वृक्ष से टकराकर हवा का झोंका आया तो राजा ने कहा कि) शरीर को सुख पहुँचाने में अति चतुर

यह मौलसरी वृक्ष से टकरा कर आनेवाली वायु अब तुम्हारा स्वागत कर रही है ॥ ६२ ॥

एवं निसर्गमधुरेण सुधारसेन
निष्ठ्यन्दिना फणिवधूरय सा हसन्ती ।
चन्द्रांशुना कुमुदिनीव दिनोष्मतमा
वीतकलमा नरपतेर्वचसा बभूव ॥ ६३ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूतोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहस्राङ्क
चरिते महाकाव्ये पाटलादर्शनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार स्वभाव से ही मधुर, अमृत के समान मिठास भरे राजा के वचनों से वह नागरमणी (पाटला) उसी भाँति प्रसन्न और तृप्त हुई, जिस भाँति दिन की गर्मी से संतप्त कुमुदिनी चन्द्रमा की किरणों को पाकर तृप्त होती है । (अर्थात् राजा के वचनों से वह इतनी आनन्दित हुई कि उसकी सारी यकान ही मिट गई) ॥ ६३ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहस्राङ्कचरित
महाकाव्य का पाटलादर्शन नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥



अथ पञ्चमः सर्गः

अथ सा वदने नरेन्दुकाति म्मितमङ्गे त्रिनिवेश्य चामर च ।
जगतीपतिमेवमावभाषे मसृण मूर्तिमती विदग्धतेज ॥ १ ॥

पाँचवाँ सर्ग

इसके पश्चात् चन्द्रमा की काति के समान सुन्दर अपनी मधुर मुस्कान को अपने मुख में और चन्द्रचञ्चल चैंबर को गोद में रख कर, पाटला राजा से मधुर वाणी में बोलने लगी । उस समय ऐसा विदित होता था मानो चतुरता साक्षान् मूर्तिमती होकर आ^१ हो, और राजा से बातें कर रही हो ॥ १ ॥

त्वयि पृण्ययजेन हृष्टिमाप्ते लभते गर्भे^२ गतश्रमो ममाम्मा ।

उदिते हि निरोचने नलिन्या तितमस्तामरण विकासमेति ॥ २ ॥

हे राजन् ! सौभाग्यवश हुए आपका दर्शन से मेरी आत्मा परिश्रम से मुक्त होकर, एक त्रिचित्र मुख का अनुमन कर रही हूँ । जैसे सूर्योदय होने पर आधकार से मुक्त पद्मिनीजन की कमलिनी खिल उठती है, उसी भाँति मैं भी आपके दर्शन से प्रसन्न हो उठी हूँ ॥ २ ॥

अतिमात्रमुपोढमौनुमार्यै नचमि श्रोत्रमुपेयुपि त्यदीये ।

झटिति प्रतिभासते ममाय कठिनश्रन्दनपट्टवावृतम् ॥ ३ ॥

आत्यधिक मुत्तमार (कोमल) और मधुर तुम्हारे वचन जैसे ही मेरे कानों में पड़ रहे हैं, वैसे ही उनके सामने मेरे कान में लगे हुए चन्दन के कोमल पत्र भी मुझे कर्कश मालूम पड़ रहे हैं ॥ ३ ॥

किमय मयि मग्भ्रमोऽयमाम्ना किमय नैव जन परिच्छद्मन्ते ।

उपचारनिशेषमविधाने प्रतिपक्षद्र श्रोदितस्त्वमेव ॥ ४ ॥

आप मेरे प्रति दत्तना आदर क्यों दिखा रहे हैं ? इस आदर को रहने दीजिये । (इसकी कोई आवश्यकता नहीं ।) क्या मैं भी आपके सेवक-सेविकाओं के समान नहीं हूँ ? यह उपचार निशेष तो प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह उदित आपका ही मुझे करना चाहिये ॥ ४ ॥

भरदिङ्गितेदिनैव पृष्ठा वदनेनाहमुपान्तवतिता ते ।

किमु तत्त्वय्यामि सम्मत चेन् क्रियता मे स्वयमाज्ञया प्रसाद ॥ ५ ॥

आपके समीप बैठे हुए इस व्यक्ति ने आपका सकेत (इशारा) जानकर तदनुसार ही मुझसे जो कुछ पूछा है, क्या मैं उसका उत्तर दूँ ? स्वयं आज्ञा देकर मुझ पर कृपा करें ॥ ५ ॥

१ शर्मशातमुवाचि च—अमरकोश ।

नायकनिर्देशः

अभिषेहि लवः कुतूहलस्य त्वदुदन्तव्रणो ममापि जातः ।

इति सा वसुधापतेनिर्देशादथ पातालविलासिनी जगाद ॥ ६ ॥

नायक का कथन

कहो ! तुम्हारे वृत्तान्त को सुनने के लिये मेरे हृदय में भी कुछ कौतूहल सा हो रहा है । राजा की इस प्रकार की आज्ञा पाकर उस नागलोकवासिनी कन्या (पाटला) ने कहना प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

भुजङ्गलोकावर्णनम्

स तत्र श्रुतिमात्र एव तावन् स्मरलीलाभवनं भुजङ्गलोकः ।

उपयाति यदेकदेशसान्ध्यं न मही नापि पुरी पुरन्दरस्य ॥ ७ ॥

नागलोकावर्णन

कानदेव के क्रीडागृह नागलोक के विषय में तो आपने सुना ही होगा । उस नागलोक की बगरी न भूलोक बन सकता है, न अमरवती (इन्द्रनगरी) ही बन सकती है ॥ ७ ॥

अतिदुर्लभनूर्यभासि यस्मिन्ममसानुद्भूतां तिरस्कियाय ।

फणिनोऽरुणकान्तिभिर्दिशस्वैर् मणिभिर्वालमिगतपं वहन्ति ॥ ८ ॥

जिस पाताललोक में फले हुए अनान्यकार को दूर करने के लिये नूर्य-रश्मियाँ तो कभी पहुँच ही नहीं सकतीं । वहाँ नागों के शिरों पर लाल कान्ति वाली जो मणियाँ हैं, वही बालस्वयं का-सा प्रकाश देती रहती हैं ॥ ८ ॥

अनुलिम्पति रोदसी यथेन्दुः प्रमया मां न तथेत्यसूचयेव ।

पटु यः प्रमदाविलासदासस्तवकैरिन्दुपरम्पराः प्रमृते ॥ ९ ॥

‘चन्द्रमा अग्नी प्रभा से जिस भाँति आकाश और धरती को प्रकाशित करता रहता है, उस भाँति तुम्हें (नागलोक को) प्रकाशित नहीं करता’, इत ईर्ष्या के कारण मानो वह नागलोक वहाँ की प्रमदाओं के हाव-भाव-विलास के द्वारा चन्द्रों की परम्परा-सी लगा देता है ॥ ९ ॥

सविलासमुदस्तदन्तमुक्तैर् निकरैर्दिग्विद्वरदेन्द्रशीकराणाम् ।

परितो निचिताः सदैव यस्मिन् ककुभस्तारकिता इवावभान्ति ॥ १० ॥

उस पाताललोक में रहने वाले दिग्गज (दिशाओं के हाथी) जब प्रसन्नता से अपने सूत्रों को ऊपर उठाकर उन से जल-कणों को ऊपर फेंकते हैं, तो वे अनेक चल्कण द्धर-उधर फैलकर ऐसे दिखाई देते हैं, मानो चारों ओर सब दिशाओं में तारागण उदित हो गये हों ।

विमर्श—सूर्य और चन्द्रमा की मूर्ति तारागण भी नागलोक अर्थात् पाताल तक नहीं पहुँच पाता । पर वहाँ तारागण का कार्य दग्गजों के उड़ाये हुए जलकण ही करते थे ॥ १० ॥

प्रतिभाति दधन् फणाम्बलापे पृथिवीं यत्र स शेपनागराज ।

नभसो निपतन् जवेन मित्वा जगतीं गाङ्ग इव च्युत प्रयाह ॥ ११ ॥

उस नागलोक में अपनी पंखों पर पृथ्वी का धारण करता हुआ शेपनाग ऐसा जान पड़ता है मानो गङ्गे के तट से आकाश से गिरता हुआ गंगा-जल पृथ्वी को विदीर्ण कर पाताललोक में आ गया हो ।

विमर्श—पाताललोक अन्धकारपूर्ण है । उसमें श्वेत वस्त्र का शेपनाग श्वेतवर्ण वाला गंगाजल के समान खान पन्ता है, क्योंकि वह पाताललोक में है । अतः कल्पना की गई है कि मानो यहाँ गंगाजल शेपनाग के रूप में प्रविष्ट हुआ हो ॥ ११ ॥

भोगवतीवर्णनम्

विदिता गच्छ वामुकेखिलोक्या हरकण्ठाभरणभ्य भोगिभर्तु ।

ललिताद्भुतभूमिरस्ति तस्मिन् नगरी भोगवतीति राजधानी ॥ १२ ॥

भोगवती का वर्णन

शिवजी के गले के आभूषण स्वरूप राजा वासुकि की नगरी तीनों लोकों में विद्यमान है और उसमें मयूर एवं आश्चर्यजनक कार्य होते रहते हैं, उस राजधानी का नाम 'भोगवती' है ॥ १२ ॥

मणिहर्म्यतलानि रत्नदीपा फणिकातधियिलोहितानि धीष्णा ।

ऋतयोऽप्यरितला समेत्य यत्र स्मरसाम्राज्यमहाधुर बहन्ति ॥ १३ ॥

जहाँ की भट्टालकायाँ म रत्नदीप, हाव मान दिखानेवाली स्त्रियाँ, सर्वत्र बिखरा ऋतु मुदाय, ये सब मिलकर मानो कामदेव के शासन साम्राज्य की बागडोर धारण किए रहते हैं ॥ १३ ॥

अनुपाधिरुपाहृतो त्रिकास कमलैर्यत्र तिलासदीधिकामु ।

अपि यत्र कुमुदनीमिरस्त सहजश्चन्द्रमरीचिपद्मात ॥ १४ ॥

जहाँ की तिलास कीड़ावोग्य बावलियाँ में कमल बिना किसी रुकावट के सदैव खिलते रहते हैं और कुमुदिनी भी बिना चन्द्रमा की प्रतीक्षा (पद्मात) किये ही खिलती रहती है ।

विमर्श—पाताललोक में सूर्य, चन्द्र नहीं हैं, फिर भी वहाँ सूर्योदय के बिना ही कमल और चन्द्रोदय के बिना ही कुमुदिनी खिलती रहती है । उन्हें सूर्य चन्द्र की भी आवश्यकता नहीं है ॥ १४ ॥

अभिकानभिसर्तुमुद्यतः सन् सपदि व्यालविलासिनीसमूहः ।

भवति स्वफणामणिप्रदीपे तिमिरोत्सारिणि यत्र साभ्यसूयः ॥ १५ ॥

वहाँ नागस्त्रियाँ जब अपने नायकों के साथ अभिसरण करने लगती हैं, अर्थात् अभिसार के लिये चलती हैं, तो वे विलासिनियाँ अन्धकार मिटाने वाले अपने फनों में स्थित मणिदीपों की बड़ी ईर्ष्या के साथ देखने लगती हैं । अर्थात् उनके मणिदीपों के प्रकाश से उनके अभिसार में बाधा पहुँचती है । ॥ १५ ॥

अधिरोहति यत्र वंशमुक्ता-पटलस्मेरतटा सुरस्त्रवन्ति ।

सरितः श्रियमीर्ष्ययेव तस्याः सुवते मौक्तिकमेव यत्पयांसि ॥ १६ ॥

वंशीवनों से उत्पन्न होने वाले मोती (वंशलोचन) जिसके किनारे पर बिखरे रहते हैं तथा जिसके कारण वह हँसती हुई सी सर्वश्रेष्ठ नदी शोभा को धारण करती है, अतएव वंशमुक्ताओं वाला उसकी ही ईर्ष्या के कारण उसका पानी भी अधिक मोती उत्पन्न करता है ॥ १६ ॥

अतिकान्तिगुणाभिराममूर्तिर् मधुरेण ध्वनिना मनोहरन्ती ।

विदधाति सदैव यत्र यूनां पदमङ्गे वनिता च वल्लकी च ॥ १७ ॥

वहाँ पर अत्यन्त शोभा और गुणों से (या तारों से) मनोरम वनिताएँ और वीणाएँ अपनी मधुर वाणी (वीणा पत्र में मधुर ध्वनि) से मनहरण करती हुई युवा पुरुषों की गोद में सदैव विराजमान रहती हैं ।

विमर्श—इस श्लोक में श्लेष का चमत्कार काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाता है । वनिता और वल्लकी दोनों पत्र में प्रत्येक पद श्लिष्ट है ॥ १७ ॥

शतशो विलसन्त्युदंशुरत्न-स्तवकाः कल्पलता यदङ्गणेषु ।

प्रतिमन्दिरमेवमेव यस्याम् अपि चिन्तामणयः पदे लुटन्ति ॥ १८ ॥

जिनकी किरणों ऊपर की तरफ निकल रही हैं, ऐसी कल्पलताएँ नागलोक के आँगनों में सैकड़ों लगी हुई हैं, इस तरह वहाँ के प्रत्येक घर में सैकड़ों चिन्तामणिरत्न इधर-उधर टोकरें खाते रहते हैं ॥ १८ ॥

अपि दत्तकुतूहलाः सुराणाम् अपि वाञ्छापदमेकपिङ्गलस्य ।

अपि निर्विषया मनोरथानाम् उरगान् यत्र विभूतयः श्रयन्ते ॥ १९ ॥

वहाँ देवताओं के मन में कौतूहल उत्पन्न करने वाले विविध ऐश्वर्य विद्यमान हैं, जिन्हें देखकर कुवेर भी उन्हें पाने के लिये लालायित हो उठता है तथा जो मानव-मनोरथ के अत्यन्त परे हैं ॥ १९ ॥

वसति स्वयमेव यत्र देवः स सदा कल्पितहाटकेश्वराख्यः ।

स्मरमूर्ध्वविलोचनार्चिपीव त्रिपुरं यः शरपावके जुहाव ॥ २० ॥

१. तन्त्री वीणा नु वल्लकी—अमरकोश ।

२. यक्षैकपिङ्गलविलम्बीदपुण्यजनेश्वराः—(कुवेर) अमरकोश ।

वहाँ हाटकेश्वर नामक महादेव निवास करते हैं। वे हाटकेश्वर शिव, बिहोंने अपने तृतीय नेत्र की ज्वाला में जिस तरह काम को भस्म कर दिया था, वैसे ही शराम्नि में त्रिपुरासुर को भी भस्म कर दिया था। काम को नेत्र-ज्वाला से और त्रिपुर को शरज्वाला से भस्म करने वाले शंकर ॥ २० ॥

शङ्खपालार्णनम्

निजयशविशेषकोऽस्ति तस्याम् सरगाणामधिप स शङ्खपाल ।

रुगसाविति यत् फणासु धत्ते वसुधा वासुकिना समानसार ॥ २१ ॥

शङ्खपाल का अर्णन

उस भोगवती नगरी में अपने दश का विभूषण, (श्रेष्ठ) वासुकि के समान शलजाला, सर्पराज शङ्खपाल रहता है। वही अपने शिर पर दस पृथ्वी को माला के समान धारण किये रहता है ॥ २१ ॥

शशिप्रभा अर्णनम्

जगदेकललाय तस्य कथा गुणस्त्यस्ति शशिप्रभेति नाम्ना ।

सहस्रेण फणाभृता प्रविष्टा भुवने राहुमयादिवेन्दुलेखा ॥ २२ ॥

शशिप्रभा का वर्णन

समस्त लोकों में सर्वोच्छ्रेष्ठ सुन्दरी, गुणशालिनी शशिप्रभा उस नाग (शङ्खपाल) की पुत्री है। वहाँ वह दस प्रकार है, मानो राहु के भय से भयभीत होकर चन्द्रकला सहस्र नागलोक में प्रविष्ट हो गई हो ॥ २२ ॥

न कथाप्यतिशय्यतेऽतिशीघ्रं यदियं कन्दुकवेलिषु भ्रमती ।

अपर कृतमथउत्तदस्या सुतरा नाम सखीभिराशुगेति ॥ २३ ॥

उस शशिप्रभा की गेंद खेलने में अति तेज चलने के कारण कोई भी सखि नहीं जीत सकती। (गेंद खेलने में वह तेजी से भागती है।) अतः उसकी सपियाँ ने उसका एक दूसरा मार्थक नाम 'आगुमा' रख दिया ॥ २३ ॥

स्फुरद्भुतरूपसपदं ताम् अनुकतुं कलयापि धाट्यमेति ।

न रतिन शची न चित्रलेखा न घृताक्षी न तिलोत्तमा न रम्भा ॥ २४ ॥

देदीप्यमान् कान्तिमाली उस शशिप्रभा की उराररी यदि चन्द्रकला करना चाहे तो यह उसकी पृष्ठता ही होगी। उसकी उराररी तो न चन्द्राक्षी ही कर सकती है, न रति, न चित्रलेखा, न घृताक्षी और न तिलोत्तमा ॥ २४ ॥

सुर विभ्रर सिद्धबन्धकाभि स्वकलाभ्यासप्रीतिरासख्या ।

निखिलासु गता पर प्रकर्षं शिखी शैशव एव या कलासु ॥ २५ ॥

१ घृताक्षी मेनका रम्भा उर्वशी च तिलोत्तमा—(ये सब नाम इन्द्र की अप्सराओं के हैं)—अमरकोश ।

अपनी अपनी कलाओं में निरन्तर अभ्यास करने से निपुण देव, गन्धर्व और सिद्ध-कन्याओं के साथ मित्रता करके तीक्ष्ण बुद्धि वाली वह शशिप्रभा वचन में ही सभी (चौसठ) कलाओं को सीख गई है ॥ २५ ॥

अनिवारितकेलिकौतुका सा सुतनुः स्नेहवशंवदेन पित्रा ।

विहरत्यपचीयमानवाल्या हरशैले मलये हिमालये च ॥२६॥

पुत्री के स्नेह के वशीभूत हुए उसके पिता ने खेलने-कूदने में उसे स्वतंत्रता दे रखी है अर्थात् उसके खेल-कूद पर किसी का भी नियन्त्रण नहीं है । (इसलिए) वह सुन्दरी नवयौवन में पदार्पण करती हुई कभी कैलास पर्वत पर, कभी मलयाचल पर और कभी हिमालय पर भ्रमण करती रहती है ॥ २६ ॥

अधुना पुनरत्र विन्ध्यपादे विहरन्त्याः कुमुमावचूडनाग्नि ।

क्वचिदप्यगमत्पलाय्य तस्यास् चपलः केलिमृगो मृगायताद्याः ॥२७॥

अभी-अभी कुमुमावचूड नाम के इस विन्ध्य-शिखर पर विचरण करती हुई हिरणी के समान नेत्रवाली उस शशिप्रभा का क्रीडामृग न जाने भागकर कहाँ चला गया है ॥ २७ ॥

अतिवत्सलया समं सखीभिर् विपिने तं परितस्तया विचित्य ।

पुलिने सरितः शशांकसूतेः श्रमवत्येयमनीयत त्रियामा ॥२८॥

क्रीडामृग के प्रति अत्यन्त प्रेम रहने से उसने इस वन में चारों ओर अपने मृग को ढूँढ़ा, पर उसे पाया नहीं, तब अपनी सखियों के साथ थकी हुई उसने चन्द्र से जन्म लेनेवाली इसी नदी के किनारे रात बिताई । (रात भर इसी तट पर विधाम किया) ॥ २८ ॥

कलहंसकलस्यनैर्विवुद्धा परिवारप्रमदानिदेशितं सा ।

निकपा निचुलप्रवाल्शय्यां तमथ प्रेक्षितवत्यचाप्तिन्द्रम् ॥२९॥

(प्रभात होने पर) कलहंसों की कल-कल मीठी ध्वनि से वह जाग उठी । पुनः अपनी सखी-सहेलियों के इशारे से दिखाये हुए उस मृग को उसने अशोक वृक्ष के रक्तवर्ण के पत्तों की शय्या पर सोया हुआ देखा ॥ २९ ॥

तपनीयशिलीमुखस्तदङ्गे चकितं चित्ररुचौ तथा च दृष्टः ।

जलदे ललितेन्द्रचापमक्तौ अहिमांशोरिव भासुरो मयूखः ॥३०॥

विचित्र वर्णवाले उस मृग के शरीर पर उसने स्वर्णफलक (अग्रभाग) वाले बाण को अत्यधिक आश्चर्य से देखा । मानो सुन्दर इन्द्रधनुष की शोभा वाले मेघ में चमकती हुई सूर्य-किरणों का एक स्रोत पड़ा हो ॥ ३० ॥

अरविन्ददलत्विपा करेण स्वयमुत्पाट्य सकौतुकं गृहीते ।

अवलोकितमेतयाथ तस्मिन् विजयाङ्के नवसाहसार्द्धनाम ॥३१॥

कमल के समान कान्तिवाले अपने हाथ से उसने उस बाण को निकाला, और हाथ पर लेकर जब उसे अच्छी तरह से देखा तो विजय के चिह्नस्वरूप उस के फलक पर 'नयसाहसाङ्ग' नाम लिखा हुआ देखा ॥ ३१ ॥

अविशान्नरनाथनाम पूर्वं हृदयऽन्यान्सहसाऽथ पुष्पकेतु ।

अमृताशुमरोचिमुमनिद्रे लभते यत् कुमुदेऽन्तर द्विरेफ ॥ ३२ ॥

बाण देखते ही पहले राजा के नाम ने उसके हृदय में प्रवेश किया और पीछे पीछे तत्काल कामदेव ने भी सहसा उसमें हृदय में प्रवेश किया । जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणों से निक्षिप्त कुमुदिनी में तुरन्त ही भ्रमर प्रवेश कर जाता है ।

विमर्श—कुमुद में प्रथम चन्द्रकिरण प्रविष्ट हुई तो वह खिला और फिर भ्रमर भी उसमें प्रविष्ट हो गया । इसी भाँति शशिकला के हृदय में पहले राजा का नाम प्रविष्ट हुआ और पश्चात् कामदेव अर्थात् वह राजा के नाम को पकड़ कर कामासक्त हो गयी ॥ ३२ ॥

नयमेघमलीमसाद्युगान्ते वमुधामुद्धरतो रथाङ्गपाणे ।

परित श्रमगारिबिद्वो ये निरपीयन्त पयोधिमुक्तियुधै ॥ ३३ ॥

प्रलय हो जाने के बाद जब नवीन मेघों के समान धूसर वर्ण वाले वराहावतार मगवान् धरती का उद्धार कर रहे थे, उस समय उनके शरीर से जो पसीने की बूँदें टपकी थीं, उन्हें चारों ओर से समुद्र में रहने वाली सीपों के समूह ने पी लिया था ।

विमर्श—ये पसीने की बूँदें फिर मोती रनीं, उनको नागराज ने पाया । उनकी माला शशिप्रभा के लिये बनाई गई ॥ ३३ ॥

प्रकृति न्निल यस्य ते परीता परिणामेन तदन्तरेऽन्न हस ।

शयनात्सगत मृणालशङ्कि इतान् हारमधीरलोचनाया ॥ ३४ ॥

उत्तमभिरिदुर्भों ने सीपों में जाकर जब मोतियों का रूप धारण किया तो फिर उन्हें मोतियों के बने हुए कातर नेत्रवाली शशिप्रभा के हार को जो नदी किनारे उसकी शैया के पास रखा था, कमल का डटल समझ कर एक हास लेकर न जाने किधर चला गया ॥ ३४ ॥

सान्दानितकम्

वदहीयत से मुग्धेन विभ्रद् भुजगेन्द्रप्रतिम तमन्नसा स ।

अपदापितनेनतेयशङ्क फणिकयासु मुहूर्तविमलरामु ॥ ३५ ॥

१ 'सान्दानितक त्रिमिरिप्यते' अर्थात् जहाँ तीन श्लोकों का अन्वय एक साथ हो, वहाँ सान्दानितक होता है ।

सान्दानितक

सर्प की आकृति वाले उस बड़े हार को मुख में दबा कर एकाएक जब वह हंस उड़ा, तो उसने व्याकुल उन नागकन्याओं के मन में जरा देर ऐसी शंका उत्पन्न कर दी, मानो गरुड़ साँप को लेकर उड़ रहा हो ॥ ३५ ॥

स च विन्ध्यवनान्तराजिमेतां अविशन्मारुतपीतपद्मगन्धाम् ।

अतिदूरविकृष्टनागकन्याचकितोदञ्चितदीर्घनेत्रभालः ॥ ३६ ॥

बहुत दूर तक (हारप्राप्ति के लोभ से) हंस के पीछे पीछे चलनेवाली नागकन्या के ऊपर उठे हुए नेत्रों और ललाट को अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ वह हंस पद्मगन्ध से परिपूर्ण वायु वाली इस विन्ध्याचल की वनःस्थली में प्रविष्ट हो गया ॥ ३६ ॥

अहिराजसुतानिदेशतोऽस्मिन् असमाप्तेषुविलोकनोत्सवोऽपि ।

अथ हंसमितस्ततो विचेतुं विजने नागवधूजनः प्रवृत्तः ॥ ३७ ॥

इसलिये मृग के शरीर से मिले हुए बाण को अभी हम मन्ती-भाँति देख भी न पाई थीं कि तभी नागराज पुत्री (शाशप्रभा) की आज्ञा से हम लोग इस निर्जन वन में उस हंस को ढूँढ़ने के लिए चल पड़ीं ॥ ३७ ॥

शवलास्विह कृष्णसारयूथैः समदक्रोडसनाथपत्वलामु ।

गहनास्वपि तद्गवेषणायै वनलेखामु मम त्वयं प्रयत्नः ॥ ३८ ॥

कृष्णमृग के भुण्डों से जो भूमि चिह्नित अर्थात् शोभायमान है, जिसके तालाबों में मदमत्त स्रग्धर पड़े हुए हैं, ऐसी इस सघन वनःस्थली में उस हंस को ढूँढ़ने के लिये ही मैं भी यह प्रयास कर रही हूँ ॥ ३८ ॥

समया न तटेषु निर्झराणां सरसां नाप्नु न पुण्डरीकपण्डे ।

सरसीष्वपि नायतोर्मिलेखान्तरपारिप्लवसारसामु दृष्टः ॥ ३९ ॥

उस हंस को मैंने न तो झरनों के किनारों पर ही देखा, न सरोवरों के जल में, न कमल के भुण्डों में, और न तो लम्बी-लम्बी जल की लहरों पर तरते हुए सारसोंवाली यावलियों में ही देखा ॥ ३९ ॥

सितचामरधारणे नियुक्तां दुहितुस्तेन भुजङ्गमाधिपेन ।

अवधारय पाटलेति नाम्ना तनयां मामुरगस्य हेमनाम्नः ॥ ४० ॥

आप मुझे नागपुत्री के ऊपर चँवर डुलाने के लिये उस नागराज से नियुक्त की गई हेम नाग की पुत्री पाटला समझ । अर्थात् मैं शाशप्रभा की चामरधारिणी हेम नाग की पुत्री पाटला हूँ ॥ ४० ॥

१. वराहः स्फुरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः कितिः

दंष्ट्री घोणी स्तब्धरोमा क्रोडो भृदार इत्यादि—अमरकोषः ।

अचले विचय पतत्रिणोऽय फलित साधु ममाहितश्रमोऽपि ।

यदित पुरुषोत्तमोऽसि दृष्टो वनमध्ये निबिडश्रियोपगृह ॥ ४१ ॥

इस पर्वत पर इस को ढूँढते हुए मुझे यद्यपि थकावट सी प्रतीत हो रही थी, फिर भी मेरा इस को ढूँढना सफल ही रहा, क्योंकि अत्यधिक कान्ति से कुछ आप जैसे पुरुष का दर्शन मैं इस वन में पा सकी ॥ ४१ ॥

उपरोधमिम न मन्यसे चेत् यदि वाऽस्मासु तमास्ति पक्षपातः ।

यद तन्वचरता क्वचिद्वनेऽस्मिन् स सहारो विहगम्बया नु दृष्टः ॥ ४२ ॥

यदि आपको कोई आपत्ति न हो और यदि आपका हमारे प्रति जरा भी प्रेम (सहानुभूति) हो तो (कृपया) आप यह बतायें कि क्या आपने इस वन में कहीं उस हारवाले इस को देखा है ॥ ४२ ॥

न स दृष्टिमितस्तथापि मन्ये तद्द्विचयादितो निरर्तः ।

ननु ताम्यति काममात्तचित्ता चिरयत्यामयि साऽहिराजकन्या ॥ ४३ ॥

मैं समझती हूँ कि सम्भवतः आपकी दृष्टि में भी वह इस जहाँ आया । अतः अब मैं उसकी खोज न करूँ यहीं से लौट जाना चाहती हूँ । मेरे इतनी देर तक यहाँ भटकते रहने से वह नागराजपुत्री अत्यन्त चिन्तित होकर व्याकुल हो रही होगी । मैं देर से उसके पास आऊँगी तो वह अधिक व्याकुल हो आयेगी ॥ ४३ ॥

अथवा मृगभङ्गिनोपनीतं विधिना सा नवसाहसाङ्गणैः ।

प्रणयापितलोचना सनामन्यधुनाऽप्यालिमिरेय नूतनाम्ते ॥ ४४ ॥

अथवा देव के द्वारा मृग के बहाने से प्राप्त कराये गये नवसाहसक के नामाङ्कित बाण को पाकर वह प्रेम भरी दृष्टि से निश्चय ही अबतक भी उसी बाण को चिह्निलिखित सी देख रही होगी ॥ ४४ ॥

पुनरपि पाटलोक्ति

इति सा समुदीर्य तत्पृष्ठान् अल्लोभ्यैव पुनश्चमत्कृतैव ।

स्फुटकेलिमृगोपनीतत्राणस्मरणस्मेरमुखी पुनजगाद ॥ ४५ ॥

पाटला का पुन कथन

इतना वह चुकने पर पाटला की दृष्टि राजा के हाथ के बाणों पर पड़ी । देखते ही पाटला चमत्कृत सी हो गई और झीड़ा मृग के पास मिले हुए बाण का स्मरण करके मुख पर आश्चर्य का भाव लाती हुई पुन राजा से बोली ॥ ४५ ॥

स नृलोकशशि त्वमेव मन्ये मृगयापद्धरुचि म यत्पृष्ठम् ।

मुननाभयदायिनाममीपा भवतः सबदतीव भायकानाम् ॥ ४६ ॥

मैं समझती हूँ शिकार खेलने की रुचि वाले, इस घरातल के च द्रमा

सम्भवतः आप ही हैं । क्योंकि सारे संसार को अभयदान देनेवाले आपके इन्हीं वाणों के समान वह वाण भी लगता है ॥ ४६ ॥

स्थितमेतदयोमुखेऽप्यमीषु स्फुटवर्णं तव नामधेयलक्ष्म ।

अवनीतिलक त्वयि प्ररुद्धं मम सन्देहलवं वलात् प्रमार्ष्टि ॥ ४७ ॥

लौहमुख वाले इन वाणों पर आपका नाम स्पष्ट अक्षरों में अंकित है । हे राजेन्द्र ! आपके नाम में अंकित ये वाण मेरे रहे-सहे सन्देह की भी हटात् दूर कर रहे हैं ॥ ४७ ॥

समुपैति सनाथतां किमन्यन् त्रितयेन त्रितयं नरेन्द्रचन्द्रः ।

त्रिदिवं नमुचिद्विषा त्वयेयं वसुधा वासुकिना रसातलं च ॥ ४८ ॥

हे राजचन्द्र ! अधिक क्या कहूँ ! तीन चीजें मानो इन तीनों से सनाथ हो गई हैं । इन्द्र से स्वर्ग, आप से भूतल और वासुकि से रसातल अर्थात् आप तीनों की अत्यन्त योग्य रूप में पाकर ये तीनों सनाथ हैं ॥ ४८ ॥

सनये नृपतावखंडिताज्ञे त्वयि शासत्ययनां दिलीपकल्पे ।

विदधीत पदं सुदुर्नये कस्तमृते हारमलिग्लुचं विहङ्गम् ॥ ४९ ॥

राजा दिलीप के समान जिसकी आज्ञा का कभी भंग नहीं होता, ऐसे तुम्हारे इस पृथ्वी के शासक रहते हुए हार को चुराने वाले हंस को छोड़ कर और किसकी इतनी हिम्मत हो सकती है, जो अन्याय के मार्ग पर पैर रखे ॥ ४९ ॥

असताममुह्यन्न लज्जतेऽयं किमिति व्याकिणलाब्धितो भुजस्ते ।

अवनौ यदनेन रक्षितायां वयमस्यां मुपिताः पतत्त्रिणापि ॥ ५० ॥

तुम्हारे हाथों से जिस पृथ्वी की रक्षा हो रही हो, उसीमें हम यदि एक पक्षी के द्वारा लूट ली गई हैं, तो क्या दुष्टों के लिये साक्षात् शत्रु तथा धनुष की प्रत्यञ्चा के चिह्नों से युक्त तुम्हारा यह हाथ (ऐसा अन्याय देखकर भी) लज्जित नहीं होता ? ॥ ५० ॥

अपयातु खगः स तेन कृत्यं नहि मे हारमिह त्वमेव याच्यः ।

न दिशन्ति किमत्र चोरलुप्तं वत पष्ठांशभुजो वसुन्धरायाः ॥ ५१ ॥

वह हंस हार लेकर भाग गया तो भागने दो । मेरा उससे कोई प्रयोजन नहीं । अत्र तो मैं (उसके लिये) आप से ही प्रार्थना करूँगी । पष्ठांश को ग्रहण करने वाले पृथ्वी के राजा क्या चोर की चुराई वस्तु को नहीं दिलाया करते ? (या स्वयं उसकी पूति नहीं कर देते ॥ ५१ ॥

पथि चेदवतिष्ठते प्रणीते मनुना नाथ तदर्प्यतां स हारः ।

न नरेन्द्र भवादृशाः कदाचिन् पदवीं न्यायविदां विलङ्घयन्ति ॥ ५२ ॥

हे नाथ ! यदि आप मनु के प्रदर्शित मार्ग पर चल रहे हैं, तो हमें वह हार दिला दीजिये (या दीजिये) । हे राजन् ! आप जैसे लोग न्यायशील पुरुषों के मार्ग का कभी भी उल्लंघन नहीं करते अर्थात् आप जैसे लोग न्याय मार्ग का त्याग नहीं करते ॥ ५२ ॥

निजमर्यायसे शिन्नीमुख चेत भवता यत्नरताऽपि किं स लभ्य ।

त्वमनागसि यच्छशिप्रभाया प्रहरन् वेलियुगे कृतव्यलीक ॥ ५३ ॥

यदि आप (पहले) अपने बाण को माँगने की इच्छा करते हैं तो क्या वह बाण आपको लाख प्रयत्न करने पर भी मिल सकता है ? क्योंकि आपने शशिप्रभा के निरपराध मृग पर बाण का प्रहार करके अच्छा काम नहीं किया है ॥ ५३ ॥

अथवा मृगयिष्यते न हार विशिष्य दाम्यति चोरगेन्द्रक-या ।

त्वयि नेत्रपथातिथित्यमाप्ते मुलभोऽस्या हि महाजनोपरोध ॥ ५४ ॥

तुम यदि हार खोजकर न दोगे तो नागराक्षक-या उसे रोजने के चक्कर में नहीं रहेगी, पर वह तुम्हें देखने ही तुम्हारा राण रापस कर देगी, पसी पात भी नहीं है, क्योंकि बड़े लोगों के साथ विरोध करना उसके लिए बहुत ही मामूली बात है ॥ ५४ ॥

अतिदूरत एव दृश्यतेऽयं त्वमिनाभ्यु-नतिमानिसो नरो-द्र ।

बहति प्रणयोपरुद्धकृला बलहर्मेरमुमन्तरेण रेवा ॥ ५५ ॥

दूर से ही आपकी भाँति अति उन्नत यह परत भी दिखाई पड़ रहा है । इसीके बीच से होकर रेवा नदी बह रही है, जिसके किनारे पर सुन्दर मीठाइस प्रणयमीठा कर रहे हैं ॥ ५५ ॥

अमृते-दुक्लासहोदराऽस्या मुतनुस्तीग्तनेऽनतिष्ठते सा ।

उरसीध पयोविराजक-या अनमालाभरणे रथाङ्गपारणे ॥ ५६ ॥

इसी रेवा नदी के तट पर सुन्दर शरीरवाली, तथा अमृत क समान शीतल तथा आह्लादकारक चन्द्रकला की तरह सुन्दर शशिप्रभा वहाँ उसी प्रकार शोभित है, मानो विष्णु भगवान् क धनमाला से विभूषित वह स्थल पर लक्ष्मी विराजमान हो ॥ ५६ ॥

तदित स्वयमेव देव गत्या पुलिन मोमभुजस्तरङ्गवत्या ।

रगलुप्तभिभूषणा प्थितौ ते फणिराजेन्द्रसुवा विनोदयेति ॥ ५७ ॥

हे देव ! यहाँ चन्द्र से पैदा हुई रेवा नदी के किनारे पर जाकर आप स्वयं उस नागे द्रक-या को समझा दीजिए, जिसका हार आपकी पृथ्वी में अर्थात् आपके राजा रहते इस ने चुरा लिया है ॥ ५७ ॥

सानन्दं नायकोक्तिः

इति तद्वचसा स्मरैकदृतप्रसवोल्लासवसन्तवासरेण ।

स नृपः कमपि प्रमोदमापन् घनराजिध्वनिनेव नीलकण्ठः ॥ ५८ ॥

आनन्दपूर्वक नायक का कथन

काम के एकमात्र दूत आम्रमञ्जरियों के उल्लास (विकास) के लिये वसन्तवासर के समान पाटला के मधुर दन्धन सुन कर राजा मेघपर्णिकी की ध्वनि को चुनकर प्रसन्न होने वाले मोर की भाँति अत्यन्त आनन्दित हो गया ॥ ५८ ॥

अवदन्च विहग्य पार्थिवेन्द्रः फणिराजेन्द्रमुताविलासिनीं ताम् ।

वचसोत्क्रयता मयूरशावन् नवजीमूतनिनादसोदरेण ॥ ५९ ॥

नवीन नेत्र का शब्द जिस प्रकार मयूर-शावको (बच्चों) को आनन्दित करता है, उसी प्रकार राजा भी (अपनी मधुर वाणी से) नागराज पुत्री की उस परिचायिका को आनन्दित करना हुआ हँसकर गोला ॥ ५९ ॥

अपि नाम मृदूनि वेत्सि वक्तुं निपुणं न्यायमनुव्रज्यती वचांसि ।

प्रसभं विवाहतारत्नया यदेते वयमात्मस्खलितेऽपि सापराधाः ॥ ६० ॥

वाग्मव में न्यायमार्ग का त्याग न करती हुईं तुम मीठे वचनों को धोलना भलीभाँति जानती हो । क्योंकि गलती हमारी है । तुमने निर्भय होकर हमारी गलती हमें बतायी है ॥ ६० ॥

इदमोमिति गृह्यते वचरते सह मेधाविनि कस्त्वया विवादः ।

यदिमा विशदोद्गमा गिररते पथि सिद्धान्तसमीक्षिते चरन्ति ॥ ६१ ॥

ऐ चतुर बुद्धिवाली ! मैं तुम्हारी बात को अक्षरशः स्वीकार करता हूँ ।

तुम्हारे साथ विवाद किस बात का ? क्योंकि तुम्हारी यह स्वच्छ प्रवाहशील वाणी सिद्धान्तपूर्ण मार्ग पर स्थित है ॥ ६१ ॥

तदनेन विनोदयाशु तावन् मम हारेण मनः शशिप्रभायाः ।

इह पल्लवसंकतेषु यावन् तदलङ्कारमवेक्षितुं यतिष्ये ॥ ६२ ॥

जब तक मैं जलाशयों के किनारे तुम्हारी सखी के हार को हँडने का प्रयत्न करता हूँ, तब तक तुम मेरे इस हार को ले जाकर शशिप्रभा का मन बहलाओ ॥ ६२ ॥

हारप्रदानम्

अथ हारमनादरेण कंठान् स्वयमाकृष्य स कृष्टचन्द्रशोभम् ।

विहसन्नरविन्दकोशताम्रं निदधे पाणितले विलासवत्याः ॥ ६३ ॥

हार देना

इसके पश्चात् चन्द्रमा की शोभा को हरण करनेवाले, अपने हार को बिना किसी हिचकिचाहट के गले से निकालकर हँसते हुए राजा ने कमल की पँखुड़ियों

के समान रक्तवर्ण एव कीमल कान्तिवाले उस पाटला के हाथ पर रख दिया ॥ ६३ ॥

अपि कोशगृहोदर दुराप फणिना भर्तुस्त्रोढविम्मया सा ।

तमुदञ्चितपद्मणा भृगाक्षी लिखितेनैव ददर्श लोचनेन ॥ ६४ ॥

अहिराज (वासुकि) के खजाने में भी दुष्प्राप्य उस हार को देखकर विस्मित हुए मृगनयनी पाटला, अपलक दृष्टि से चित्रलिखी थी उस हार को देखती रही ॥ ६४ ॥

शशिप्रमाहारधारणम्

अनृप्य सलोलमुत्तरीयान् सितमेघादिव तारकानितानम् ।

वरसा स वभार हारमीरा स्तनपयङ्कशय शशिप्रभाया ॥ ६५ ॥

शशिप्रभा के हार को पहनना

इसके पश्चात् राजा ने अपने दुपट्टे में से श्वेत मेघ के बीच से तारकानली की भाँति उस हार को निकालकर अपने गले में पहन लिया, जो शशिप्रभा के वल्ल स्थल की शोभा बढ़ाया करता था ॥ ६५ ॥

उदति स्म हसन रमागदन्ताम् वरगस्त्रीमथ भर्तुरिद्विजित ।

यदि कौतुकप्रत्यमत्सरस्ते तन्नित निश्चिदितोऽतलोरुयेति ॥ ६६ ॥

स्वामी के इंगित (इशारे) को जाननेवाले अर्थात् राजा के अभिप्राय को समझनेवाले रमागद ने हँसते हुए उस नाग स्त्रांस कहा, यदि तुम्हें कुछ उत्सुकता है और तुम ईर्ष्या नहीं करती हो तो बरा इधर देखो ॥ ६६ ॥

अथ हारलतात्रिकृष्टदृष्टि सहसा वारिनिहगमावलुप्तम् ।

वरगेद्रसुताभिभूषण तन्नूपतेर्गन्धि पाटला ददर्श ॥ ६७ ॥

तब उस राजा के दिये हुए हार की ओर से दृष्टि हटाकर पाटला उस द्वारा घुराये हुए नागराज पुत्री के हार को राजा के वल्ल स्थल पर देखा ॥ ६७ ॥

पुनः पाटलागम्यम्

दशनच्छदमात्तन्मिश्रोभ स्तनपयती मुधयेव हासकान्त्या ।

अवदन्त्य वचांसि पाथिय सा चतुरैव परिहासपेशलानि ॥ ६८ ॥

पुनः पाटला का वचन

निम्बफल की शोभावाले अपने ओष्ठ को (अपने निम्बाधर का) अपनी अमृत तुल्य हास्य-कान्ति से नहलाती हुई-सी (सींचती हुई सी) चतुर पाटला ने हँसी हँसी में राजा से ऐसे मधुर वचन कहे ॥ ६८ ॥

अपहर्तुमगास्त्वमेव हार किमित कल्पितराजैसरूप ।

विदितोऽसि घनस्तमोरगाणां नगरेऽस्त्येव हि कामरूपवार्ता ॥ ६९ ॥

बनावटी (कृत्रिम) राजहंस का रूप धारण कर वहीं आप ही तो हार को चुगाने नहीं गये ? क्योंकि इस बात के लिए आप बहुत प्रसिद्ध हैं । नागलोक में आपके बहुरूप-धारण की चर्चा बहुत सुनी जाती है ॥ ६६ ॥

परवञ्चनपण्डिता मतिस्ते यदि नैवं कथमन्यथा नरेन्द्र !

इदमाभरणं हरस्यरण्ये हरहासैकसितं शशिप्रभायाः ॥ ७० ॥

हे राजन् ! यदि तुम्हारी बुद्धि दूसरों को ठगने की या धोखा देने की न होती तो शिव के हास के समान उज्ज्वल वर्णवाले शशिप्रभा के हार को तुम इस वन में कैसे चुरा लेते ! ॥ ७० ॥

अवर्णावलये त्वमात्तदण्डः सहसे नाऽविनयांशमित्यवैमि ।

अथ च स्थितिमात्मना विधत्से विषये दस्युनिर्पोषिते किमेतन् ॥ ७१ ॥

इस पृथ्वी के शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेनेवाले तुम अन्याय को अंशमात्र भी न सहते होगे, ऐसा मैं समझती हूँ । फिर आप स्वयं ही चोरों के रास्ते पर चल रहे हैं, यह कैसी विचित्र बात है ॥ ७१ ॥

क्षितिप स्मयसे किमेप कैलिरन् भवत्यर्पय हारमस्मदीयम् ।

नयवर्त्मजुषो भवाद्भशः किं न परस्वग्रहणादिह त्रपन्ते ॥ ७२ ॥

हे राजन् ! आप को कुछ आश्चर्य हो रहा है या नहीं ? या क्या आपने इसे खेल समझ रखा है ? उन्ने हँसी-टट्टा न समझिये । आप हमारे हार को दे दीजिए । न्यायमार्ग पर चलने वाले आप जैसे लोग दूसरे का धन ग्रहण करने में क्या लजित नहीं होते हैं ? ॥ ७२ ॥

अथवा परतोऽस्तु नर्म नास्यां भुवि देवेन समोऽस्ति पाथिवोऽन्यः ।

अपविद्धतया न यस्य छत्रं अपसर्पन्त्यथ खेचराः किमन्यः ॥ ७३ ॥

अथवा हँसी-मजाक दूर करिये । इस पृथ्वी पर आपके समान तो अन्य कोई ऐसा राजा है ही नहीं, जिसकी तीखी दृष्टि पड़ने पर आकाशगामी जीव भी उसके प्रभाव से दूर नहीं हों सकते, औरों की तो बात ही क्या है ?

अनयोः किमपि त्वया विलासिन् परिवर्तोऽयमकारि हारयोर्यः ।

वचसामवकाशमीश दत्ते स न कस्यानृजुचेतसो जनस्य ॥ ७४ ॥

हे विलासी राजन् ! आपने जो इन दोनों हारों का परिवर्तन किया है, वह भला किस चतुर व्यक्ति को भी कुछ कहने का मौका न देगा । अर्थात् इस परिवर्तन से साधारण व्यक्ति भी तुम्हारा भाव जान सकता है ॥ ७४ ॥

विहितो नहि वक्षसि त्वयाऽयं नृप हारः फणिराजकन्यकायाः ।

किमपीप्सितमात्मनो विधातुर् विहितं सूत्रमिदं मनोभवेन ॥ ७५ ॥

हे देव ! नागकन्या के इस हार को आपने स्वयं जान-बूझकर अपने वक्षःस्थल पर धारण नहीं किया, अपितु अपनी कुछ मनोकामना को पूर्ण करने

के लिए मानो कामदेव ने ही उस रूप में अभीष्ट वस्तु का स्वपात किया है ।
अर्थात् शशिप्रभा के प्रेम का यह प्रथम स्वपात है ॥ ७५ ॥

ननु याम्यमुना शशिप्रभायास्तत्र हारेण मनो विनोदयामि ।

त्वयि साप्यलमेव सा द्रुचेतममुतनु स्नेहसार्द्रतामुपेतु ॥ ७६ ॥

अच्छा, तो अब मैं जाती हूँ । आपने इस हार से मेँ शशिप्रभा का
मनाविनोद करूँगी । स्नेह से स्निग्ध चित्त वाली वह मुदरी भी आपके प्रेम से
मुलकित हो उठेगी ॥ ७६ ॥

उचित निनसायकानुरोधान् अधिराजे द्रमुतोपसर्पण ते ।

परतोऽस्तु शरस्त्वदयिता सा किमु न त्यागवशवदा ददाति ॥ ७७ ॥

अपने राण को माँगने के लिए शशिप्रभा के पास आपका जाना भी उचित
है । बाण की रात छोड़ो, भला वह कौन ऐसी वस्तु है, जो तुम उससे माँगो,
और वह तुम्हें न दे ॥ ७७ ॥

सरसोऽस्य विमुञ्चतीरलेखाम् अनुरेवापुलिनि गृहाण यात्राम् ।

उरगाविपरूपपक्षपात शमय व्यालरघृप्रिलोचनानाम् ॥ ७८ ॥

अब इस तालाब के तट का छोड़कर आप रवा के किनार चलना
प्रारम्भ कीजिये । नागस्त्रियों को जो अपने अपने पतियों के सौन्दर्य के प्रति
पक्षपात (अनुराग) है, (चलकर बरा) आप उसे अपने दर्शन देकर शांत
करें । अर्थात् उन्हें यह मालूम हो जाय कि मृत्युलोक में नागों में भी सुन्दर लोग
रहते हैं ॥ ७८ ॥

शशिप्रभादर्शनार्थगमनम्

इति वस्तु वचो निशम्य तस्या स नृप पन्नगग्रामलोचनाया ।

स्थितमग्न वचस्यलङ्घनीये तत्र कल्याणि मयेति तामुवाच ॥ ७९ ॥

शशिप्रभा दर्शन के लिये प्रस्थान

नागराज अधू पाटंग के सुन्दर और मीठे वचनों को सुनकर राजा ने कहा
कि हे कल्याणि ! मैं तुम्हारे अनुल्लङ्घनीय वचनां पर स्थित हूँ । मैं तुम्हारे
वचनों का उल्लंघन नहीं कर सकता अर्थात् तुम जो कुछ कह रही हो, वह
सब मुझे स्वीकार है ॥ ७९ ॥

अथ सानुजुरादिनी विधाय क्षितिपाल पुरसञ्चाल माला ।

हृदयेन पराममर्शं चैव मिलसन्मासलविस्मयो भरेन्द्र ॥ ८० ॥

इसके पश्चात् रहस्यमय वचनों को बोलनेवाली वह पाटला राजा को
आगे करके चल पड़ी । अत्यधिक आश्चर्य से युक्त हुआ राजा भी अपने हृदय
में इस भाँति विचार करने लगा ॥ ८० ॥

अरण्यानी क्वेयं धृतकनकसूत्रः क स मृगः
 क्व मुक्ताहारोऽयं क्व च स पतंगः क्वेयमवला
 क्व तत् कच्यारत्नं ललितमहिभर्तुः क्व च वयं
 स्वमाकृतं धाता किमपि निभृतं पल्लवयति ॥ ८१ ॥

कहाँ तो यह घोर वन, सोने की शृंखला पहने हुए, कहाँ वह मृग, कहाँ यह मोतियों का हार, कहाँ यह हंस, कहाँ यह स्त्री, कहाँ नागगज की सर्व-सुन्दरी कन्या, और कहाँ हम लोग ? इन सारी वस्तुओं को देखकर विदित होता है कि विधाता का विधान गुप्तरूप में पल्लवित हो रहा है। अर्थात् इस सब को एकत्र देखकर मालूम पड़ता है कि विधाता अपने मन में छिपे किसी अभि-प्राय को अब प्रायोगिक रूप देना चाहता है ॥ ८१ ॥

अथ मदगजलीलान्वेलगामी स कृत्वा
 कनकविशखयाञ्चान्याजमव्याजकान्तः ।
 अत्रनिहरिणलक्ष्मा साहसोपाजितश्रीः
 अहिपरिवृढकन्यालोकनाय प्रतस्थे ॥ ८२ ॥

इति धीमृगांकदत्तसत्तोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ
 नवसाहस्रान्वरिते महाकाव्ये शशिप्रभावलोकनार्थप्रस्थानं
 नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् मदोन्मत्त हाथियों की भाँति लीलापूर्वक चलनेवाला, अपने साहस से लक्ष्मी को प्राप्त करने वाला, इस धरती का चन्द्रमा, स्वाभाविक सुन्दर वह राजा अपने स्वर्णफल वाले वाण को माँगने का बहाना बनाकर फणीन्द्र-कन्या शशिप्रभा को देखने के लिए चल पड़ा ॥ ८२ ॥

धीमृगांकदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहस्रान्वरित महाकाव्य का शशिप्रभा को देखने के लिए प्रस्थान नामक पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥



अथ षष्ठः सर्गः

षष्ठः सर्गः

नायिकास्वार्णनम्

तदा फलीन्द्रक्यापि नाणनामाहुस्तुचिते ।

नरेन्द्रतिलके तस्मिन्नभिलाप वयस्य सा ॥ १ ॥

नायिका की दरश का उर्णन

उपर वह नागराजकन्या भी बाणों पर लिखे हुए नामवाले राजा के प्रति अनुरागवती हो गई। राजा से मिलने की उसकी अभिलाषा जाग्रत हुई ॥ १ ॥

सहसा हृदये तस्या निद्रये मग्मय पद्म ।

अशोक्यष्टिस्तपके सराग इव पट्पत्न ॥ २ ॥

उसके हृदय में कामदेव ने वैसे ही प्रवेश किया, जैसे अशोक की लता के विकसित पुष्पगुच्छ में भ्रमर प्रेम से प्रविष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

अवशा साऽभ्रवक्षिन्न नाग्नापि पृथिवीपते ।

न तदस्त्यत्र यनास्त्र मनस्य मनोभुज ॥ ३ ॥

उड़े आश्चर्य की बात है कि राजा के नाम से ही वह विह्वलचित्त हो गई, अपने पर काबू न रख सकी। इस दुनिया में कोई वस्तु नहीं, जो काम के लिए अपनी विजय का अस्त्र न बन आये ॥ ३ ॥

स्मराग्निकण्ठमेण ह्यास्तस्या समुददीपयन् ।

मकरध्वजमाश्राव्यसचिवो मलयानिल ॥ ४ ॥

कामदेव के साम्राज्य का भग्नी बना हुआ मलयानिल, उस मृगलोचना के हृदय में स्थित कामाग्नि की चिनगारी को अत्यधिक प्रज्वलित करने लगा अर्थात् मलयानिल के सम्पर्क से वह अधिक कामपीडित हो गई ॥ ४ ॥

सोऽहस्तस्मरलीलेन नवेन वयसा वभौ ।

तस्मिन्मधुलेनेन मुकुलेनेन मालती ॥ ५ ॥

जिसमें काम-लौलाहँ प्रकट होती हैं, उस नवयौवन से वह इस भाँति शोभित हुई, जैसे चमेली पुष्प की लता, जो उस कली से शोभायमान होती है, जिसपर मधुलेखा अर्थात् मकरन्द राशि निराजमान हो ॥ ५ ॥

साऽतनुश्वसनस्पृष्टपाटलाधरपल्लवम् ।

उवाह मुखमुज्जृम्भमम्भोजमिव पद्मिनी ॥ ६ ॥

दीर्घ निश्वास के कारण सखकर लाल हुए अधरों से वह ऐसी प्रतीत होती थी, मानो खिले हुए लाल कमल को कमलिनी ने धारण किया हो ॥ ६ ॥

निकामसरले तस्मिन् सा मुहुस्तरले दृशो ।

शरे नरेन्द्रचन्द्रस्य चिक्षेप न सखीजने ॥ ७ ॥

वह शशिकला अपना चंचल आँखों से पुनः-पुनः एकटक नरेन्द्रचन्द्र (सिन्धुराज) के एकदम सीधे बाण को ही देखती रही । सखियों पर उसने कोई ध्यान न दिया ॥ ७ ॥

नरेन्द्रनामाङ्कलिपिस्तामानन्दयति स्म सा ।

कुमुद्वतीमिवोदञ्चद्वालेन्दुकिरणच्छटा ॥ ८ ॥

जिस भाँति उदयकालीन वालेन्दु की किरणकान्ति कुमुदिनी को आनन्द देती है, उसी भाँति राजा के नाम से अङ्कित (बाण पर लिखी) वह लिपि भी उसे आनन्द दे रही थी ॥ ८ ॥

हेमपुद्गाङ्किते तस्मिन् शरे करमुपेयुपि ।

बलाद्विवेश सा वाला दीक्षां वैवाहिकीमिव ॥ ९ ॥

स्वर्णपुद्ग वाले उस बाण के हाथ में आ जाने से उसके प्रति वह इतनी सानुराग हो गई, मानो सानुकूल पति पाकर वरयस विवाहकालीन दीक्षा उसने पा ली हो ॥ ९ ॥

तेनावाप्तदाताम्रपाणिस्पर्शेन पत्रिणा ।

स्फुरत्कान्तिचयव्याजादमुच्यन्तेव पल्लवाः ॥ १० ॥

उसके इपत् रक्तवर्ण के हाथ के स्पर्श के कारण वह बाण ऐसा प्रतीत होता था, जैसे अपने चमकनेवाले प्रभासमूह के वहाने वह नये-नये किसलयों को प्रकट कर रहा हो । अर्थात् उस बाण की कान्ति के साथ शशिकला के हाथ की लाल कान्ति मिल गई । वह कान्ति प्रसृत होने लगी । ऐसा मालूम पड़ा, जैसे वह बाण कोमल किसलयों को गिरा रहा हो ॥ १० ॥

नवीनसाहसाङ्कस्य कामदेवाकृतेरयम् ।

मालवैकमृगाङ्कस्य सिन्धुराजस्य सायकः ॥ ११ ॥

पुनः पुनरिति स्वादु नृपतेर्नामल सा ।

अपठच्चारुविम्बोप्रनुठदशनचन्द्रिका ॥ १२ ॥

उसने उस बाण पर “कामदेव के समान आकृति वाले, मालव देश के चन्द्र सिन्धुराज नवसाहसाङ्क का यह बाण है” यह अङ्कित देखा और उन सुन्दर नामालुओं को वह बार-बार पढ़ने लगी । तब रह-रहकर उसके अधर पर दाँतों की आभा खेलने लगी ॥ ११-१२ ॥

सान्दानितकम्

अधीत्य कौतुकेनाय कृतपञ्चममूर्च्छना ।

तदमे नृपनामाद्ध जगु पातालकन्यका ॥ १३ ॥

सान्दानितक

उस राग पर नवसाहसाङ्ग का नाम पड़कर पातालकोक की कन्याएँ पञ्चम स्वर की मूर्च्छना के साथ अर्थात् पञ्चम स्वर के आलाप तान के साथ जोर जोर से बार बार उसे उस नाम को सुनाने लगीं । (नाम का गीत गाने लगीं) ॥ १३ ॥

अदृष्टेऽप्युत्सुना राक्षि तद्गीतेन वभूव सा ।

प्रवोरे यदनङ्गाग्ने पञ्चम प्रयमा ममिन् ॥ १४ ॥

उनके नाम गीत से राक्षा को न देखने पर भी वह राक्षा क प्रति आसक्त हो गई । वस्तुतः ठीक भी है, क्योंकि पञ्चम स्वर कामाग्नि को प्रज्वलित करने की पहली समिधा है ॥ १४ ॥

अत्रेपत समुन्मीला विलासकुसुमाश्रिता ।

मनोभवानिलस्पर्शरराद्वनलतेज सा ॥ १५ ॥

कामरूपी प न के स्पर्शम व से ही, अपने नवोदगत हाव भाव रूपी कुसुमों से सुशोभित वह वनलता की भाँति झँसने लगी ॥ १५ ॥

ननानुरागमङ्गे न व्यञ्जतचिह्नचुम्बिता ।

विना उचनमाचर्यो सरोषु चतुरामु सा ॥ १६ ॥

स्वप्न रूप से प्रेम के चिन्हों से मुक्त उसके अग्र प्रत्यग ने विना कहे ही उसकी सखियों पर राक्षा क प्रति उसके गाढानुराग को व्यक्त कर दिया । उसकी मुलाहति को देखकर सखियाँ उसके मनाभावों को समझ गईं ॥ १६ ॥

शशिप्रभाया. प्रश्न.

सावहित्थमयेत्थ सा सरोजनमभापत ।

मुधानिष्यन्दजडया शरदिन्दुमुसो गिरा ॥ १७ ॥

शशिप्रभा का प्रश्न

उस चन्द्रमुखी शशिप्रभा ने मुझा बरसाने के कारण उस वक्त स्तब्ध अपनी वाणी से पुन साभिप्राय अपनी सखियों से कहा ॥ १७ ॥

अभेदमिदुना नीत साविध्य मीनकेतुना ।

सरय क सिधुराचोऽय साहसाङ्गे निरूप्यते ॥ १८ ॥

हे सखियाँ ! जिससे चन्द्रमा कुछ भी भिन्न नहीं, तथा जो काम का सचिव है, और जिसे साहसाङ्ग कहा जाता है, ऐसा यह कौन सिधुराज है, जिसके बारे में तुम सब वर्णन कर रही हो ॥ १८ ॥

किमेतन् अवतिष्ठ्यै मौनं मुञ्चत शंसत ।

उन्मीलति यदन्तर्मे वलात्कौतुककन्दली ॥ १६ ॥

तुम लोग इस तरह क्यों मौन बैठी हुई हो ! चुप्पी छोड़ो, कुछ तो कहो ! मेरे हृदय में बरबस उत्सुकता का अंकुर प्रस्फुरित हो रहा है, जिसके कारण मैं व्यथित हूँ ॥ १६ ॥

माल्यवत्या उत्तरम्

अथ माल्यवती नाम तत्सखी सिद्धकन्यका ।

इति स्मितमुधाद्रेण वचसा तामवोचत ॥ २० ॥

माल्यवती का उत्तर देना

तब उसकी सखी सिद्धराज की पुत्री माल्यवती ने हास्य रूपी अमृत से आर्द्र वचन शशिप्रभा से कहे ॥ २० ॥

सखि ! साहसिकः सोऽयमवन्तितिलको नृपः ।

गीयते वेतकापाण्डु यस्योरगपुरे यशः ॥ २१ ॥

हे सखी ! अत्यन्त साहसी, वेत के समान पाण्डुवर्ण का वह अवन्तिपति है, जिसका यश नागलोक में भी गाया जाता है ॥ २१ ॥

तं काश्यपिसहस्राक्षमद्राक्षमहमेकदा ।

गता श्रीमन्महाकालपर्वण्युज्जयिनी पुरीम् ॥ २२ ॥

एक बार जब मैं महाकालेश्वर के उत्सव में उज्जयिनी गई थी, तब मैंने उस धरती के इन्द्र को देखा था ॥ २२ ॥

तन्वि तिग्मांशुनेव द्यौर्निशेव शशलक्ष्मणा ।

सा सनाथा पुरी तेन वज्रिणेवामरावती ॥ २३ ॥

जिस भाँति सूर्य से आकाश, चन्द्रमा से रात, इन्द्र से अमरावती सनाथ होकर शोभा पाती है, उसी भाँति यह धरती भी नवसाहस्राक्ष से सुशोभित हो रही है ॥ २३ ॥

रम्भा त्वयैव यत् सत्यं तेनाऽपि नलकूवरः ।

त्याजितो रूपजं गर्वमुर्वीमकरकेतुना ॥ २४ ॥

अरी सखी ! भूलोक के कामदेव उस राजा ने, जैसे तुमने रम्भा का सौन्दर्याभिमान छुड़ाया, वैसे ही नलकूवर का सौन्दर्याभिमान भी चूर कर दिया ॥ २४ ॥

अकलङ्काकृतेस्तस्य चतुःपष्टिकलावतः ।

तुलाधिरोहहंवाके कः पोटशकलः शशी ॥ २५ ॥

चौसठ कलाओं से परिपूर्ण निष्कलकावृत्ति वाले उस राजा की तुलना में भला सोलह कला वाला चन्द्रमा कैसे ठहर सकता है ॥ २५ ॥

तम्यावनिप्रदीपस्य ते ते नैसर्गिका गुणा ।

यव नाम न प्रकाशते खेरिव मरीचय ॥ २६ ॥

सूर्य की किरणों के समान उस राजा के स्वामात्रिक गुण भला कहाँ कहाँ नहीं प्रकाशित होते हैं ! और कहाँ कहाँ नहीं प्रकाश फैलाते हैं ! सबन उसके गुणों की चर्चा है ॥ २६ ॥

न नागेषु न सिद्धेषु न नरेष्वमरेषु च ।

अवापि क्वापि सवादस्तदूर्ध्वोत्तरेक्षया ॥ २७ ॥

उसकी रूपरेखा का सादृश्य न तो नागा में है, न सिद्धों में, न देवताओं में और न मनुष्यों में ही पाया जाता है ॥ २७ ॥

न हि केनापि कृत्येन गा गत श्रूयते पुन ।

निहतैर्मुचद्बद्धो देव श्रीवत्सलाब्धन ॥ २८ ॥

लोगों में ऐसी चर्चा है कि अपनी दो मुजाओं को छिपा लेने से अब केवल दो मुजाओं वाला वह राजा साक्षात् विष्णु है, जो किसी कार्य से शरती पर आया है ॥ २८ ॥

किमन्यत्तव सत्पुष्ट्यै पश्य चित्रे लिप्याम्यहम् ।

चिरस्य दीर्घनयने तथास्तु नयनोत्सव ॥ २९ ॥

और क्या कहूँ, तुम्हारे सन्तोष के लिए मैं यहाँ पर उसका चित्र बनाती हूँ । हे दीर्घ लोचनों वाली ! कुछ देर के लिए तुम्हारे आँखों की वृत्ति (मनो विनोद) तो हो ही जायगी ॥ २९ ॥

आकृतिलेखनम्

अथ सा सिद्धतनया तलिलेख शिलावले ।

इदि तूरगराजेद्बुद्धितुर्माकेनवन ॥ ३० ॥

चित्र बनाना

एक और तो उस सिद्धराज कुमारी माल्यवती ने राजा का चित्र शिला-फलक पर अंकित करना प्रारम्भ किया, और दूसरी और काम ने उसे (राजा की) नागराज कुमारी शशिप्रभा के हृदय पर चित्रित कर दिया ॥ ३० ॥

तदालिखितभूपाल तथा चिन्तितकामदम् ।

चिन्तामणेरप्यधिक शिलावल्लभमम्व स ॥ ३१ ॥

जिस शिला पर माल्यवती ने राजा का चित्र बनाया था, शशिप्रभा ने उस शिला को मनोवान्धित फल देने वाले चिन्तामणि मन्त्र से भी अति प्रिय समझा ॥ ३१ ॥

ततश्चित्रगते तस्मिन् महीपाले मदालसाः ।

सममेवाहिकन्यानां पेतुर्नेत्रपरम्पराः ॥ ३२ ॥

तब वहाँ पर उपस्थित सभी नागकन्याओं ने एक साथ ही उस चित्र-
लिखित राजा को मदभरी नजर (मादक दृष्टि) से देखा ॥ ३२ ॥

पपौ शशिप्रभाप्येनं चिरमुत्पद्मलेखया ।

पुनरुक्तीकृतोन्निद्रकर्णेन्दीवरया दृशा ॥ ३३ ॥

शशिप्रभा भी राजा के चित्रित रूप को अपनी अपलक नजर से एकटक
अधिक देर तक देखती रही । उस समय उसकी आँखों की शोभा पास ही कान
पर रखे विकसित कमल से और भी बढ़ गई ॥ ३३ ॥

रूपमास्वादयामास तस्यालेख्यगतस्य सा ।

भ्रमरी वाऽरविन्दस्य सुधासहचरं मधु ॥ ३४ ॥

उस चित्रलिखित राजा की रूपरशि का आस्वाद वह उसी तरह करने
लगी, जैसे भ्रमरी कमल के अमृततुल्य मधुरस का आस्वाद करती है ॥ ३४ ॥

आनीयताकुलत्वं सा त्रितयेन तन्दरी ।

विस्मयेनातिसान्द्रेण मदेन मदनेन च ॥ ३५ ॥

उस कुशोदरी को उस समय इन तीनों ने बहुत व्याकुल कर दिया ।
१-अति विस्मय ने, २-काम ने और ३-मद ने ॥ ३५ ॥

विवेश हृदये तस्याः स चित्रलिखतो नृपः ।

शरत्प्रसन्ने सरितः प्रतिमेन्दुरिवाम्भसि ॥ ३६ ॥

शरदकालीन स्वच्छ सरिता के जल में जिस भाँति चन्द्र का प्रतिबिम्ब
प्रविष्ट हो जाता है, उसी भाँति उसके हृदय में चित्रलिखित राजा प्रविष्ट
हो गया ॥ ३६ ॥

स्तनपत्रलतां तस्या विभेद पुलकोद्गमः ।

सत्यं यदन्तरङ्गेण वहिरङ्गो निरस्यते ॥ ३७ ॥

आनन्द के रोमाञ्चों से उसके स्तनों की शोभा बढ़ाने वाली पत्ररचना
अस्त-व्यस्त-सी हो गई । सत्य ही है कि अन्तर्गत वस्तु अपना स्थान जमाने
के लिए बाहर की वस्तु को हटा देती है ॥ ३७ ॥

तस्याः कुचयुगे किञ्चिन्निःश्वासः कम्पमादधे ।

रथाङ्गनाममिथुने सायन्तन इवानिलः ॥ ३८ ॥

सायंकालीन वायु के स्पर्श से (वियोग के कारण) भयभीत चकवा-
चकवी के हृदय-कंपन की भाँति शशिप्रभा के श्वासों ने भी उसका हृदय कंपा
दिया (दीर्घश्वास आने पर कुच काँपने लगे) ॥ ३८ ॥

तस्या स्वेदलपत्रेणिच्छदमना वदनश्रिया ।

निशतोऽन्तरनङ्गस्य लाजाञ्जनलिरिवोक्षित ॥ ३६ ॥

ऐसा लगता था कि उसकी मुखझी ने स्वेद बिंदुओं के गहाने उसके हृदय मन्दिर में प्रवेश करते हुए कामदेव के स्वागत के लिए मानो लाजाञ्जलि विलेर दी हो ॥ ३६ ॥

शङ्के शरमृजकुर्वन् ददसे ममयस्तया ।

यत् सा मृदु क्वणत्काञ्चिन्निष्किलीकमकम्पत ॥ ४० ॥

मानो शशिप्रभा ने अपने पर कामदेव की बाणों के निशान लगाते हुए देख लिया हो, और उसी से वह कांपने लगी, जिसके कारण उसकी करधनी भी मुखरित हो उठी ॥ ४० ॥

एष दृष्टम्बयेत्युक्ता सरया सा साध्वसाकुला ।

गद्गदाक्षरमव्यक्तं कृच्छ्रात् प्रतिवचो ददौ ॥ ४१ ॥

हे नागराजकन्या ! तुमने देखा इस राजा को ? सखि के इस प्रकार पूछने पर उसने कांपती हुई अर्थात् गद्गद वाणी से बड़ी कठिनार् से प्रत्युत्तर दिया ॥ ४१ ॥

चित्रप्रतिपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतमि ।

प्रीढाधरलित चक्रे मुग्धे दुमयशौ स ॥ ४२ ॥

सखी के पूछने पर लाचार होकर लज्जा के कारण उसने राजा चित्ररिपि रहने पर भी शशिप्रभा के हृदय में उसके प्रति प्रेम निर्माण हुआ था, अतः बरबस उसका मुखचन्द्र लज्जा के कारण धवलदण हो गया ॥ ४२ ॥

नृपा सखीभिस्साकृत सा बालाधरपल्लवे ।

दधौ वैलदयहसित प्रसूनमिव माधवी ॥ ४३ ॥

सखियों ने जब उसे सामिप्राय देग लिया अर्थात् उसके अमिप्राय की जब सखियाँ समझ गईं, तब उस बाला के किसलय तुल्य ओठ पर भी लज्जामिश्रित मधुर हँसी माधवीलता के फूल की भाँति शोभा पाने लगी ॥ ४३ ॥

नय प्रेम नयोल्लख्णाननास्ते ते मनोरथा ।

इति तस्यास्तवेनामृदुतरङ्ग परिच्छद ॥ ४४ ॥

उसी समय नया प्रेम, नई उल्लखणा, नये नये मनोरथ उसके हृदय में उदित होने लगे । और उसके अंतरंग सहचर हो गये ॥ ४४ ॥

किञ्चिन्पानुमिद्वेन पुण्डरीकदलत्पिया ।

तमानर्चय राजेन्दुमनिमित्तस्मिन्तेन सा ॥ ४५ ॥

उसने कुछ-कुछ लज्जा से मरी, बिना किसी कारण के अपनी हँसी से उस राजा की अर्चना की । मानो अर्धाधिकसित कमल की कलियाँ उसपर अर्पित की हो ॥ ४५ ॥

सा च दोःशायितभुवा नृपेणाद्व्यासिता हृदि ।

कृताङ्गभङ्गावलना झटित्यालस्यमायया ॥ ४६ ॥

(इसके पश्चात्) अपने मन में बाहु का तकिया बनाकर जमीन पर लेटे हुए राजा का ध्यान करती हुई वह देह तोड़ती हुई अर्थात् अँगड़ाती हुई शीघ्र ही आलस्य से युक्त हो गई ॥ ४६ ॥

तत्क्षणेनैव सा चित्रं तन्वी तन्मयतां ययौ ।

कं न प्रतारयत्येव कितवः कुसुमायुधः ॥ ३७ ॥

उसी समय फिर वह सुन्दरी राजा के ध्यान में पूर्ण रूप से मग्न हो गई । ठीक ही है, यह धूर्त कामदेव भला किसे नहीं टगता ? अर्थात् सभी पर काम का प्रभाव पड़ जाता है ॥ ४७ ॥

स्तिमितेवावतस्थे सा सारङ्गायतलोचना ।

अचेतनेव गून्येव सुप्तेवालिखितेव च ॥ ४८ ॥

वह मृगनयनी अकम्मात् ऐसी हो गई, मानो या तो स्तब्ध हो, या चेतना शून्य हो गई हो, या सो गई हो अथवा चित्रलिखित सी हो गई हो ॥ ४८ ॥

स्मरेण मर्मणि कापि साऽविध्यत सुमध्यमा ।

अनिद्रितापि यन् साऽभूत् क्षणं मुकुलितेक्षणा ॥ ४९ ॥

सुन्दर कटिभाग वाली उसका मर्मस्थल कहीं कामदेव ने वेध दिया था, इसलिये वह सोई भी नहीं थी, फिर भी उसकी आँखें बन्द हो गईं अर्थात् वह आँखें बन्द किये हुए पड़ी रही ॥ ४९ ॥

व्यञ्जितानङ्गलीलेन शृङ्गाररसवन्धुना ।

तन्वी नवानुरागेण साऽन्यैव घटिताऽभवत् ॥ ५० ॥

ऐसे नवानुराग के कारण—जिससे काम सम्बन्धी हाव-भावस्वभावतः प्रकट होने लगे थे और जो शृङ्गाररस का सहायक था—वह तन्वी शशिप्रभा कुछ और सी दिखाई देने लगी ॥ ५० ॥

ऋजुनैक्षत यच्चित्रं यदभूच्च त्रपावती ।

तेनातिगूढभावापि सा सखीभिरलक्ष्यत ॥ ५१ ॥

चित्र पर पूरी सरल दृष्टि डालकर फिर एकाएक जब वह लजा गई, तब मन के भावों को छिपाने पर भी उसकी सखियों ने उसके भावों को पहचान ही तो लिया । (उसके मन की बात वे जान गई) ॥ ५१ ॥

अथानङ्गवती नाम सती तामित्यवोचत ।

दशनज्योत्स्नयाऽरण्यं सुधयेव निपिञ्चती ॥ ५२ ॥

फिर अमृत के समान आह्लाददायक अपने दांतों की चाँदनी की श्वेत कान्ति से वन को सींचती हुई उसकी अनङ्गवती नामक सखी उससे बोली ॥ ५२ ॥

कञ्चिदस्य प्रमोदाय कुमुदस्यैव चक्षुष ।

अथ मध्यमलोनेन्दु पातालैर्दुक्कले तत्र ॥ ५३ ॥

हे पाताललोक की चन्द्रकला ! क्या यह पृथ्वी का चन्द्रमा (राजा) कमलवत् तुम्हारे नयना को आनन्द दे सका ! ॥ ५३ ॥

नानानिलाद्वितोऽग्निद्रुपद्मनेसरशालिना ।

रोमोद्गम इयानेन वृत्तस्त्वदवलोकनान् ॥ ५४ ॥

उन की वायु से उड़ाकर लाये गये कमल-कसर से युक्त (चित्र लिखित) इस राजा ने मानो तुम्हें देखने मात्र से ही रोमोद्गम धारण किया अर्थात् चित्रलिखित भी इसके देह पर तुम्हें देखकर रोमाञ्च हो आये हैं ॥ ५४ ॥

अथन भफल चक्षुश्चित्रे यद्वज्रलोम्भित ।

कदर्पाधिकषातोऽयमत्रितिमृगलाऽष्टन ॥ ५५ ॥

काम से सुन्दर आकृतिवाले, अर्थात् के इस राजचन्द्र की चित्र में देखकर तो आज हमारे नेत्र भी सफल हो गये ॥ ५५ ॥

त्यामप्यत्रस्त्रिता मन्ये यत्त्वयैतन्म्य रक्षसि ।

एते सन्निभ्रम न्यन्ते हरौ मुक्कालते इव ॥ ५६ ॥

तुम भी तो घबरा हो गयी हो, क्योंकि तुमने भी तो इस राजा के वक्ष म्यल पर जब अपनी मदमरी दृष्टि डाली तो मालूम पड़ा, मानो उसके वक्ष म्यल पर मोतियों की माला चढ़ा दी हो ॥ ५६ ॥

नितमेतेन कोऽप्येव सत्य कामोऽस्य किङ्कर ।

आरोहति परा कोटिमत्र यन् तत्र सम्भ्रम ॥ ५७ ॥

निश्चित ही देखने से किञ्चित् काम को जीत लिया है । कामदेव इसका भूय है क्योंकि तुम्हारा इसके प्रति प्रेमऔलुक्क्य अपनी चरम कोटि पर जा रहा है ।

त्यमत्र भावेव किमिलन्दमुक्ति क्षणमे ।

विप्रद्वयत्यङ्गुलभ्यानि म्मरदुर्लक्षितानि क ॥ ५८ ॥

हे चन्द्रमुखी ! इस राजा के प्रति आसक्त हुए की तरह लपका क्यों रही हो ! ठीक ही है । अतुल्यहनीय काम की आज्ञा का उल्लङ्घन कौन कर सकता है ! ॥ ५८ ॥

कोऽन्य सखि नृशसोऽस्ति काम त्रिपममाणत ।

सुकुमारे तयाप्यङ्गो येन व्यापारित शर ॥ ५९ ॥

हे सखि ! काम के अतिरिक्त कौन इतना क्रूर हो सकता है, जिसने अपने बाणों को तुम्हारे कमल भी अंगों पर छोड़ा ॥ ५९ ॥

विम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत ।

अधुना हृदयेऽप्येव मृगशावाक्षि लक्ष्यते ॥ ६० ॥

हे मृगनयनी ! पहले तो राग (लालिमा) तुम्हारे विम्बाधर पर ही दिखाई देता था, पर अब तो हृदय में भी दिखाई देने लगा है ॥ ६० ॥

एकेन राजहंसेन हृतो हारगतनृदरि ।

अनेन तु द्वितीयेन लिखितेनापि ते मनः ॥ ६१ ॥

हे कृशोदरी ! एक राजहंस ने तो तुम्हारा हार चुराया और दम दूसरे राजहंस (राजा ने) ने चित्रलिखित होने पर भी तुम्हारा मन चुरा लिया ॥ ६१ ॥

कुतस्त्रपा तवालीपु किञ्चिदुन्नमयाननम् ।

अहो वत त्वमेतस्मिन्नत्यायतकुतूहला ॥ ६२ ॥

हे शशिप्रभा ! जरा मुख ऊपर तो उठाओ । अरे, अपनी सहेलियों से लज्जा कैसी ! मालूम होता है, तुम इस राजा के प्रति अत्यधिक उत्कण्ठित हो गई हो ॥ ६२ ॥

एतत्कर्णोत्पलं लोलमपाङ्गप्रतिवेशितं ।

त्वदुदन्तमिवेतस्य कथयत्यलिकूजितैः ॥ ६३ ॥

यह तुम्हारी आँख के कोनों (फटानों) तक आया कनकूल अति चञ्चल हुआ-सा भ्रमरों के कलकूजन द्वारा तुम्हारे सारे वृत्तान्त को मानो इसे बता रहा है ॥ ६३ ॥

अहो दूरस्थितेनापि हृदि स्पृष्टा नृपेन्दुना ।

इन्दुकान्तशिलेव त्वमार्द्रतामवगाहसे ॥ ६४ ॥

दूर स्थित होने पर भी उस नृपचन्द्र ने चन्द्रकान्त मणि के समान तुम्हारे हृदय को स्पर्श कर दिया । तुम भी चन्द्रकान्त मणि की भाँति ही चन्द्र के समान उस राजा के स्पर्श का अनुभव करके पिघल-सी रही हो । ॥ ६४ ॥

निपुणे ! निःश्वसिष्येवमतिगूढं यथा यथा ।

तथा तथा तव व्यक्तमयमुक्तध्वसति स्मरः ॥ ६५ ॥

हे चतुर ! तुम जितनी ही दवा कर श्वास ले रही हो, उतने ही अधिक रूप में तुम्हारी कामासक्तता प्रकट होती जा रही है ॥ ६५ ॥

स्मितमेतदलोलाक्षि लज्जासंवलितं तव ।

उदं निर्जितवात्यस्य यौवनस्योदितं यशः ॥ ६६ ॥

हे अपलक नेत्रवाली ! लज्जा से युक्त तुम्हारा यह मुसकाना ऐसा जान पड़ रहा है, मानो बाल्यकाल को जीतकर मुस्कराहट के रूप में यौवन अपने यश का विस्तार कर रहा हो ॥ ६६ ॥

यथा तवेयमरतिर्यथा मुतनु वेपसे ।

तथा कवचितः शंके निःशंकं मदनस्त्वयि ॥ ६७ ॥

हे सुन्दरि ! जैसे तुम उदास सी दिखाई दे रही हो, और जिस भाँति तुम काँप सी रही हो, उससे तो यही शका हो रही है कि तुम्हारे मन में निश्चित ही कामदेव विराजमान है ॥ ६७ ॥

किमत्र करवै गाढमाकृत्यकमिदं तप ।

इयं च मन्मथस्यास्य निर्गता चूनमञ्जरी ॥ ६८ ॥

बताओ, अब इस क्या करें ? तुम्हारा विचार तो उड़ा बिफट है, और (इधर देखो) काम का अस्त्र यह आलमञ्जरी (ज़ोर) भी निकल आयी है ॥ ६८ ॥

सुरतगता तशारीकवरीमाल्यचुम्बिन ।

कथमेते स्वया तन्वि सहा मलययाय ॥ ६९ ॥

हे दुर्बल ! रतिक्रीड़ा में यकी हुई मिल्नियों की बेखियों में बँधा मालाओं का चुम्बन करने वाले (स्पर्श करने वाले) इन मलयाचल की वायुआँ का स्पर्श तुम कैसे सह सकोगी ? ॥ ६९ ॥

किं ताम्यसि सरोपान्तमानयाम्यधुनैर तम् ।

इत्याश्वासयतीर त्वा कोन्सोऽय कलस्वन ॥ ७० ॥

कोयल की यह ध्वनि “क्यों परेशान हो रही हो, उसका (तुम्हारे प्रिय को) मैं तुम्हारे पास अभी बुला देती हूँ ” इस तरह तुम्हें आश्वासन सी दे रही है । (टाढस जँघा रही है) ॥ ७० ॥

कूजन्ती कोक्लिन्धुरियमाधि धुनोति वे ।

अनगन्तृपमाम्राज्यलीलामगलगायिनी ॥ ७१ ॥

कामदेव के साम्राज्य में कामलीला के समय मगलगीत गाने वाली कूजती हुई यह कोयल तुम्हारी पीड़ा को मानो दूर सी कर रही है ॥ ७१ ॥

वनान्तदेवतावाग्मपादन्यामोत्स्र स्फुटम् ।

एष स्तनन्तितोऽशोक मुहून् कामस्य का गति ॥ ७२ ॥

वनदेवता के पैरों का प्रसाद पाकर आनन्द से पुष्पगुच्छों का धारण करने वाला यह अशोक कभी स्पष्ट रूप से काम का मित्र बना गया है । (ऐसे समय में) बताओ, तुम्हारा क्या हाल होगा ? ॥ ७२ ॥

अत्रोर्वातिलके दृष्टिमस्यर्तो तिलकं क्रुधा ।

अयं तर्जयतीर त्वा वार्ताधूतलताङ्गुलि ॥ ७३ ॥

यह वायुमेघ से कम्पमान तिलकवृक्ष स्तारूपी अंगुली दिखाकर, राजा की ओर दृष्टि डालने वाली तुम्हें मानो क्रोध से धिक्कार रहा है ॥ ७३ ॥

पथि स्मरस्य विपमे स्तलितायामितस्त्वयि ।

स्मितच्छदेव निर्याति सिन्दुवारस्य मञ्जरी ॥ ७४ ॥

काम के मार्ग पर चलती हुई तुम्हें इधर-उधर भटकती हुई देखकर, यह सिन्धुवृक्ष की मञ्जरी भी हँसती हुई-सी निकल रही है ॥ ७४ ॥

द्राघयत्यस्तविम्बोष्ठरुचिनिःश्वसितानि ते ।

अयं मुकुलितः किञ्चिद्वकुलो मुकुलस्तनि ॥ ७५ ॥

हे कलि के समान स्तनवाली ! यह पुष्पित मौलसरी का वृक्ष मुरभाये हुए ओठों से निकलने वाले तुम्हारे दीर्घ श्वासों को कुल्ल-कुल्ल (अपनी वायु द्वारा) बढ़ा सा रहा है ॥ ७५ ॥

लतया कर्णिकारस्य पुरः पुष्पितयाऽनया ।

अनङ्गस्यैकराज्येऽस्मिन् हेमवेत्रलतायितम् ॥ ७६ ॥

यह पोले कण्डेल की लता, जो कि सामने ही पुष्पित दिखाई दे रही है, वह इस काम के राज्य में सोने की वेत्रलता का काम कर रही है ॥ ७६ ॥

अहो न कस्य भिन्दन्ति हृदयं वीक्षिता अपि ।

निसर्गमृदवोऽप्येते सहकारनवाङ्कुराः ॥ ७७ ॥

भला बताओ, स्वभाव से ही कोमल रहने पर भी ये आम्रवृक्ष से निकलने वाले नये अंकुर (अंखुवे) देखने पर किसके हृदय को विदीर्ण न कर देंगे ? ॥ ७७ ॥

चतुरां कोकिलामेव कृत्वा कुरवको मुखे ।

दुर्लभं याचतीव त्वां लीलालिङ्गनदोहदम् ॥ ७८ ॥

यह कुरवक वृक्ष चतुर कोकिला को अगुवा बनाकर उसके द्वारा अत्यन्त दुर्लभ आलिङ्गन की तुमसे प्रार्थना कर रहा है ॥ ७८ ॥

अशोकस्कन्वलग्नेयं कुसुमैर्नवमाधवी ।

प्रार्थनीयप्रियस्पर्शी हसति त्वामिवोत्सुकाम् ॥ ७९ ॥

अशोक के गले लगी हुई, यह फूलों से लदी हुई माधवी लता, प्रिय के स्पर्श की कामना करने वाली, उत्सुक बनी हुई तुम्हारी हँसी-सी उड़ा रही है । ॥ ७९ ॥

विमर्श—वह माधवी लता मजाक कर रही है कि जैसे मैं प्रिय से मिली हूँ, क्या तुम भी ऐसे ही मिल सकोगी ॥ ७९ ॥

भूपतावनुरक्तायास्तव सन्तापदीपनम् ।

स्थलारविन्दं सेष्येव सूते सखि वसुन्धरा ॥ ८० ॥

राजा (नवसाहसंक) के प्रति आसक्त मनवाली तुम्हारे (काम) सन्ताप को बढ़ाने वाले कमलों को धरती भी तुमसे मानो ईर्ष्या के कारण विकसित करने लगी है ॥ ८० ॥

अभिष्वङ्कस्थकन्दर्पजगद्विजयसिद्धिषु ।

दृष्टिर्द्विजते तन्वि पाटलाकुट्टमलेषु ते ॥ ८१ ॥

हे सुन्दरी ! कामदेव को अपनी गोद में रखने वाली और तब समस्त ससार को जीतने की सिद्धि प्राप्त करने वाली ये पाटला की कलियाँ तुम्हारी, दृष्टि को और भी व्याकुल बना रही हैं । अर्थात् इन्हें देखकर तुम्हें कामोद्दीपक रहने से अधिक पीड़ा हो रही होगी ॥ ८१ ॥

सुन्दरि द्वितयस्यात्र व्रशिष्वा भूषणायते ।

राज-यावद्धभावायास्तत्र रात्रेश्च सम्प्रति ॥ ८२ ॥

हे सुन्दरी ! (इतने पर भी) आज दोनों की कृपा एक विचित्र रूप धारण कर रही है अर्थात् बहुत शोभायमान हो रही है । एक तो राजा में अनुरक्त तुम्हारी, और तदनन्तर रात की ॥ ८२ ॥

एष चैत्रोत्सवश्चित्रे नृपोऽथ नूतन वय ।

प्राप्तानकाश कामोऽपि पतितास्थतिसकटे ॥ ८३ ॥

हे सुन्दरी ! एक तो चैत्र का महीना अर्थात् वसन्तऋतु है । दूसरे यह चित्र लिखित राजा सामने है । तुम्हारी उम्र भी नयी है । राजा अत्यन्त सुन्दर होने के कारण रमण करने योग्य है । ऐसे समय काम की भी अवसर मिल गया है । इसीलिए अब तुम यज्ञे सकट में पन गई हो ॥ ८३ ॥

किमालिग्नितरत्येपा चित्रे माल्यवती नृपम् ।

द्वारीदृतेयमथवा वामेन विधिना तत्र ॥ ८४ ॥

इस माल्यवती ने राजा का यह चित्र क्या बनाया, मालूम होता है तुम्हारे दुर्भाग्य ने ही इसे (माल्यवती को) इस प्रकार का (चित्र बना कर तुम्हें कष्ट देने के लिये) साधन बनाया ॥ ८४ ॥

यहना किं चमोराक्षि ! छलितासि मनोभुवा ।

सर्पथा ते करिष्यति कुशल कुलदेयता ॥ ८५ ॥

हे चकोर के समान नेत्रों वाली ! अधिक क्या कहूँ, अब तो कामदेव ने तुम्हें छल ही लिया है । अब तो कुलदेवता ही तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥ ८५ ॥

इत्यादि व्याहरन्ती सा कृन्मूमद्गया तथा ।

नरेन्द्रगणपुङ्खसेन कुचे निश्चिन्तुयत ॥ ८६ ॥

इन्निम क्रोध से मोहें चढ़ाकर शशिप्रभा ने उक्त रूप से ताने दे देकर बोलने वाली उस सखि के स्तनों पर राजा के सखी (पूर्वोक्त) बाण के अगल भाग को कुछ चुमो दिया ॥ ८६ ॥

कलावतीरचनम्

अथ किं नरराजेन्द्रकन्या नाम्ना कलावती ।

एव वच सितमुधानिपिक्ताक्षरमाददे ॥ ८७ ॥

कलावती का वचन

इसके पश्चात् किन्नरराज की पुत्री कलावती नामक सखी अमृत के समान मधुर हँसी से सिक्त मधुर वचन बोली ॥ ८७ ॥

कामं दुर्लभमेवैतच्चैत्रश्चन्द्राङ्किता निशा ।

प्रेयान्विपञ्चीरणितं पञ्चत्राणाङ्कितं वय ॥ ८८ ॥

चैत का सुहावना महीना, चांदनी रात, वीणा की भंकार और काम पीड़ित नई आयु—ये सब बातें एक साथ बड़ी कठिनता से मिलती हैं ॥ ८८ ॥

अथि त्वां ग्लापयत्येप कालः कमललोचने ।

जगदाह्लादजनकः सुधासूतिरिवाञ्जिनीम् ॥ ८९ ॥

हे कमलनयनी ! जगत को प्रसन्न करने वाला चन्द्रमा जैसे कमलिनी को पीड़ित करता है अर्थात् चन्द्रोदय होते ही सारा संसार तो आनन्दित हो उठता है, पर कमलिनी कुम्हलाने लगती है, उसी तरह सकल जनानन्दकारी यह वसन्त का समय (कामपीडा के आधिक्य होने से) तुम्हें म्लान कर रहा है ॥ ८९ ॥

स्थाने तवानुरागोऽयमनङ्गस्यायमुत्सवः ।

सखि स्निह्यति निर्व्याजमिन्दावेव कुमद्वती ॥ ९० ॥

तुम्हारा यह कामानुराग उचित ही है । अर्थात् कामोद्दीपक समय होने के कारण और अति सुन्दर नायक होने से यह काम के उत्सव का समय है । हे सखी ! कुमुदिनी चन्द्र से स्नेह करती है तो यह उचित ही है ॥ ९० ॥

नृपस्यारण्यसञ्चारः शरेणानेन सूच्यते ।

मरुता द्विरदस्येव मदनिष्यन्दगन्धिना ॥ ९१ ॥

मद की सुगंध से युक्त वायु के चलने पर जिस भाँति वन में मदोन्मत्त हाथी के विचरण का अनुमान होता है, उसी भाँति इस वाण की प्राप्ति से यह अनुमान होता है कि वह राजा अवश्य इस वन में संचार कर रहा होगा ॥ ९१ ॥

अवश्यं तन्वि चिन्वाना वने हंसमितस्ततः ।

क्वचिद्विलोकयिष्यन्ति तं त्वत्परिजनस्त्रियः ॥ ९२ ॥

हे सुन्दरी ! वन में हंस को हूँदने के लिये गई हुई तुम्हारी दासियाँ अवश्य ही कहीं न कहीं उसे देखेंगी ही ॥ ९२ ॥

ज्ञातत्वदिङ्गितैवात्र तं चेद्द्रुच्यति पाटला ।

ततोऽस्य पट्पदस्येव वलाच्चेतो हरिष्यति ॥ ९३ ॥

तुम्हारे अभिप्रायों को जाननेवाली पाटला कहीं उसे देख पाएगी तो भ्रमर की भाँति अवश्य ही उसके चित्त का हरण कर लेगी ॥ ९३ ॥

स्थिरा भव नृपेण त्वामिह सयोगमाप्स्यसि ।

यथा कण्वाश्रमे पूर्वं दुःखत्वेन शकुन्तला ॥ ६४ ॥

तुम निश्चित रहो । जिस प्रकार कण्व के आश्रम में शकुन्तला का मिलन दुष्प्रसन्न के साथ हुआ था, उसी भाँति इस राजा से तुम्हारा मिलन भी अवश्य होगा ॥ ६४ ॥

इति तद्वचसः सीम्नि मसणोत्कम्पितस्तनी ।

व्याजसाचीवृतमुख निशङ्कास शशिप्रभा ॥ ६५ ॥

अपनी सखी के इस प्रकार के वचनों की समाप्ति पर मधुर भाव से कम्पित कुचवाली शशिप्रभा ने किसी बहाने से ही जरा सा मुँह घुमाकर एक दीर्घ श्वास लिया ।

विमर्श—कामाकुल दशा का एक परिचायक दीर्घ श्वास लेना भी है । पर उसके सामने ऐसी श्वास लेना ठीक नहीं प्रतीत होता, इसलिये राजकुमारी ने किसी बहाने मुख को जरा टेढ़ा घुमाकर दीर्घ श्वास लिया ॥ ६५ ॥

वनश्रीरत्नमञ्जीरो लताकुञ्जोदरे ततः ।

चुषूज मञ्जुकण्ठस्ता दक्षिणेन कपिञ्जल ॥ ६६ ॥

इसी समय वनदेवी के रत्नमञ्जीरों की सी ध्वनि करने वाला लताकुञ्ज में बैठा हुआ कपिञ्जल (पक्षी) दाहिनी ओर से मधुर कण्ठ से बूबने लगा ॥ ६६ ॥

इर्षाभलवकीर्णैः सत्पत्रात्रलिचारुणा ।

धामेन पस्फुरे तस्याश्चक्षुषा च मत्नेन च ॥ ६७ ॥

उन बारिचि दुओं से युक्त कमल की भाँति शशिप्रभा के नेत्र भी इर्ष के कारण अत्रिचिदुओं से (आँसुओं से) भर गये । और साथ ही साथ उसका आर्षा नेत्र और आर्षा कुच पड़कने लगा

विमर्श—शिर्यों का बाया त्रय पड़कना शुभ माना जाता है ॥ ६७ ॥

अत्रातरे समायाती दृष्टे दूरतन्तया ।

नरेद्रसवितुस्तस्य पुर सन्ध्येव पाटला ॥

इसी बीच सपोंदय क पूर्व जैसे उपा आती है, और उसके पोछे पीछे सूर्य आता है, वैसे ही राजा के आगे आगे चलने वाली पाटला को नागराज-पुत्री शशिप्रभा ने देखा ।

विमर्श—स ध्या का अर्थ यहाँ पर दो कालों के मिलने से है, जो प्रभात का सूचक है ॥ ६८ ॥

तस्यास्त्रये च त्रितयमपश्यत्फणिकयका ।

मुखे स्थित करे द्वार सितमंसे च चामरम् ॥ ६९ ॥

फिर शशप्रभा ने पाटला के मुख पर हास्य, हाथ में हार और कन्धे पर चैवर, इन तीनों वस्तुओं को देख उसे पहचान लिया ॥ ६६ ॥

सा द्वारहस्ता रुरुचे धृतस्तिमितचामरा ।

सरसी सुप्तहंसेव फेनाध्यासितपङ्कजा ॥ १०० ॥

चामर को कन्धे पर धारण करने वाली और हार को हाथ में धारण करने वाली पाटला ऐसी मालूम पड़ रही थी, मानो सोये हुए हंसों वाली ओर कमलों को अपने फेन से ढँकने वाली कोई छोटी तलैया हो ॥ १०० ॥

दृष्टिः फणीन्द्रदुहितुरतिक्रम्यैव पाटलाम् ।

भृङ्गश्रेणिरिवाशोके पपातावनिभर्तरि ॥ १०१ ॥

पाटला पर से हटकर उस राजपुत्री की दृष्टि राजा के ऊपर उठी तरह जा पड़ी, जैसे अशोक के वृक्ष पर भ्रमरों की पंक्ति जाती है ॥ १०१ ॥

प्रियं नः सोऽयमायाति पश्य पश्य शशिप्रभे ।

परमारान्वयोदारहारमध्यमणिर्नृपः ॥ १०२ ॥

देख ! देख ! शशिप्रभे हमारा अभीष्ट प्रिय यह राजा चला आ रहा है । यह परमार वंश में उत्पन्न हुआ है । परमारवंश ही मानो एक श्रेष्ठ हार है, उसमें यह मेरुमणि की तरह शोभायमान है ॥ १०२ ॥

‘सान्दानितकम्

इति प्रियसखीसूक्तिमुधानिप्यन्द्र लेखया ।

सिक्ते तदाभवत्तस्या स्मरः पल्लवितो हृदि ॥ १०३ ॥

सान्दानितकम्

प्रिय सखियों की इस प्रकार की अमृत के समान मधुर वाणी द्वारा सींचे

जाने पर उनके हृदय में स्थित कामदेव पल्लवित हो उठा ॥ १०३ ॥

गुधारस इवोर्वाभृत्तया सम्मुखमापतन् ।

दृशा स्फटिकशुक्त्यैव वारंवारमपीयत ॥ १०४ ॥

राजा जब उसके समीप आ गया तो वह अपनी स्फटिक की सीपियों सी विस्तृत आँखों से उसे बार-बार इस तरह देखने लगी, मानो अमृतरस-पान कर रही हो ॥ १०४ ॥

वितेनेऽप्यहिकन्याभिः कौतुकेनातनीयसा ।

तस्याग्रं राजहंसस्य नेत्रेन्दीवरवागुरा ॥ १०५ ॥

नागकन्याओं ने भी अत्यधिक कौतूहल से उस राजहंस के सामने अपने कमल के समान नेत्रों का जाल सा बिछा दिया । अर्थात् सभी नागकन्याएँ उसे बड़े चाव से एक साथ देखने लगीं ॥ १०५ ॥

१—सान्दानितकं त्रिभिरिष्यते—अर्थात् जहाँ तीन श्लोकों का अन्वय एक साथ हो, वहाँ सान्दानितक होता है ।

२—‘वागुरा मृगवन्धनी’—अमरकोश ।

अवतितिलकोदन्तमुपसृत्याथ पाटला ।

अनङ्गदोषन तस्यै जगादेष्टुगितवेदिनी ॥ १०६ ॥

शशिप्रभा के हस्तिनों को जाननेवाली पाटला ने नागराजपुत्री शशिप्रभा के पास जाकर राजा के बारे में सारा हाल उससे कहा, जिससे उसका प्रेमभाव राजा के प्रति और भी बढ़ गया ॥ १०६ ॥

देव पश्चात्स्वितोऽप्यग्रे प्राप्त पर्युत्सुको भवान् ।

इत्यभाष्यत भूपालश्चित्रे चतुरया तथा ॥ १०७ ॥

उस चतुर पाटला ने राजा के चित्र को देखकर कहा, हे देव ! मेरे पीछे रहने पर भी बड़े उत्कण्ठित होकर आप मुझसे पहले ही यहाँ आ गये ॥ १०७ ॥

अभून् पर्याकुला सा च मुहूर्तमसितेक्षणा ।

पश्चादलज्जतालीभिन्सया सस्मितमीक्षिता ॥ १०८ ॥

सुन्दर नेत्रों वाली वह थोड़ी देर बड़ी चकित सी होकर पुन पुन एकटक राजा को देखने लगी । और जब सन्धियों ने उसे हँसत हुए उस हालत में देख लिया, तब वह रुजा गयी ॥ १०८ ॥

तस्यै हार महीभर्तुरप्यामास पाटला ।

आट्टप्य मूर्तमानीतमतिशुद्धमिवारायम् ॥ १०९ ॥

राजा के पास से हार को खींचकर पाटला ने शशिप्रभा को दे दिया । ऐसा मालूम पड़ा, जैसे उसने राजा के हृदय के मूर्तिमान् शुद्ध भाव को ही शशिप्रभा को हस्तांतरित किया हो ॥ १०९ ॥

सखीनामनुरोवेन सा किलानङ्गमोहिता ।

हृदि दीर्घगुण दध्रे हार प्रियमिरापरम् ॥ ११० ॥

सखियों के आग्रह करने पर काममोहिता शशिप्रभा ने उस दीर्घ स्रजवाले हार को प्रिय के समान ही वक्षस्थल पर धारण किया अर्थात् अपने प्रिय का स्थान जिस तरह हृदय में किया जाता है, उसी तरह उस हार को हृदय पर धारण किया ॥ ११० ॥

तुषारपाण्डुना तेन ववृधेऽस्या मनोभन ।

दिगन्तत्रातज्योत्स्नेन महोद्धिरिवेदुना ॥ १११ ॥

खारी और क्रांति (ज्योत्स्ना) का विस्तार करने वाले चन्द्रमा के कारण जिस भाँति समुद्र का जल बढ़ जाता है, उसी भाँति चन्द्रमा की क्रांति के समान उज्ज्वल वर्ण वाले हार को धारण करने के कारण शशिप्रभा की काय-भावना भी बढ़ने लगी ।

विमर्श— पूर्णचंद्र को देखकर समुद्र में ज्वार-भाटा आता है, यह बात लोकविश्रुत है । हार को देख कर, जो अभी अभी प्रियकर के हाथ से उसे मिला था, शशिप्रभा के हृदय का कामोद्रेक भी बढ़ा ॥ १११ ॥

पुष्पोद्गमेनेव लता प्रसादेनेव भारती ।

सा तेन रेजे हारेण यशसेव नरेन्द्रता ॥ ११२ ॥

फूल खिलने से लता, प्रसाद गुण से वाणी और यश से राजत्व जैसे शोभायमान होता है, उसी तरह उस हार को धारण करने से शशिप्रभा ने भी वैसी ही शोभा धारण की ॥ ११२ ॥

ततश्शियलपर्यस्तविलोलकवरीलता ।

केतुयष्टिरिव श्यामपताकाङ्गा हिरण्मयी ॥ ११३ ॥

बैधी न होने से व्यस्त चेणी रूपी ध्वजा की यष्टि (छड़ी) के समान दुबली, अङ्ग पर श्यामचिह्न धारण करने वाली सोने के रंगवाली ।

विमर्श—शशिप्रभा के चाल खुले थे, वह फड़फड़ा रहे थे । उससे भंडे की छटा दीख रही थी । इधर उसके शरीर में वह हार होने से पताका का रंग श्याम अर्थात् हरा-धूपछा-सा था । वह सोने की केतुयष्टि चिह्नध्वज की तरह मालूम पड़ रही थी ॥ ११३ ॥

वसंतकमलोत्लासिमत्तभ्रमरनिःस्वना ।

दीयमानोपदेशेव स्वरहस्ये मनोभुवा ॥ ११४ ॥

वसन्त काल में विकसित कमलो पर बैठकर कलोल करने वाले अतएव मत्त भौरों की गुंजार के समान उसके मधुर शब्द थे । ऐसा लग रहा था, जैसे कामदेव उसे अपना रहस्य समझा रहा हो ॥ ११४ ॥

उल्लसत्कुटजाच्छाच्छविलासहसितच्छविः ।

झटित्युदधिवेलेव निर्गच्छदमृतच्छटा ॥ ११५ ॥

उसके मुखपर विकसित कुटज पुष्पों के समान मधुर हास्य खेल रहा था । वह ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे समुद्र की वह वेला हो, जिसके आसपास चन्द्रमा का उदय होने से अमृतमय वातावरण हो गया हो ॥ ११५ ॥

सरोजिनीव हंसीभिर्भृङ्गीभिरिव मालती ।

शशिलेखेव ताराभिस्सखीभिरभितो वृता ॥ ११६ ॥

हंसियों से सरोजिनी (कमलिनी) की भाँति, भ्रमरों से मालती लता की भाँति, ताराओं से युक्त चन्द्रकला की भाँति वह सखियों से चारों ओर से घिरी थी ॥ ११६ ॥

कुलक

दृष्ट्वा नरेन्द्रमायान्तमुदस्थादुत्सुकाऽथ सा ।

दधती नूतनप्रेमपरिणीतामधीरताम् ॥ ११७ ॥

कुलकम

नवीन प्रेम के कारण अधीरता को धारण करनेवाली शशिप्रभा उत्सुक होती हुई राजा को आता हुआ जानकर सहसा उठ खड़ी हुई ॥ ११७ ॥

अथ सुतनुरलोलतारके सा मुचिरमुदञ्चितदीर्घपद्ममाले ।

शशिन इव नरोद्गतस्य दूरात् अवनिपते पथि लोचने मुमोच ॥ ११८ ॥

उस सुन्दरी शशिप्रभा ने ऊपर को पलक उठाये हुए लोचनों से दूर तक राजा के मार्ग को एफटक देखा । राजा की शोभा ऐसी थी, जैसे अभी अभी उदित चन्द्रमा हो ॥ ११८ ॥

आस नानुचरधृतेन पङ्कजिन्या पत्रेण स्फुटघटितावपत्रलील ।

सच्छायायामथ सदसा हसन्दिमाशो हमापाल पुलिनमवाप नर्मदाया ॥ ११९ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूतो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहस्रक-

चरिते महाकाव्ये शशिप्रभादर्शनं नाम षष्ठं सर्गं ॥ ६ ॥

समीपवर्ती अनुचर (रमागद) के हाथ से पकड़े हुए कमलिनी के पत्ते की छाया में, जो छाते का काम कर रहा था, चलता हुआ चन्द्र के क्षेत्र से भी अधिक कांतिमान् वह राजा तब नर्मदा के तट पर पहुँचा ॥ ११९ ॥

श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्त रचित 'नवसाहस्रकचरित'

महाकाव्य का शशिप्रभा-दर्शन नामक छठा सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥



अथ सप्तमः सर्गः

शशिप्रभादर्शनम्

ततः स दूरादहिराजकन्यकां जवैकमित्रेण युतां पतन्त्रिणा ।
विशाम्पतिर्दीर्घगुणानुपद्भिणीम् अनङ्गकोदण्डलतामिवैक्षत ॥ १ ॥

शशिप्रभा का दर्शन

तब राजा ने दूर से ही, दीर्घ गुणवाली काम के धनुष की प्रत्यञ्चा के समान उस नागराजकन्या (शशिप्रभा) को देखा । उसके हाथ में एक तेज गतिवाला बाण भी था ॥ १ ॥

उपोढलावण्यतरङ्गभङ्गया सरागविम्बोष्ठगलत्प्रवालया ।

अहारि लोलं नृपतेस्तया बलात् अनङ्गरत्नाकरवेलया मनः ॥ २ ॥

वह सौंदर्य की भाव-भङ्गियों से युक्त थी । विम्बफल और मृगे के पत्ते के समान रक्तवर्ण के उसके अधर थे ! कामरूपी सागर की बिला के समान उसने बरबस राजा के चञ्चल मन को हर लिया ॥ २ ॥

रमाङ्गदकृतं शशिप्रभावर्णनम्

सविस्मयो लोचनमार्गमाप्तया तथा स पातालतलेन्दुलेखया ।

अथेत्यमन्तानमनोरथोद्गमो रमाङ्गदेनाभिदधे नराधिपः ॥ ३ ॥

रमाङ्गद द्वारा शशिप्रभा का वर्णन

पाताललोक की चन्द्रकलास्वरूप उस राजपुत्री को देखकर राजा आश्चर्यचकित हुआ । वह उसको प्राप्त करने के मनसूखे बांधने लगा । ऐसे उस राजा को रमाङ्गद ने कहा ॥ ३ ॥

अवैमि सैवेयममोघमायुधं मनोभुवः पन्नगराजकन्यका ।

उदंशुलेखेन मुखेन कुर्वती जगत् विलीनेन्दुविलोकनरपृहम् ॥ ४ ॥

मालूम होता है कि कामदेव का अमोघ अस्त्र बनी हुई नागराजकन्या शशिप्रभा यही है । जिसके मुखचन्द्र से सौंदर्य की किरणें निरन्तर निकल रही हैं । वस्तुतः यह प्राणिमात्र को चन्द्र के प्रति उदासीन बनाया करती है ।

विमर्श—अर्थात् नागराजकन्या ने अपने सौंदर्य से चन्द्र को भी हतप्रभ बना दिया है । लोग उसकी तरफ देखकर ही चन्द्रमा का काम चला लेते हैं ॥ ४ ॥

नरेन्द्र सत्यम् कुतूहली भवेद् अलौकिक रूपमवेक्षितु रते ।

इय न यस्यातिथिता गता दृशोरगाधलावण्यसरिन् मुमध्यमा ॥ ५ ॥

हे नरेन्द्र ! वास्तव में वही व्यक्ति रति (कामपति) के अलौकिक रूप को देखने के लिये उत्सुक बना रहेगा, जिसने इस कृशोदरी के सौंदर्य की सरिता को न देखा होगा । अर्थात् इसका सौंदर्य रति से भी बढ़कर है ॥ ५ ॥

इय सुधा मुग्धत्रिलासजन्मभूरिय मुजङ्गालयरत्नदीपिका ।

इय जगनेत्रचकोरचन्द्रिका पुर पताकेयमयुग्मपत्रिण ॥ ६ ॥

यह वह सुधा है, जो कि मोहक हावभावों की जननी है, यह रत्नदीपिका है, जो नागलोक को प्रकाशित किया करती है । यह वस्तुतः वह चाँदनी है, जो ससार के नेत्ररूपी चकोरों को तृप्त करती है । यह काम की अग्रपताका है ।

विमर्श—‘अयुग्मपत्रिण’—अयुग्म अर्थात् विपरीत है ‘पत्री’ बाने बाण जिसका, ऐसा कामदेव ॥ ६ ॥

इयत्तया मुक्तमवैमि नैपुण्य प्रजापतेरदभुतशिल्पकर्मणि ।

नृपोपमानामुपमानता गत विनिमित्त येन ही रत्नमौढराम् ॥ ७ ॥

यह सभी उपमानों की भी उपमान है, (अर्थात् इससे बढ़कर कोई नहीं) ऐसे इस लोकोत्तर रत्न को विधाता ने बनाया है । इससे मालूम पड़ता है कि वह अब निर्माण पाटव की सीमा से मुक्त हो गया है ॥ ७ ॥

इय तत्रानेन विराजतेवराम् करस्थितेनापनिपालपत्रिणा ।

उपेयुषा काञ्चनपद्ममशुना हिमेतराशोरि जल्लुकन्यका ॥ ८ ॥

हाथ में तुम्हारे बाण को धारण करने वाली यह अत्यधिक शोभा शालिनी हो रही है । स्वर्ण कमलों के पास थिरकने वाले सूर्य की किरणों से जिस प्रकार जल्लुकन्या गंगा नदी सुशोभित होती है, वैसे ही यह सुन्दरी भी इस बाण से सुशोभित हो रही है ॥ ८ ॥

अरालकेशीयमनेन भाति ते शरेण कार्तस्वरपुद्गराशिना ।

निसर्गगौरेण नरेन्द्ररश्मिना सकञ्जला दीपशितेय शरंरो ॥ ९ ॥

हे नरेन्द्र ! चमकते हुए स्वर्णफलवाले तुम्हारे राख से यह छुँपराले वालों वाली नागराजकन्या ऐसे सुशोभित हो रही है, जैसे स्वभाव से ही गौर वर्ण की रश्मि से रात्रि की कञ्जल युक्त दीपशिखा दीख पड़ती है ॥ ९ ॥

इय तिलासोमिनिमग्नशैशवं त्रिभाव्यमानस्तनकुटुमलोद्गमम् ।

मर्दन्विस्त्रम्भगृह विगाहते वयो विमस्ताङ्गमनङ्गदोहदम् ॥ १० ॥

इसका बचपन अब विलास की तरंगों में डूब रहा है । स्तनकुटुमलो (स्तनरूपी कलियों) का विकास होने लगा है । यह मन्दका जीडापह सी

वन गई है । वह उस यौवन-अवस्था में प्रवेश कर चुकी है, जब अंगों का विकास होने लगता है, वह वय अब काम के दोहद का कार्य कर रहा है ॥ १० ॥

इयं नताङ्गी जगदेकमुन्दरे निदेशिते पाटलया नृप त्वयि ।

दृशौ नवेन्द्रीवरपत्रपेशले विमुञ्चति श्रीरिव शार्ङ्गधन्वनि ॥ ११ ॥

पाटला ने जगत् में सर्वमुन्दर आप के बारे में इसे बता दिया है । तब से नवीन कमल के समान कान्तिमान आप पर यह उसी तरह दृष्टि गड़ाये हुए है, जैसे लक्ष्मी भगवान विष्णु पर ॥ ११ ॥

अनङ्गसाम्राज्यविलासचामरे वनानिलव्याकुलितेऽसचुम्बिनि ।

परिश्लथे संयमनार्थमेतया सलीलमस्तः कवरीभरे करः ॥ १२ ॥

काम के साम्राज्य में चँवर-धारण का काम करने वाली वन-वायु से हिल कर जो बंधों तक फैली हुई (कन्धों का चुम्बन कर रही) है ऐसी तथा दीली-दाली बनी हुई अपनी उस वेणी को बाँधने के लिये देखो, उसने वेणीभार में हाथ रखा है ॥ १२ ॥

विलोकयन्ती कुसुमं कचाग्रतश्च्युतं कुचस्पर्शधियेव वक्षसि ।

इयं कृशाङ्गी कुमुमास्त्रशङ्कया कृतप्रणामेव तवावलोकयते ॥ १३ ॥

मस्तक पर से फूल जो गिरे, सो मानो उसके कुचस्पर्श करने के लिए ही उन फूलों को देखने के बहाने वह जो मुझी है, वह वस्तुतः उसे काम का अस्त्र समझकर । ऐसी यह सुन्दरी तुम्हें प्रणाम करती हुई सी जान पड़ती है ॥ १३ ॥

विलोकयास्याः क्षितिपाल विभ्रतीं प्रदीपशोभां कवरी निशामुखे ।

अर्मी मुहुः कुङ्कुमकेसरारुणा लसन्ति सीमन्तमणेरमरीचयः ॥ १४ ॥

कुङ्कुम और केसर के समान लाल वर्ण वाली माँग पर लगी हुई मणि की किरणों की चमक तो बस देखते ही बनती है ! देखें ! हे नृप ! इसकी चमक से इसकी वेणी ऐसी शोभा पा रही है, मानो दीपशिखा से श्यामायमान रात्रि हो ॥ १४ ॥

विराजतेऽन्यास्तिलकोऽयमश्रितो विकुञ्चितभ्रूलतिकान्तरे नृप ।

विजित्य लोकाँस्त्रितयं दिवं प्रति स्मरेण वाणो धनुषीव संहितः ॥ १५ ॥

दोनों कुटिल माँहों के बीच लगा हुआ इसका तिलक ऐसा दिखाई दे रहा है, मानो दोनों लोकों को जीतकर काम ने तीमरे लोक को जीतने के लिये अपने धनुष पर वाण चढ़ा दिया हो ॥ १५ ॥

अपाङ्गसंवर्धितशोणकान्तिना मुकृष्णतारेण तुषारपाण्डुना !

इयं प्रवालासितरत्नमौक्तिकैर्विनिर्मितेनैव चकास्ति चक्षुषा ॥ १६ ॥

जिनके अपाङ्गों पर लालिमा चढ़ी हुई दिखाई देती है, जिनकी दोनों पुतलियाँ काली-काली मुन्दर लगा करती हैं और जिनमें हिम की शुभ्रता की

एक विचित्र शोभा रहा करती है, ऐसी आँखें देखने में ऐसी लगती हैं, जैसे वह प्रवाल, नीलम और मौक्तिक—इन तत्त्वों से बनी हों ॥ १६ ॥

इय पुरो निर्यतिदूरमायते कपोलत काञ्चनकुण्डलार्चिणि ।

इषु स्पेव प्रतिमोत्तमुद्यता मनोभुवे सुप्रशिलीमुखे हृदि ॥ १७ ॥

काञ्चन कुण्डलों से निकलती हुई काँति कपोलों पर पड़ती हुई ऐसी शान पड़ती है, मानो यह सुंदरी क्रुद्ध होकर बाण से हृदय भेदने वाले काम पर अपने बचाव के लिये बाण ही छोड़ रही हो ॥ १७ ॥

इय त्रियामापतिक्वत्पेशलम् विबुद्धजधूरुदलाधिकस्त्रिपा ।

बिभर्ति विन्धाधरमुद्रया मुख मनोभिराम रजनीय सन्ध्यया ॥ १८ ॥

चंद्रमा की प्रभा के समान मृदु, इसके सुंदर मुख पर दिकक्षित गुलदोप हरी के फूल की पखुडियों से भी अधिक लाल बिम्बोष्ठ ऐसा दिखाई दे रहा है, मानो संध्या से कुछ रात्रि विराजमान हो ॥ १८ ॥

उपोढतारापतितारहारयोरिय युगेन स्तनयोरिराजते ।

द्वयेन देवोपसि चक्रवाक्यो सरिद् गृहीतैकमृणालयोरिय ॥ १९ ॥

हे देव ! ताराओं के द्वार से शोभित चन्द्रमा के समान कुचों से यह शशिप्रभा इसी तरह शोभायमान है, जैसे प्रभात काल के समय चोंच में मृणाल-द्वय को धारण किये हुए दो चक्रवाकों से नदी शोभित होती है ॥ १९ ॥

सुरापगाबीचिविपाण्डुरेणते चिरेण द्वारश्चरितार्थता गत ।

धृत क्षितीश प्रणयार्द्रयाऽनया सलीलमुत्कम्पिनि यत्कुचद्वये ॥ २० ॥

मन्दाकिनी की लहरों के समान चञ्चल और तरल यह तुम्हारा द्वार भी आज सार्थक हो गया है, जो प्रेमपरिपूर्य होकर इस सुन्दरी ने उसे कम्पायमान कुचों पर धारण कर लिया है ॥ २० ॥

इय महीपाल विलोम्बितेन ते त्रिगाहते कात्तमिद् दशान्तरम् ।

भरत्यनाखुडयिकासविभ्रमा किमुद्गमे चन्द्रमस कुमुद्वती ॥ २१ ॥

हे नृप ! तुमने जरासे इसे देखा है, तबसे इसकी दशा ही कुछ बिचर हो गयी है । अर्थात् यह अत्यन्त मनोह दशा को प्राप्त हो गई है । भला चन्द्रमा के उदित होने पर भी कहां कुमुदिनी बिना खिले रह सकती है ॥ २१ ॥

किमयदुक्त मुधयेव साद्रया तदन्यथा नाथ न पाटलायच ।

स्फुटैयमस्याः पुरुते यदङ्गके बलात्परिप्यङ्गमनङ्गविक्रिया ॥ २२ ॥

अङ्ग प्रत्यङ्गों में काम किया अपना प्रभाव दिखा रही है, यह स्पष्ट ही है । इससे पाटला के अमृतमय वचनों में (मुझे) सत्यता मालूम होती है ॥ २२ ॥

शशिप्रभासमीपगमनम्

इतीक्षितज्ञे वदति प्रियंवदे रमाङ्गदेन स्मितमुद्गतस्मितः ।

अवाप पर्याप्तशशांकदर्शनः फणीन्द्रकन्यासविधं नराधिपः ॥ २३॥

शशिप्रभा के पास जाना

मनोगत भावों को जानने वाले राजा के प्रति रमाङ्गद के इस प्रकार कहने पर पूर्णचन्द्र की भाँति दिखाई देने वाला राजा नागराजकन्या शशि-प्रभा के पास पहुँचा ॥ २३ ॥

नायिकाचेष्टाः

उवाह लज्जानतमच्चितालकम् ततो भुजङ्गाधिपतेः सुता मुखम् ।

अवाञ्छितं किञ्चन मातरिश्वना सपट्पदं पद्ममिवारविन्दिनी ॥ २४ ॥

नायिका की चेष्टा

लज्जा के कारण शशिप्रभाने अपना मुख नीचे झुका लिया था, बाल नीचे झुका आये थे । इससे ऐसा मालूम पड़ता था कि वायु से कुछ नाचे झुके हुए तथा जिस पर भारी बैठे हों, ऐसे कमल को कमलिनी धारण कर रही हो ॥ २४ ॥

पतत्यधः कुङ्कुमपङ्कपाटले मयूखलेखापटले शिखामणोः ।

हृद्येव रक्तांशुकपल्लवस्तया विधातुमालेख्यनृपे न्यधीयत ॥ २५ ॥

सिर के मणि के कुङ्कुम के कारण लाल किरणों का प्रकाश-समूह जब नीचे की ओर (चित्रलिखित राजा पर) पड़ रहा था, तब मालूम होता था कि उसने मानो लज्जित होकर चित्रित राजा को रक्तांशुक से छिपा दिया हो ।

नृपस्य चित्रे मधुरेयमाकृतिर्न भिद्यते चन्द्रमसो यथाम्भसि ।

सखीजनस्तामिति नर्मपेशलः शनैस्त्रपानम्रमुखीमभापत ॥ २६ ॥

रतिक्रीडा सम्यन्धी हँसी-मजाक करने में तब सखियों ने लज्जानत उसको कहा कि तुम्हारी इस मधुर आकृति का प्रतिबिम्ब पानी में चन्द्रबिम्ब के समान न दिखाई पड़ेगा अर्थात् तुम्हारी छाया चित्र को न ढँक सकेगी ॥ २६ ॥

यथास्मि वक्तासि तथास्य भूपतेर्यदा पुनः कर्णसमीपमास्यसि ।

इतीव निर्व्याजमुदीर्य तत्यजे तयायतादया स नरेन्द्रसायकः ॥ २७ ॥

पुनः उस दीर्घलोचना ने यह कहते हुए राजा के बाण को राजा की ओर फेंका कि जब तू राजा के कान के पास जायगा, तब मेरी दशा का वर्णन कर देगा ॥ २७ ॥

अलं हृद्येवं समुपेक्ष्य गृह्यताम् अयं हि पाणिग्रहणोचितस्तव ।

इतीरयन्त्याः कुटिलं वचः करादनङ्गवत्याः कमलं जहार सा ॥ २८ ॥

“तुम इतना लजा क्यों रही हो ? जरा सोच-समझ कर उस बाण को फिर

से ग्रहण कर लो, क्योंकि वह तुम्हारे हाथ में शोभा पाता है”—अनङ्गवती के इस प्रकार व्यग्ररूप से मजाक करने पर शशिप्रभा ने शीघ्र ही उसके हाथ से कमल का फूल छीन लिया ।

विमर्श—पहली पंक्ति में श्लेष है, जिससे यह अर्थ भी निकलता है कि लज्जा मत करो, उसे छोड़ कर इस राजा को ग्रहण कर लो, क्योंकि यह तुम्हारे साथ पाणिग्रहण करने योग्य है ॥ २८ ॥

अथ स्वनिम्याधरपाटलच्छद करण तत्तत्सदृशेन निभ्रती ।

निपेक्षितु भूपतिमभ्युपागता रमेय राजीयमुखी ररान सा ॥ २९ ॥

अपने अधरोष्ठ की तरह लाल कान्ति वाले उस कमल का अपने कमलतुल्य हाथ में रख कर वह राजा के पास प्रणाम करने गई, उस समय वह कमलमुखी रमा (लक्ष्मी) की भाँति लग रही थी ॥ २९ ॥

दृशास्ततस्तत्परिहारयोपिता नेत्राञ्जनश्यामलपद्मराजय ।

शशिप्रभे भूमिपती सौतुङ्गा समापतन्कुन्द इरालिपद्वक्तय ॥ ३० ॥

चन्द्रमुन्दर राजा पर उसकी सलियों की नेत्र में लगाये हुए काजल के कारण कृष्णवर्ण की पलकों वाली दृष्टियाँ एक साथ ऐसी जा गिरी, मानो कुन्द पुष्प पर भ्रमर पंक्ति टूट पड़ी हो ॥ ३० ॥

नृपार्हणम्

निपीयमानस्य तया शनैश्शनैरपाङ्गसञ्चारितदीर्घनेत्रया ।

वपातपुष्प क्षितिभर्तुरर्हणा चकार तस्याश्चतुर सखीजन ॥ ३१ ॥

राजा का सम्मान

जब वह इन सलियों से धीरे धीरे राजा को देखने में तल्लीन थी, तब फूल आदि द्वारा उभरी सलियों ने राजा का सत्कार किया ॥ ३१ ॥

पुर शिरस्यादितममथाक्षया तया कटाक्षे कुटजैरिवाचिंत ।

नृप सपर्या पुनरुक्तसन्निदा म तद्वयस्यानिहिताममन्यत ॥ ३२ ॥

उसके पहले ही शशिप्रभा ने मानो काम की आशा को शिरोधार्य कर अपने कुटज पुष्प-स्वरूप कटाक्षों से ही राजा की पूजा कर दी थी । अतः उस समय राजा ने पुनः प्रेमपूर्वक की हुई सलियों की पूजा को फिर पुनरुक्ति ही समझा ॥ ३२ ॥

सरागन्तयुत्कलिकाभिराकुले मृदून्यल पाटलया समर्पिते ।

अथ न्यपीडन्नवपल्लवांसने फणी द्रुकन्यामनसीय पाथिय ॥ ३३ ॥

तब पाटला की दो हुई कलिकाओं से युक्त, कोमल नये पत्तों के आसन पर राजा वैसे ही बैठा, जैसे कि शशिप्रभा के उत्कण्ठित और प्रेमपूर्ण हृदय में बैठ चुका था ॥ ३३ ॥

अनुक्षितीशं नलिनीदलासने कयाचिदस्ते परिवारयोपिता ।

रमाङ्गदोऽप्यासनवन्धमाददे वमुन्धरायां विनयैकवन्धुरः ॥ ३४ ॥

विनयसम्पन्न रमाङ्गद भी राजा के बैठ जाने पर किसी सखी द्वारा दिये गये कमलिनी के पत्र के आसन पर पास ही आसन जमाकर बैठ गया ॥ ३४ ॥

श्रमानुरोधादुपविश्यतामितः क्षणं कृशाङ्गीति सखीभिरर्थिता ।

उपाविशद्वेपितग्रामनस्तनी ततस्समं तामिरद्वीन्द्रकन्यका ॥ ३५ ॥

“हे सखि ! तुम यकी हुई हो, अतः हे कृशाङ्गि, अब तुम भी इधर बैठ जाओ” ऐसा सखीजनों के कहने पर वह शशिप्रभा भी, जिसके टेढ़े स्तन काँप रहे थे, अपनी सहेलियों के साथ उनके सामने बैठ गई ॥ ३५ ॥

नायिकाविलसितानि

विधर्तयन्ती वदनेन्दुमण्डलं विशालनेत्रान्तनिपक्ततारकम् ।

द्वयेन साऽकृप्यत मुन्दरी समं ह्रिया नृपालोकनकौतुकेन च ॥ ३६ ॥

नायिका के हाव-भाव

अपने मुख को राजा की ओर से मोड़ने वाली, और बड़ी-बड़ी आँखों में ही अपनी दृष्टि को छिपाने वाली शशिप्रभा के मन को लज्जा और राजा को देखने की प्रबल इच्छा—दोनों ने एक साथ अपनी-अपनी ओर आकृष्ट किया ।

विमर्श—अर्थात् राजा की तरफ वह जब देखना चाहती, तब लज्जा उसे अपनी तरफ खींचने लगती, पर फिर तुरन्त राजा को देखने की उत्कट इच्छा अपना जोर करती, इस तरह वह एक ही समय दोनों ओर से खींची जाने लगी ॥ ३६ ॥

अथावतंसीकृतलोचनोत्पलं कपोलदोलायितरत्नकुण्डलम् ।

चिरं पर्षा स स्तिमितेन चक्षुषा तदाननं मालवमीनकेतनः ॥ ३७ ॥

दोनों कमलनयन जिस पर आभूषण रूप में शोभित हो रहे थे, तथा जहाँ पर कुण्डल लटक रहे थे, ऐसे शशिप्रभा के उस मुख को मालव देश के कामदेव स्वरूप वह राजा सतृष्ण नेत्रों से एकटक देर तक देखता रहा ॥ ३७ ॥

कृती दृशाऽस्याः मुदृशः पिवत्ययं कपोललावण्यमुषां नराधिपः ।

मिथस्सखीनामिति सस्मितं वचो निशम्य साभूद्विक्राधिकत्त्रपा ३८ ॥

“देखो, यह पुण्यात्मा (जौभाग्यशाली) इसके (नयनों से नयन मिलाकर) कपोलों के सौन्दर्यामृत का पान कर रहा है” इस प्रकार जब सखियाँ हँस-हँस कर आपस में बातें कर रही थीं, तब उनकी बातों को सुन कर वह बेचारी और अधिक लजित हो जाती ॥ ३८ ॥

मनागिवासादपवतितानना निरोद्धय त भूपतिमर्षितेक्षणम् ।

विहस्य लज्जामुकुले चकर्ष सा बलादपाङ्गप्रसूते विलोचने ॥ ३६ ॥

अपने कंधे की ओर बढ़ते वह देख रही थी, फिर जरा सा दृष्टि उठा कर उसने देखा तो राजा को अपनी ही ओर एकटक देखते पाया । तब हँस कर उसने अपने लजीले नेत्रों को बरबस ही दूसरी ओर फेर लिया ॥ ३६ ॥

यशोभटे रूपमनत्रिरासितु कृतस्मिते चित्रगत प्रशस्तति ।

करस्थित सा झटिति न्यवात्तत शिलातने तामरस प्रपायती ॥ ४० ॥

उसी समय जब रमागद हँसकर चित्रलिखित राजा के रूप की प्रशंसा करने लगा, तब लजाकर उसने अपने हाथ के कमल को उस शिला पर रख दिया (जिसपर राजा का चित्र बना था) ॥ ४० ॥

निकाममुक्त मुकुमारमङ्गना विलासिनस्तस्य जहार सा मन ।

स्मरैःश्रुती सहकारशायिनो लसन्मधायन्यभृतेष्व पल्लवम् ॥ ४१ ॥

यह उचित ही है कि उस कुमारी ने इस विलासी राजा का मन ऐसे ही हर लिया, जैसे काम की अवस्था कोकिला विकसित वसन्त में आम के पत्तों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है ।

विमर्श—वस्तुतः वसन्त ऋतु में आम के पत्ते खिलते हैं अपने आप, पर यहाँ कवि ने ऐसी उत्प्रेक्षा की है कि कोकिला को देखकर ही तथा उसके मधुर वृजन को सुनकर ही पत्ते खिल कर आम के पेड़ बौराते हैं ॥ ४१ ॥

तदीयमुद्दामरसोर्मिनिर्भर स राजहसोऽपि त्रिवेश मानसम् ।

कृतप्रवेशश्च सलीलमच्छिनन् मनाङ् मृणालीमिव धीरतामस ॥ ४२ ॥

उसके उद्दीप्त रसतरंगों से परिपूर्ण मानस (मानसरोवर) में वह राजा इस सहसा प्रविष्ट हो गया । और उसने उस मानस (मानसरोवर) में प्रविष्ट होकर उसकी धीरता रूपी मृणालनी की धीरे धीरे तोड़ दिया ॥ ४२ ॥

क्षणादपाङ्गस्तिमितायताक्षयो सङ्गमयो वण्टक्षिताङ्गलेखयो ।

अनापदन्योऽन्यनिःसृजमानयोस्तयो प्ररोह इदि घालमन्मथ ॥ ४३ ॥

दोनों एक दूसरे की तरफ कटाक्षों से देखने लगे, जिससे दोनों की आँखें स्तब्ध थीं, दोनों के शरीर में कंपकंपी होने लगी, शरीर में रोमाञ्च हो आये । दोनों ने एक-दूसरे के माँवों को जान लिया । उसी समय उनके हृदय में गालमन्मथ (कामदेव) ने अकुरित होना प्रारम्भ कर दिया ॥ ४३ ॥

नायकस्य नायिका प्रत्युक्तिः

असूययेनाथ निमुञ्चती दृश सखीषु सा सूत्रितनर्मसूक्तिषु ।

इति स्मितक्षालितदन्तवाससा नृपेण नागे द्रसुताऽभ्यधीयत ॥ ४४ ॥

नायक का नायिका के प्रति कथन

कुछ सखियाँ व्यंग्य करने लगीं, तब उन पर उसने कुछ ईर्ष्यालु दृष्टिपात किया। तभी मधुर हँसी हँसते हुए राजा ने उस नागराजकन्या से कहा ॥ ४४ ॥

वदानवद्याङ्गि सखीजनाहृतः किमेव नाम व्यतिरिच्यते जनः ।

विहाय विश्रम्भविशेषमेतया यदङ्गमन्तर्विशतीव लज्जया ॥ ४५ ॥

हे निर्दुष्ट सुन्दरि ! तुम्हारी सारी सखियों ने हमारा पर्याप्त आदर किया, पर तुम्हारे मन में हमारे विषय में दूजाभाव शायद है, क्योंकि इस लज्जा के कारण तुम्हारे सारे अंग-प्रत्यंग अपने आप में ही सिकुड़ते जा रहे हैं। और तुमने हमारा कोई विशेष सत्कार नहीं किया ॥ ४५ ॥

सदा सदाचारपरेतिवार्तया वयं हृताः पन्नगराजपुत्रि ते ।

अतः किमेवं प्रतिपत्तिमूढतां विगाहसेऽस्मानु विमुच्यतामियम् ॥ ४६ ॥

तुम सदैव सदाचार अर्थात् आतिथ्य आदि भलीभाँति करने के मार्ग पर चलने वाली हो, ऐसा तुम्हारे विषय में हमने सुना है, जिससे हम आकृष्ट हैं। लेकिन तुम हमारे विषय में इतनी लापरवाह क्यों बन रही हो ? इस लापरवाही को छोड़ो ॥ ४६ ॥

अनेन ते मुन्दरि दर्शनेन वा कृतोपचारोऽस्मि कियन् कदर्थ्यसे ।

न वीक्षते वल्गु न मञ्जु भापते गता कचिल्लोचनवर्त्म मालती ॥ ४७ ॥

हे सुन्दरी ! तुम्हारे दर्शन से ही वस्तुतः हमारा अतिथि-सत्कार हो गया है। तुम इतना कष्ट न करो। यदि मालती लता केवल दृष्टि में भी आ जाय तो उसके देखने से ही वृत्ति हो जाती है, वह न मधुर दृष्टि से देखती है, न बोलती ही है, फिर भी मन की वृत्ति हो जाती है ॥ ४७ ॥

अथःकृताः सत्यमधीरलोचने रसातलेन त्रिदिवस्य भूमयः ।

अनङ्ग दुर्वारशराधिदैवतं भवद्विधं रत्नमवाप्यतेऽत्र यन् ॥ ४८ ॥

हे कातर नयनों वाली ! काम के अमोघ वाणों की अधिष्ठात्री देवतास्वरूप तुम जैसी दिव्य रत्न-मणियों को उत्पन्न करनेवाले पाताललोक ने स्वर्गभूमियों को भी पराजित कर दिया, यह सत्य है ॥ ४८ ॥

कुनूहलाध्यासितमध्यलोक्या त्वया मुहुर्तं फणिलौककौमुदि ।

अयैमि पातालमवाप्तसन्धिना विलङ्घ्यते सन्तमसेन सम्प्रति ॥ ४९ ॥

हे नागलोक की चाँदनी ! तुम कौतूहल से अपना देश छोड़ कर इस मर्त्यलोक में आई हुई हो तो मैं समझता हूँ कि मौका पाकर इस समय पाताल-लोक को घोर अंधकार ने घेर लिया होगा। अर्थात् तुम्हारे यहाँ आ जाने पर वहाँ घोर अंधेरा छा गया होगा ॥ ४९ ॥

इदं मृणालादपि कोमल वपुस्तत्रैव दूरादरविदिनोपति ।

पुन पुन सस्पृशतीव कौतुकान् तमालगुल्मातरपातिभि करै ॥ ५० ॥

तुम्हारे कमलनाल से भी कोमल शरीर को तमालवृक्ष के गुच्छों के बीच से छनकर आने वाली अपनी किरण रूपी हाथों द्वारा यह सूर्य भी दूर से ही बार बार छू रहा है ॥ ५० ॥

अनेन ते सश्रमगारिन्निन्दुना नवीनपीयूषतुषारदन्तुर ।

शरीरमृद्वङ्घ्रि तुषारपाण्डुना कपोलम्वेन विहम्यते शशी ॥ ५१ ॥

हे शरीरघुण्य के समान कोमल अङ्गवाली ! पसीने की बूंदों से युक्त, हिम के समान श्वेत तुम्हारे दस बिम्बरूप कपोलों से नवीन अमृत की सी घबल कातिवाला चन्द्रमा भी लज्जित हो रहा है अर्थात् तुम्हारा कपोल चद्र स भी अधिक सुन्दर है ॥ ५१ ॥

इदं वदाशिलनैस्तत्र कुतस्तत्रैव मुग्धे सरलाङ्गिल कर ।

इहंतशालिरय शिलातले शनैरनेन लीलाकमल यदुज्जितम् ॥ ५२ ॥

हे मुग्धे ! यह बताओ कि सीधी अंगुलियाँ वाले तुम्हारे दस हाथ ने यह चालाकी कहाँ से सीखी ? क्योंकि पहले तो इस हाथ ने उस शिला पर यह चित्र बनाया, और फिर उसे इस कमल से ढँक लिया ! ॥ ५२ ॥

न चित्रमेव कश्चिदस्ति भूतले ममात्र तेनास्ति कुतूहल महम् ।

अत किमेतन् पिहित प्रकाशयताम् अहेतुरुन्तन्वि क एव मत्सर ॥ ५३ ॥

इस चित्र के समान भूतल पर और आकृति ही मुझे नहीं दिखाइ पड़ती, इसलिये मुझ बहुत कौतूहल हो रहा है । अत यह क्या छिपा रखा है, इसे तो खोलो ! हे तन्वि ! अकारण ही दस प्रकार छल करना (ढाँह करना) ठीक नहीं ॥ ५३ ॥

अदृश्यमेतद्यदि भयसे तत निमर्ष्यसे नित्वियदेव शस न ।

कृती त्ययाय भुजगाम्बरोकसाम् अलेखि चित्रे कतम कृशोदरि ॥ ५४ ॥

यदि तुम यह समझती हो कि यह किसीको नहीं दिखाया जा सकता, तो हमें दतना ही बता दो कि तुम क्या चाहती हो ! पाताललोक तथा स्वर्ग में रहने वालों में से वह भाग्यशाली मौन है ! हे कृशोदरी ! जिसका तुमने यह चित्र बनाया है ॥ ५४ ॥

लतेय सम्मीलितपटपन्थ्यना वियच्चिर निर्वचनैव तिष्ठसि ।

नश्चकोरासि विचित्य सूतृत ममोत्तर विश्वन दातुमर्हसि ॥ ५५ ॥

अपने में अमरों की ध्वनि को जिसने छिपा रखा है, ऐसी लता की भाँति तुम कब तक मौन रहोगी ! हे चकोरनयनी ! अच्छी तरह सोचकर मेरे वचनों का उत्तर तो तुम्हें देना ही चाहिए ॥ ५५ ॥

यथातिजिह्वे पि यथातिवेपसे यथा कपोले पुलकं बिभर्षि च ।

तथाऽत्र मन्ये तव पक्षपातवन्नितान्तमन्तःकरणं कृशोदरि ॥ ५६ ॥

जिस भाँति तुम अत्यन्त लजा रही हो, बहुत काँप रहो हो, और जैसे तुम्हारे गालों पर रोमाञ्च हो आये हैं, इस सबसे तो यही विदित होता है कि हे कृशोदरी ! तुम्हारा हृदय भी इसके प्रति पक्षपात रखता है अर्थात् तुम इस पर आसक्त जान पड़ती हो ॥ ५६ ॥

ह्रिये तवेयं यदि कल्पते कथा किमेतया नः प्रकृते यतामहे ।

यदर्थमेते वयमार्गताः स्वयं स नार्प्यते किं करभोरु सायकः ॥ ५७ ॥

हे करभोरु ! यदि यह सब बातें तुम्हें लज्जाशील ही बना रही हैं, तो जाने दो । हमारा इन बातों से क्या प्रयोजन ? हम अपने काम की बात कहें । अच्छा, तो हम लोग जिसके लिए आये हैं, क्या हमारा वह वाण हमें न दोगी ? ॥ ५७ ॥

सलीलमेवं व्रदति स्मितानने नृपे नवप्रेमरसार्द्रचेतसि ।

विवर्तयन्ती मणिकङ्कणं करं मुमोच मौनं न फणीन्द्रकन्यका ॥ ५८ ॥

अभिनव प्रेमरस से आर्द्र चित्तवाले हँसमुख राजा के ऐसा कहने पर भी अपने हाथ की चूड़ी को आगे-पीछे करती हुई शशिप्रभा ने मौन को न तोड़ा ॥ ५८ ॥

माल्यवतीवचनम्

तया तथा दृष्टमथान्तरान्तरा कटाक्षकान्तिःस्नपितावतंसया ।

इति स्मिताप्यायितदन्तदीधितिर्जगाद तं माल्यवती विशम्पतिम् ॥ ५९ ॥

माल्यवती के वचन

कटाक्षों की शोभा से शशिप्रभा के कन्धे सिक्त हो रहे थे, अर्थात् वह एकटक अपने कन्धों की तरफ ही देख रही थी, लेकिन बीच-बीच में राजा की तरफ भी देखती थी । उस राजा को माल्यवती ने मधुर हँसी से अपने दाँतों को चमकाते हुए यों कहा ॥ ५९ ॥

तवैतया सत्कृतिपात्र सत्कृतं स्वयं न यत् कल्पितमल्पमध्यया ।

न सोऽवलेपो न च सा प्रमादिता न च त्रपा तत्र नृपोऽपराध्यति ॥ ६० ॥

हे आदर के योग्य ! इस क्षीण कटि वाली ने जो स्वयं तुम्हारा सत्कार नहीं किया, तो इसमें न इसका गर्व ही कारण है और न लापरवाही । लज्जा भी इसका कारण नहीं । इसमें तो केवल तुम्हारा ही अपराध है ॥ ६० ॥

कृतीति वार्ता तव वेत्सि वाञ्छितं त्वमन्तरात्मेव न कस्य वा भुवि ।

अतस्सखीभावगतस्य गोपनं न युज्यते नस्त्वयि तन्निशम्यताम् ॥ ६१ ॥

हे सौभाग्यशाली ! तुम बहुत कुशल हो, यह बात तुम्हारे बारे में लोक में

विभ्रुत है, तुम अंतरात्मा की तरह किसीके मन की बात भलीभाँति नहीं जान सकते, अर्थात् तुमसे कोई बात छिप नहीं सकती । इसलिए अपनी सखी के मानों को छिपाना ठीक नहीं है । अतः तुम जो कुछ जानना चाहते हो, सुनो ॥ ६१ ॥

शिलीमुखेऽस्मिन् तव नामलान्छिते मृगोपनीते मृगशायलोचना ।

प्रमोदमाप्तेयमितो त्रिलोकिते करे चकोरीव तुषारदीधिते ॥ ६२ ॥

हिरण के शास्त्र की तरह नेत्रों वाली, वह सुन्दरी मृग द्वारा लाये हुए तुम्हारे नामांकित बाण को पाकर परम प्रसन्न हो गयी । उस बाण को हाथ पर लेकर हमारी सखी वैभेही देवती रही है, जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखती है ॥ ६२ ॥

क एष राजेति मुहुः कुनूहलादिय यदा पृष्ठवती सखीजनम् ।

अतस्तदाऽस्यै कथितम्सविस्तरमया त्वमुर्वीतलमीनलान्छन ॥ ६३ ॥

यह राजा कौन है ? जब इसने कई बार हम लोगों से उत्सुक होकर यह पूछा, तब मैंने विस्तारपूर्वक इस पृष्ठी के कामदेवरूप तुम्हारे विषय में सब कुछ उसे बताया ॥ ६३ ॥

करेण सासूयमपास्य कर्णसं कवणद्विरेफात्रलिनीलमुत्पलम् ।

तदैतयाभ्युदगतपक्षपातया धृता गुणाढ्यस्य बृहत्कथा तव ॥ ६४ ॥

तब ईष्यालु सी होकर भ्रमर पक्षि के गुबार से युक्त कमल को अपने कान से दूर हटाकर तुम्हारे प्रति आसक्त हुई इसने गुणों से युक्त तुम्हारी बृहत् कथा को उसी प्रकार सुना, जैसे गुणाढ्य कवि की 'बृहत्कथामञ्जरी' को लोग सुनते हैं । ६४ ॥

इमा त्वदाकारनिरूपणे सखीम् अवेत्य पर्युत्सुकलोचनामिव ।

ततो मया विशत्रिलोचनोत्सन्नस्त्वमेव चित्रे लिखितोऽसि पाथिव ॥ ६५ ॥

तुम्हारी आकृति को देखने के लिए उत्कण्ठित नेत्रोंवाली अपनी सखी को जानकर, तब हे नृप ! विश्व के लोचनों को आनन्द देनेवाले तुम्हारे (इस) चित्र को मैंने इस शिला पर बनाया ॥ ६५ ॥

तदञ्चितन्यायतरङ्मणा तव सखीसमञ्च निभृतेन चक्षुषा ।

चिर निपीत सत्प्रेम मुग्धया त्वमेतया मध्यमलोचनासत्र ॥ ६६ ॥

हे राजन् ! ऊपर को उठी हुई अतः फैली हुई पलकों वाले नेत्रों से इस (प्यासी) मुग्धा ने सखियों से आँख बचाकर तुम्हें रङ्गी देर तक आनन्द-पूर्वक देखा ॥ ६६ ॥

अतो वरोऽय युययो समागम कुमुद्वती-चन्द्रमसोरिवोचित ।

इय हि वालोच्छ्वसित मनोमुवस्त्वमत्र लोकत्रितयैकमुदर ॥ ६७ ॥

अतः (मैं समझती हूँ) कुसुदिनी और चन्द्रमा के संयोग के समान ही तुम दोनों का यह समागम भी अति सुन्दर हुआ है । यह तो साक्षात् काम के हलके श्वास के समान है, और तुम भी तीनों लोकों में एकमात्र सर्व-सुन्दर हो ॥ ६७ ॥

नृप ग्रहीतुं न यमत्र कोऽप्यलं मुरेषु वा पन्नगपुंगवेषु वा ।

स एव पङ्केरुहकर्णिकामृदुस्त्वयाऽशयोऽस्याः क्रियते सकौतुकः ॥ ६८ ॥

हे नृप ! देवताओं में या नागश्रेष्ठों में कोई भी जिसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ, तुमने उसके उसी कमल-केसर से भी कोमल भावना को कौतूहल से युक्त बना दिया है अर्थात् तुमने इसका हृदय जीत लिया है ॥ ६८ ॥

अयाचितोऽप्यर्पित एव ते शरः क्षितेरयं न्यायविदां वरैतया ।

तदेनमभ्यर्थयमे कथं पुनः कलत्रमेपाहि वमुन्धरा तव ॥ ६९ ॥

हे धरती के न्याय जानने वालों में श्रेष्ठ नृप ! उसने तुम्हारा वाग्व तो विन माँगे ही तुम्हें दे दिया है । फिर तुम बार-बार उसे क्यों माँगते हो । आखिर यह सारी पृथ्वी भी तो तुम्हारी पत्नी रूप है, इसके तुम स्वामी ही हो ॥ ६९ ॥

इतीतिवृत्तं तदुपाश्रयं तथा प्रकाशयन्ती पृथिवीपतिम्प्रति ।

छलादलीकभृकुटिं विधाय सा तयाऽऽलुलोकं फणिराजकन्यया ॥ ७० ॥

अपने सम्बन्ध की इस प्रकार की बातों को राजा से बताने वाली अपनी सखी 'को नागराजकन्या शशिप्रभा यो ही भाँहें तानकर (बनावटी क्रोध जलाती हुई नी) देखने लगी ॥ ७० ॥

अथ द्विरेफस्य मुखान्नपातिनो निवारणायोरगराजकन्यका ।

शिलातलान् सम्भ्रममीलितस्मृतिस्तदाशु लीलाशतपत्रमाददे ॥ ७१ ॥

इसी बीच मुखरुमल पर मँडराने वाले भँरि को हटाने के लिये अकस्मात् सब कुछ भुलाती हुई सी शशिप्रभा ने शीघ्र ही उस शिला पर रखे हुए लाल-कमल को उठा लिया ॥ ७१ ॥

ततस्स रोमाञ्चनिपीडिताङ्गदो रमाङ्गदं व्यक्तशशिप्रभेद्भितः ।

अपश्यदिन्दीवरदामदीर्घया प्रमोदविस्तारितया दृशा नृपः ॥ ७२ ॥

तब रोमाञ्च के कारण कसे हुए बाजूबन्द वाले और शशिप्रभा के संकेत को भली-भाँति समझने वाले राजा ने कमल के समान दीर्घ दृष्टि से रमांगद की ओर देखा ॥ ७२ ॥

रमाङ्गदवचनम्

समर्पिता पार्थिवपुष्पकेतुना तवेयमार्द्रप्रणया मनस्विनी ।

असीमसौन्दर्यसुधाविलासभूरुदन्वतेवेन्दुकला पिनाकिनः ॥ ७३ ॥

रमागद का कथन

समुद्र ने जिस प्रकार मगरान् शकर को चन्द्रकला अर्पित की, उसी तरह हे रावन् ! कामदेव ने ही मानो यह असीम सौन्दर्य स्त्री अमृत के विलास का उत्पत्ति स्थानभूत, नन अनुरागन्ती मनस्विनी तुम्हें दी है ॥ ७ ॥

किमयदत्रोत्ससित जगत्त्रये तत्रैव सौभाग्यपताकया नृप ।

यदागता मन्मथपत्त्रिणामिय शरज्यतामेवमपि श्रुते त्वयि ॥ ७४ ॥

तुम्हारी सौभाग्यरूपी पताका का तीनों लोकों में अर्थ जगह इससे बढ़कर और क्या उल्लास हो सकता है कि तुम्हारे बारे में सुनते ही यह (प्रैलोक्य-सुन्दरी) कामदेव के राशों का निशाना उन गई ।

त्रिमर्श—अर्थात् यह जो तुमपर आसक्त हुई है, इससे बटकर और तुम्हारे सौभाग्य का विषय क्या हो सकता है ॥ ७४ ॥

वधूदिलीपस्य सुदक्षिणा यथा यथा मुनन्दा भरतस्य भूपते ।

रघुद्रहस्याननिकयका यथा तथा तत्रैव विधिनापपादिता ॥ ७५ ॥

दिलीप के लिये सुदक्षिणा, राजा भरत के लिये मुनन्दा, और राम के लिये जानकी को जैसे विधाता ने बनाया था, वैसे ही इसे भी मानो विधाता ने तुम्हारे लिये ही बनाया है ॥ ७५ ॥

किमयदस्या कृतपाणिपीडन पद निधरसे गृहमेधिना धुरि ।

इति प्रसर्पस्मितचन्द्रिक शनैरभापतोर्गीतिलरु रमागद ॥ ७६ ॥

अधिक क्या कहूँ, इसके साथ पाणिग्रहण करके आप गृहस्थों में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त कर लेंगे । इस प्रकार चन्द्रकिरणों की भाँति अपनी हँसी को बिलेरते हुए रमागद ने राजा से कहा ॥ ७६ ॥

त्रिलोकित चित्रमलोकभापिणी भवत्सखीयं प्रतिभासते मम ।

उत्तीरितैव किल पार्थिवेन मा भूश ललज्जे निभृत जहास च ॥ ७७ ॥

इसके बाद चित्र देखकर राजा ने शशिप्रभा से कहा कि मैंने इस चित्र को देख लिया है । यह तुम्हारी सखी बड़ी भूठ गोलने वाली मालूम होती है । राजा के ऐसा कहने पर शशिप्रभा बहुत लज्जित हुई, परन्तु मुँह फेर कर चुपचाप हँसने लगी ॥ ७७ ॥

त्रिलोकयन्ती तमपाङ्गलोचना समुल्लसत्स्वेदलगाङ्घ्रिस्तनी ।

सतस्मुजावस्तनकास्तमोत्तिका लतेव सा हेममयी व्यकम्पत ॥ ७८ ॥

फिर वह इनस्थियों से राजा को देखने लगी । उसके स्तनों पर पसीने की बूँदें उभर आयीं, जिससे उनकी शोभा मनोहर थी । तब वह सुन्दर मोती के गुच्छों से ढकी हुई स्वर्णलता की भाँति काँपने लगी ॥ ७८ ॥

मुखे तवासक्तमिदं शशिप्रभे दृशावतंसागतयैतदीयया ।

सखीजनस्सस्मितमित्युवाच ताम् अवन्तिनाथं च मिथो रमाङ्गदः ॥ ७६ ॥

तब हँसती हुई उसकी सखियों ने उससे कहा—“हे शशिप्रभा ! तुम्हारे मुख पर राजा का मन आसक्त हो गया है ।” उसी समय रमांगद ने राजा से भी कहा कि “हे नृप ! उसकी दृष्टि तुम्हारे मुख पर लगी है ।” यह बात सखियों ने शशिप्रभा से और रमांगद ने राजा से एक साथ कही ॥ ७६ ॥

अत्रान्तरे क्षणित्ति चित्तमिवाच्छमम्भः

क्षोभं जगाम सरितस्तुहिनांशुसूतेः ।

वाति स्म च प्रसभभग्नतमाल-ताल-

हिन्ताल-साल-सरलः सहसा समीरः ॥ ८० ॥

इस प्रकार नवसाहसोंक राजा का निर्मल चित्त अकस्मात् ही लुब्ध हो उठा, जैसे चन्द्रमा को देखकर नदी का जल लुब्ध होकर उच्छाल मारने लगता है । और सहसा तमाल, ताल, हिन्ताल, साल, साखू के वृक्षों को उखाड़ देने वाली वायु भी चलने लगी ।

विमर्श—अर्थात् धैर्य और संयम का बाँध तोड़ने वाली विचारों की आँधी आ गई । दोनों एक-दूसरे पर आसक्त हो गये ॥ ८० ॥

पयोदोदयः

उदनमदथ तत्क्षणादुदञ्चन्-

कनकपिशङ्गतद्विहृतः पयोदः ।

अधरितमुरजध्वनीनि मुञ्चन्

विधुरितकर्णतलानि तर्जितानि ॥ ८१ ॥

वादल धिर आना

उसी समय स्वर्ण के समान कुल्ल पीली बिजली जिसमें से रह-रहकर कड़कती थी, ऐसा वादल आकाश में उदित हो गया । वह कान के पर्दों को अधिर कर देने वाली और मुरज से भी भयंकर घनघोर गर्जना करने लगा ।

विमर्श—यहाँ पर बिजली के पहले ‘पिशङ्ग’ का उल्लेख किया गया है, जिससे वर्षा की सूचना मिलती है । कहा भी गया है :

वाताय कपिला दिद्युत् आतपाय च लोहिनी ।

पीता दर्पाय विज्ञेया, दुर्भिन्नाय सिता भवेत् ॥ ८१ ॥

अथ समुदितत्रासा मेघस्वनाश्रनु भूपतेर-

भुजपरिघयोरन्तर्वाला प्रवेष्टुमियेप सा ।

किमसि चकिता मा त्व मैपीरितो भव लज्जया

वृत्तमिति च तामूचे देव साहसलाञ्छन ॥ ८२ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसुतो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ

नवसाहस्राक्षरिते महाकाव्ये शशिप्रमासंलापो

नाम सप्तम सर्ग ॥ ७ ॥

तब उस मेघ गर्जना को सुनकर डरी हुई शशिप्रमा राजा के बाहुरूपी परिष के आदर छिपने की इच्छा करने लगी । यह जानकर नवसाहसक राजा ने उससे कहा, तुम घबरा क्यों रही हो, डरो मत, इधर आ आओ, लज्जा श्याम हो ॥ ८२ ॥

श्री मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित

नवसाहस्राक्षरित महाकाव्य का 'शशिप्रमासंलाप'

नामक सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

अथाष्टमः सर्गः

अष्टम सर्ग

नायिका निरोधानम्

सापदेऽथ भुजगेन्द्रकन्यका स्वे पयोदपटलैस्तिरोहिते ।

नर्मदापुलिनवल्लवस्थिता हंसवद्वृत्तिरिव कम्पमाददे ॥ १ ॥

नायिका का छिपना

वह नागराजकन्या अकम्पना मेघों के समूह से आच्छादित नभ ने जड़ भयानक रूप धारण कर लिया, तब उसी तरह झंपने लगी, जैसे नर्मदा के किनारे पर स्थित पत्तों पर बैठी हुई राजहंसों की पंक्ति झंपती है ॥ १ ॥

स्पर्धयेव निचयः पयोमुखां तारमन्द्रमनदन् यथायथा ।

सा नरेन्द्रतिलकं तमैकं मुग्धलोलनयना तथा तथा ॥ २ ॥

आकाश में बादलों का समूह जैसे-जैसे मन्द और धीरे धीरे की गर्जना करने लगा, जैसे ही जैसे वह कातर नयनोंवाली शशिप्रभा राजेन्द्र (नवसाहसिक) को देखने लगी ॥ २ ॥

उल्लसन्वपराधरासं घ्रां च तां च सुमुखीं विलोकयन् ।

भूपतिः स नितराभमूढशो विस्मयस्य च मनोभवस्य च ॥ ३ ॥

नवीन मेघ जिसमें नैदर रहे थे, अतएव अलस अर्थात् स्तब्ध आकाश को और नवीन स्तन जिसके उल्लसित हो रहे थे, अतएव अलसायी हुई उस नायिका को जब राजा देखने लगा, उस समय वह विस्मय और क्राम के बारीकृत हो रहा था

विमर्श—अर्थात् जब मेघाच्छादित नभ को देखता, तब उसे झुनूहल होता, और जब पुष्प-स्तनों वाली नायिका को देखता, तब क्रामाधीन हो जाता । यहाँ श्लेष का चतुर्दश सराहनीय है ॥ ३ ॥

वामनत्वमलिनत्वमत्यजन् व्यञ्जितक्रम इव त्रिविक्रमः ।

क्रामति स्म सहसैव मेघभूर् अन्वकारनिकरः ॥ ४ ॥

दीर्घाकार और घोर भङ्गावात के साथ स्पष्ट रूप से मेघ अपना विस्तार वामन भगवान् विषदक्रम की भाँति बढ़ा रहा था और सहसा मेघों से उत्पन्न अन्वकार धीरे-धीरे आकाश और धरती को व्याप्त करने लगा ॥ ४ ॥

नेत्ररोधिनि तयोर्न केवलं मूर्च्छिते तमसि वैशसं हृदि ।

यावदास्यविगलद्विसाङ्करे चक्रवाकमिथुनेऽप्यजृम्भत ॥ ५ ॥

राजा और शशिप्रभा के नेत्रों की शक्ति को रोकने वाले और हृदय में व्याप्त होने वाले अधकार से उनके हृदयों में ही निराशा न हुई, अपितु कमल-वन में चलने वाले चकवा चकवों के हृदय में भी (रात्रि की आशका से) निराशा व्याप्त हो गई ॥ ५ ॥

कर्णभूषणमणिप्रभालवै स्तोकरलक्षितकपोलपत्रया ।

कृष्यमाणनयनोऽथ पिप्रिये पन्नगेन्द्रसुतया तथा नृप ॥ ६ ॥

ऐसे समय में अपने कनपूलों के मणियाँ की प्रभा में चमकते हुए कपोलों वाली शशिप्रभा ने अपनी ओर आकृष्ट नेत्रों वाले राजा के सौंदर्य को एक बार फिर सतृष्ण नयनों से देखा ॥ ६ ॥

निमरा—घोर अधकार छाया हुआ था। पर शशिप्रभा के कर्णपूल में लगे हुए मणियाँ की किरणें उसके कपोल पर पड़ रही थीं, अतः वह अश्वराज को साफ दिखाई पड़ रहा था। राजा उसे एकाम्र चित्त से देख रहा था और शशिप्रभा भी सतृष्ण नयनों से उसे देख रही थी ॥ ६ ॥

तेजसि स्फुरति ताडिते मुहूर्त् विभ्यती कनकभङ्गपिङ्गले ।

त हृदि स्थितमिवेश्मोक्षितु साऽपि मीलितमिलोचनाऽभवत् ॥ ७ ॥

स्थण की कान्ति के समान चमकती हुई पीली बिजली के प्रकाश से भयभीत होती हुई वह (राजा को न देखकर) आँखें बन्द करके अपने हृदय में स्थित राजा को देखने लगी

निमरा—घोने के ग्वण्ट को तोड़ने से उसके अन्दर के भाग की कान्ति अत्यन्त पीत वर्ण की होती है, उस कान्ति के समान बिजली जार कड़कती थी, तब नायिका की आँखें चौंधियाकर बन्द हो जाती थीं। इस पर कवि उद्घेष्ठा करता है कि वह अपने प्रियतम को हृदयस्थित देखने के लिये ही मानी आँखें बन्द कर रही हो। क्योंकि बिना चित्त की एकाम्रता के अन्दर स्थित मूर्ति कैसे देखेगी और आँखें बन्द करना चित्त में एकाम्रता लाने का ही एक साधन माना गया है ॥ ७ ॥

आकाशवाणी

एष ते न घटते मनोरथ पाथिवाहिपतिकन्यकम्प्रति ।

गच्छ विन्ध्यविपिनान्तदृष्ट्या वञ्चितोसि मृगतृष्णयैतया ॥ ८ ॥

आकाशवाणी

फिर आकाशवाणी राजा को सुनाई दी कि—हे राजन् ! नागराजकन्या के प्रति जो तुम्हारा मनोरथ है, अर्थात् उसे पाने का जो तुम अभिलाष लाया है, वह पूर्ण न हो सकेगा, तुम छोट जाओ। विन्ध्याकन्य के इस वन में इस (शशिप्रभा रूपी) मृगतृष्णा से तुम छले गये हो ॥ ८ ॥

साहसोदधिविलोदने स्वयं यौसमंसलतयार्पयिष्यति ।

श्रीरिवोरसि मुरद्विपः पदम् तस्य निश्चितमियं विधास्यति ॥ ९ ॥

कन्धे से कन्धा लगाकर घोर परिश्रम करके जो साहस रूपी समुद्र को मय सकेगा, यह उसी के हृदय पर विष्णु के हृदय पर लक्ष्मी की भांति विराजित हो सकेगी । इसकी प्राप्ति के लिये साहस-समुद्र के मन्यन जैसा घोर परिश्रम करना पड़ेगा ॥ ९ ॥

पश्य पश्य चपलेयमन्तिकान् नीयते तव यथोचितं कुरु ।

एवमेव यदियं न लभ्यते जानकीव जनकप्रतिज्ञया ॥ १० ॥

देखो देखो, तुम्हारे पास से इसे कोई लिये जा रहा है । अब तुम जो कुछ कर सकते हो, करो । जनक की प्रतिज्ञा के समान यह यों ही जानकी की भांति नहीं मिल सकती ।

विमर्श—अर्थात् जनक की प्रतिज्ञा पूर्ण किये बिना जैसे जानकी किसी को नहीं मिल सकती थी, वैसे ही यह भी बिना घोर परिश्रम किये तुम्हें नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १० ॥

कन्यकासि किमिदं शशिप्रभे युक्त्मेहि पितुरन्तिकं व्रज ।

इत्यविग्रहवती नभस्त्वलान् उल्लास सहसा सरस्वती ॥ ११ ॥

हे शशिप्रभा ! तुम नागराजकन्या कुमारी हो, तुम यह क्या कर रही हो, अब तुम अपने पिता के पास वापस लौट जाओ । यही तुम्हारे लिए उचित है । इस प्रकार आकाश से एक अत्यन्त संचित सी बाणी निकली ॥ ११ ॥

तां निशम्य स निकामविस्मितः साचिकार्मुकलतामलोकत ।

इन्दुमौलिगलकन्दलासितं तत्क्षणञ्च तिमिरं न्यवर्तत ॥ १२ ॥

इस बाणी को सुनकर राजा बहुत विस्मित हो गया । और उसने अपने क्रमानदार धनुष की डोरी की ओर देखा । उसी समय भगवान् शंकर के गले के पास के कण्ठ के समान कृष्ण वर्ण अन्धकार भी दूर हो गया । भगवान् शंकर का कण्ठ विषपान के कारण काला है, यह लोकविश्रुत है ॥ १२ ॥

साऽचिरांशुतपनीयमेखला शक्रचापमणिकुण्डला ततः ।

क्वापि मुद्रितमयूरताण्डवा संहतिर्जलमुचां तिरोदधे ॥ १३ ॥

फिर सूर्य की किरणों जिसकी मेखला थी, इन्द्रधनुष जिसके कुण्डल थे, ऐसी मेघपङ्क्ति भी नष्ट हो गयी, इससे जगह-जगह नाचनेवाले मयूरों ने अपना नृत्य बन्द कर दिया ॥ १३ ॥

सा पुरातनपथेन पावनी सोमसूतिरपि निम्नगाऽवहन् ।

स्वाद्युनिर्मलरसोर्मिनिर्भरा भारतीव मसृणं महाकवेः ॥ १४ ॥

उस समय नर्मदा में भी चलबुद्धि हो गई थी, पर फिर मेघमाला के विलीन होने पर वह भी अपने पूर्वरूप में बहने लगी। उसकी शोभा ऐसी थी, जैसे मधुर, निर्मल रसतरङ्गों से युक्त महाकवि की सुंदर वाणी हो ॥ १४ ॥

श्रव्यपाटुतरय स नर्मदा वीचिलास्यरचनाकुतूहली ।

आवधौ शम्भुराजयोपिता नर्तितालरुलतस्ममीरण ॥ १५ ॥

नर्मदा की तरंगों में नृत्य उत्पन्न करने में चतुर वेगविहीन मन्दपवन बहने लगा। जिससे भिल्लराज की स्त्रियों के केश त्रिलो हो रहे थे ॥ १५ ॥

इत्यकालजलदादिवैदृते केनचिद्विरचिते गते शम्भम् ।

भूपते शशिशुखी सखीयुक्ता नेत्रनिःपयतामवाप सा ॥ १६ ॥

इस प्रकार अकाल ही गदगद स्त्री ऐसे सङ्कट के शान्त होने पर जब राजा ने सामन देखा तो अपनी सखियों सहित वह शशिशुखी राजा के नेत्रों से दूर हो चुकी थी ॥ १६ ॥

क्यापि नूनमपहत्य तन्मनो नागराजदुहिता जगाम सा ।

हृत्पलस्य सरस लसत्स्पृहा चक्रवाक्यनितेव केसरम् ॥ १७ ॥

नागराजक या स्वयं तो चली ही गयी, साथ साथ राजा का मन भी हरती गयी। जिस तरह अत्यन्त उत्सुक चकवी (दिनान्त पर) कमल के सरस केसर (पराग) को लेकर विलुप्त हो जाती है ॥ १७ ॥

अमृत कृतपयोधरश्रिया धौतवत्प्रतपनीयमान्तया ।

विद्युतेज सदृशा तयाऽऽकुलम् सोऽभ्यञ्जदिति दृष्टनष्टया ॥ १८ ॥

फिर स्तनों से जिसकी शोभा बढ़ रही थी, और सुद्ध तपाये हुए सोने की कान्ति के समान पीली बिजली जैसी उस शशिप्रभा के अतर्धान होने पर राजा तत्काल अत्यधिक व्याकुल हो गया ॥ १८ ॥

त्रिमर्श—विद्युत् पक्ष में 'पयोधरश्रिया' का अर्थ होगा—मेघों से जिसकी शोभा बढ़ रही थी, ऐसी।

सा पुरो मम हृतेति लज्जया चित्तया किमिव सा चरेदिति ।

सा पुनर्न सुलभेत्यसौ शुचा तप्यते स्म तिसृभिः क्षितीश्वर ॥ १९ ॥

प्रथम—वह मेरे सामने ही हरी गयी, इसके कारण लज्जा से, द्वितीय—अब वह क्या करेगी अर्थात् कहाँ होगी, इस चिन्ता से, और तृतीय—वह अब मुझसे न मिल सकेगी—इन तीन प्रकार के शोको से राजा तप रहा था। उसे व्याकुलता हो रही थी ॥ १९ ॥

१ स्वर्ण सुवर्ण कनक हिरण्य हेम हारकम् ।

तपनीय शतकुम्भ गाङ्गेय मर्म कबुरम्—अमरकोश ।

तस्य तापजननेन मानसं तेन बालविरहेण विव्यथे ।

केतकच्छदकदर्थने परं यत् कणोऽपि शिशिरः प्रगल्भते ॥ २० ॥

केवड़े के पत्तों को बिगाड़ने में जिस प्रकार थोड़ा सा भी हिम समर्थ हो जाता है, उसी भाँति उस तापदायक थोड़े भी विरह ने राजा के मन को व्यथित कर दिया ॥ २० ॥

जित्वरं जगति पुण्यकेतुना तद्विकृष्य तरसा शरासनम् ।

ताड्यते स्म हृदये पतत्रिणा सोऽथ मालवकुरङ्गलाञ्छनः ॥ २१ ॥

उस समय कामदेव भी अपने जगत्विजया धनुष को चढ़ाकर बाण से बलपूर्वक मालवराज नवसाहसांक के हृदय को वेधने लगा ॥ २१ ॥

लज्जया बलितकण्ठकन्दलं लोचनाञ्चलमिलद्वतंसकम् ।

तस्य वर्तितमित्राभवत्तदा तन्प्रियावदनमुन्नसं हृदि ॥ २२ ॥

लज्जा से सिर झुकाने के कारण ग्रीवा तथा कण्ठ नीचे झुक गया था, अतएव आँखों के ऊपरी भाग तक जिसका शिरोभूषण लटक रहा था, ऐसा शशिप्रभा का मुख बार-बार राजा के मन पर अपनी स्मृति का गहरा प्रभाव डालने लगा । अर्थात् उससे उसके उस कमनीय मुख की बार-बार याद आने लगी ॥ २२ ॥

म्लानिमाप स तया विना नृपस् तत्र पन्नगपतेस्तनूजया ।

स्वां रुचि नहि कदाचिदश्नुते शर्वरी विरहधूसरः शशी ॥ २३ ॥

उस नागराजकन्या के विना राजा अत्यन्त म्लान अर्थात् तेजोविहीन हो गया । रात्रि के वियोग में फीका पड़ा हुआ चन्द्रमा अपनी शोभा से ही हीन हो जाता है । अर्थात् जिस भाँति रात्रि के वियोग में चन्द्रमा कान्तिहीन हो जाता है, राजा भी शशिप्रभा के वियोग में म्लानवदन हो गया ॥ २३ ॥

पाण्डुपद्मलदृशः परिच्युतं सोऽथ माल्यशकलं व्यलोकत ।

तादृशि व्यतिकरे विनिर्गतं हासलेशमिव पुष्पधन्वनः ॥ २४ ॥

फिर राजा ने घनी पलकों वाली दृष्टि से युक्त उस शशिप्रभा के शरीर से गिरे हुए एक माला के टुकड़े को देखा, जो उस गड़गड़ी को देख मुख से निकली हुई काम की हँसी के समान मालूम पड़ रहा था ॥ २४ ॥

शंसदुज्ज्वलकपोल-सद्गतं कुङ्कुमेन दलकोटिचुम्बिना ।

सम्भ्रमेण गलितं नतभ्रुवः कर्णतामरसमाददेऽथ सः ॥ २५ ॥

उज्ज्वल कान्ति वाले कपोलों के साथ अपने संपर्क का सूचक तथा जिसके अग्रभाग पर कुङ्कुम लगा हुआ था, और जो जलदवाजी के कारण कान से गिर गया था, ऐसे शशिप्रभा के कान के कमल को राजा ने हाथ से उठा लिया ॥ २५ ॥

कार्मुके मति शरेषु मत्स्वपि प्रेयसी तत्र हत्वान्तिकादिति ।

तेन सौरभट्टतालनि स्वनैर् वाच्यतेव नृपतेर्व्यधीयत ॥ २६ ॥

तुम्हारे पास धनुष और अनेक राण होने पर भी तुम्हारी प्रेयसी तुम्हारे सामने ही हर ली गई । इस प्रकार मकरन्द पान करने वाले भ्रमरों की ध्वनि ने मानो राजा की निन्दा की की ॥ २६ ॥

कोष्णनि श्वसितपेपितच्छद तन्निवेश्य वदने स सादर ।

अर्धमीलितत्रिलोचनोत्पल पुस्तकल्पित इवाभवत् क्षणम् ॥ २७ ॥

बुछ-बुछ गरम श्वासों से जिसके पत्ते काँप रहे थे, ऐसे उस कमल की राजा ने प्रेम से अपने मुख पर रखा । इससे उसकी आधी आँखें कमल से ढँक गयीं । वह इस प्रकार ध्यानावस्थित था कि क्षणभर के लिए ऐसा लगा कि वह मिट्टी का पुतला तो नहीं है । ॥ २७ ॥

नर्मणोमिलुलिते तदशुके पल्लवालिपितदसहारिणि ।

आहतस्तनत्रिलेपने दशा सोऽदृत्त प्रसयमिदुपाण्डुनि ॥ २८ ॥

नर्मदा की तरंगों के समान चञ्चल, बिजारे पर बने हुए हसों की शोभा से मन हरने वाले, और स्तनों पर लग हुए कस्तूरिकादि लेप से शुक्ल, शशि प्रभा के वस्त्र की ओर राजा का ध्यान गया अर्थात् उसने उधर झट्टि की ॥ २८ ॥

मा त्रिपीड नयसाहसाङ्क ते कान्तया गतमनेन वर्त्मना ।

पश्य तत्पदमितीय रेवया तस्य सारसरुनैरसून्यत ॥ २९ ॥

उस समय रवा के तटवृत्ता सारसों ने टाटव घँघाते हुए राजा से मानो यह कहा कि—हे नयसाहसक ! दु ख मत करो । तुम्हारी प्रिया इसी रास्ते न गई है । उसके पदचिह्न भी यहाँ बने हैं, इधर देखो ॥ २९ ॥

किं निमग्नमिह बालया तया भीतया भुजगराजकन्यया ।

नैयमत्र नियत रसातन त्रिधत्ते त्रिरमित्यवर्त्यन् ॥ ३० ॥

पास ही एक विशाल तिल देखकर राजा ने अनुमान लगाया कि क्या वह मयमीत पाण्डशी नागराजकन्या इस तिल में चली गयी । इसी रास्ते निश्चित हो पाताललोक चली गई होगी ॥ ३० ॥

मोऽतिमात्रमहनेऽपि रहसा पाथिय पतितुमैच्छदम्भसि ।

जीवित नृणमित्रावनानते साहसव्यसनिनोऽपि तादृशा ॥ ३१ ॥

१ पुस्तं लेख्यादिकर्मणि—अमरकोश । मिट्टी आदि के द्वारा पुतला तैयार करन का काम की पुस्त कहते हैं ।

तत्र राजा जोश में आकर अत्यन्त गहरे नदी के उस पानी में वेग से गिरने की इच्छा करने लगा । टीक भी है, दृढ साहस वाले ऐसे व्यक्ति अपने प्राणों को तिनके की भाँति नगण्य समझते हैं ॥ ३१ ॥

तत् समीहितमवन्तिवासवस्तस्य नावददुपान्तवर्तिनः ।

एष विघ्नमिह साहसोत्सवे कल्पयिष्यति ममेति शङ्कितः ॥ ३२ ॥

अवन्तिनाथ ने अपनी इस इच्छा को अपने समीपवर्ती रमांगद से नहीं कहा । क्योंकि उसने सोचा कि यह मेरे इस साहसिक कार्य में बाधक हो जायगा ॥ ३२ ॥

उज्झति स्म स शनैः समुच्छ्वसन् पल्लवासनमुपास्यशासनः ।

अग्रहीच्च सशरं करेण तत् व्यक्तराजककुदेन कार्मुकम् ॥ ३३ ॥

प्रशंसनीयशासनवाला वह राजा गहरी श्वास लेता हुआ धीरे-धीरे अपने उस पल्लवासन को छोड़ने लगा । और जिसके कंधे का पुष्ट भाग स्पष्ट हो रहा था, ऐसे हाथ से उसने धनुष-बाण को उठा लिया ॥ ३३ ॥

पन्नगेन्द्रद्रुहितुः करेण यः सख्यमापदरविन्दवन्धुना ।

अर्पितं प्रणयिना तमप्यसौ सायकं वनकपुङ्गमाददे ॥ ३४ ॥

नागराजपुत्री के कमल के समान कोमल हाथ की मित्रता जिसने प्राप्त कर ली थी (और फिर उस प्रेमी हाथ से जो अलग हो चुका था), ऐसे उस स्वर्णफलक वाले बाण को भी राजा ने उठा लिया ॥ ३४ ॥

सुभ्रुवः स्मरविलासदेशिकं तं शशंस सशरं पतत्रिपु ।

पीतशीतकरमूर्तितानवं भानुमानिव मयूखमंशुपु ॥ ३५ ॥

अपने सब बाणों में राजा ने शशिप्रभा के काम-भावों को व्यक्त करने वाले उस बाण की प्रशंसा उसी भाँति की, जैसे सूर्य प्रातःकाल में फीके पड़े चन्द्रमा का आस्वाद लेनेवाली अपनी अनेक किरणों में से एक किरण की प्रशंसा करता है ॥ ३५ ॥

व्यक्ततच्चरणलदमणा ततः स्वरतकेशकुसुमाकुलालिना ।

मेघसिक्तसिकतेन वर्त्मना नर्मदाजलसमीपमाप सः ॥ ३६ ॥

शशिप्रभा के वालों से गिरे हुए फूलों पर भौरे जहाँ मँडरा रहे थे, और मेघ द्वारा बालू भिगी दी गयी थी, जिससे नायिका के पदचिह्न उसपर साफ दिखाई पड़ रहे थे, ऐसे मार्ग से होते हुए सिन्धुराज नर्मदा के जल के समीप पहुँचा ॥ ३६ ॥

एष जातु न विकथ्यते क्वचित् लक्ष्यतेऽस्य फलतः सदा क्रिया ।

तत् करिष्यति किमत्र साहसं चेतसीति विदधे रमाङ्गदः ॥ ३७ ॥

यह देखकर रमांगद ने अपने मन में सोचा कि यह राजा कभी किसी बात को पहले तो बताता नहीं । इसका विचार तभी व्यक्त होता है, जब वह

कार्यरूप में परिणत हो जाता है । पता नहीं, इस समय यह कौन-सा साहस का कार्य सोच रहा होगा ॥ ३७ ॥

नर्मदाप्रवेश.

अक्षिपत्तटशिलाप्रिटद्धत पार्थिव स्वमथ नर्मदाग्भसि ।

पारिधे पयसि त्रिशदीपक सायमद्रिशिरादिवार्यमा ॥ ३८ ॥

राजा का नर्मदा में प्रवेश करना

पुन नर्मदा के तटवर्ती शिला के मुँहरे पर से राजा ने नर्मदा के पानी में छद्माग मार दी । वह ऐसे ही उसमें गिरा, जिस प्रकार चोटियों से उतर कर सायकाल में सूर्य समुद्र में कूद पड़ता है ॥ ३८ ॥

तत्र मीनमकराकुले पतन् आससाद् स बिलासमीश्वर ।

यामुनाग्भसि निपातिन पुरा गोपतामुपगतम्य शङ्गिण ॥ ३९ ॥

उस मीन और मकड़ों से परिपूर्ण नदी के जल में कूदने पर राजा ने वही शोभा प्राप्त की, जो ग्वाले का रूप धारण करने वाले (कृष्ण रूप में) भगवान् विष्णु ने यमुना के जल में कूदने पर प्राप्त की थी ॥ ३९ ॥

अग्भसस्तद्वपातताहिताम् उर्ध्वमेत्य निपतत्सु त्रिन्दुपु ।

साहसेन परितोशितैस्मुरैर् मौक्तिकार्घ्यमित्र तम्य चित्तिपे ॥ ४० ॥

राजा के कूदने से उछले हुए जल से अनगिनत बूँदें ऊपर उठीं, ऐसा मालूम पडा मानो राजा के साहस से प्रवृत्त और सतृप्त हुए देवताओं ने उसके ऊपर मोती रसाये हों ॥ ४० ॥

किञ्चिदन्तरितमूमिमि क्षणाद् अन्धगच्छदथ त रमाङ्गद ।

येन यात्यरुणसारथि पथा वासरस्तमगल्गते न किम् ॥ ४१ ॥

नर्मदा की तरंगों से छिपे हुए उस राजा का अनुसरण रमाङ्गद ने तत्काल किया । यह उक्ति ही था, क्योंकि जिस मार्ग से सूर्य जाता है, क्या दिन उसका अनुसरण नहीं करता अर्थात् अवश्य ही करता है ॥ ४१ ॥

कस्तुलाममधिरोप्य जीवित स्वामिन त्वमित्र सेवतामिति ।

तस्य हसनिनदेन वल्गुना साधुनादमित्र नर्मदा दृष्टौ ॥ ४२ ॥

हे रमाङ्गद ! ऐसा कौन है, जो तुम्हारी तरह प्राणों की बाजी लगाकर अपने स्वामी की सेवा कर सकता है ? इस प्रकार नर्मदा ने हर्षा की मधुर वाणी से मानो रमाङ्गद की सराहना की ॥ ४२ ॥

मिलप्रवेश.

तौ मुहुर्जलचरैरदृश्यताम् अप्रतश्चक्षितमुक्तवर्ममि ।

ध्वान्तसन्ततिभिदे रसातलम् प्रस्थितौ रविनिशाकरात्रिव ॥ ४३ ॥

विल में जाना

जलचर उन्हें बार-बार देखते थे, उन्होंने चकित होकर उनके लिये मार्ग छोड़ दिया । उस मार्ग से पाताललोक में प्रविष्ट होते हुए वे दोनों ऐसे सुशोभित हुए, मानो सूर्य और चन्द्र अन्धकारपुंज का नाश करने पाताल-लोक चल पड़े हों ॥ ४३ ॥

आश्रयत्यवनिमेघवाहने वारिगर्भमभितो गरीयसि ।

प्राप मेकलसुतासमानताम् अन्तराहितनिधानया भुवा ॥ ४४ ॥

धरती के इन्द्र अत्यन्त गुरु उस राजा नवसाहसार्क के उस गहरे जल में प्रविष्ट होने पर, अपने अन्दर असंख्य रत्नों को छिपाने वाली नर्मदा धरती की समानता को धारण करने लगी ।

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार धरती उस राजा से अपने को सनाथ मानती थी, अब नर्मदा भी उस राजेन्द्र का सम्पर्क पाकर अपने को सनाथ समझने लगी ॥ ४४ ॥

उज्ज्विता व्रटिति कार्यगौरवान् ईश्वरेण रुरुचे न मेदिनी ।

सोद्यमेन पुनरप्यवैष्यता भानुनेव पदवी पयोमुचाम् ॥ ४५ ॥

उद्यमी सूर्य पुनः उदित होने के लिये (आवरण को दूर करने के लिये) जैसे मेघ-मंडल को त्याग देता है अर्थात् मेघों के बीच से बाहर निकल आता है, और तब वे बादल शोभा-रहित हो जाते हैं, उसी भाँति अपनी कार्य-सिद्धि के लिये धरती का त्याग करने वाले उस राजा के बिना धरती भी शोभा-हीन हो गई ॥ ४५ ॥

आपवात सरमाद्भदः क्षणान सर्वतस्त तमसाविले विले ।

गृह्मत्सरविषे विशेषवान् दुर्जनस्य मनसीव सद्गुणः ॥ ४६ ॥

मत्सर रूपी जहर जिसके अन्दर भरा पड़ा है, ऐसे दुर्जन के मन में जैसे कोई विशेष गुण प्रविष्ट हो जाता है, उसी भाँति रमांगद सहित वह राजा भी चारों ओर अन्धकार से परिपूर्ण उस विल में प्रविष्ट हुआ ॥ ४६ ॥

यद्वभूव पुरतोस्य भूपतेर् एककुण्डलपटासितं तमः ।

तस्य तद्दिनकरांशुभासुरैर्मौलिरत्नकिरणैरभज्यत ॥ ४७ ॥

राजा के सामने सारे घने अन्धकार का जो-जो भाग धिर कर एकत्र होने लगता, वह सूर्य-किरणों की प्रभा के समान चमकती हुई उस राजा के शिरो-भूषण में लगे रत्नों की कान्ति से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता ॥ ४७ ॥

सान्द्रह्रमरजसा मद्भोजसाम् अग्रणीरगुरुधूपगन्धिना ।

सोऽथ तेन विलवर्त्मना शनैः क्रोशमात्रमगमन्नरेश्वरः ॥ ४८ ॥

१. तुरापाण मेघवाहनः—अमरकोष । (इन्द्र)

२. रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका—अमरकोष ।

दैदीप्यमान स्वर्ण की सी कान्तिवाले तथा तेजस्वियों में अग्रणी वह राजा
अगर धूप की सुगंध से सने उस विनमार्ग से धीरे धीरे एक कोस तक आगे
बढा ॥ ४८ ॥

सिंहदर्शनम्

लग्नसाद्रगजशोणितच्छट्टे शौर्यपावकशिखारैरित् ।

केसरैरतिकरालकधरो मार्गमस्य रुन्धेऽथ केसरी ॥ ४९ ॥

सिंहदर्शन

गजों के गाढ रक्त से सनी शोभावाली, पराक्रम रूपी अग्नि की ज्वालाओं
के समान दैदीप्यमान सटा (केसर, गर्दन के बालों) वाले, भयानक
कन्धे वाले एक शेर ने आगे आकर राजा के मार्ग को रोक लिया ॥ ४९ ॥

मुक्त्यर्परररन्स रहसा त त्रिरामधिपमभ्यधावत ।

व्याप्तदीर्घदशनास्थकन्दर पूर्णमिदुमिर सिद्धिकासुत ॥ ५० ॥

गम्भीर गर्जना करके वह सिंह तेजी से राजा की ओर भपटा । उसने
अपना बड़े-बड़े दाँतों वाला, गुहा की तरह भयानक खवड़ा खोल रखा था,
वह ऐसा मालूम पड़ रहा था, जैसे पूर्णचन्द्र को प्रसने के लिए दौड़ने वाला
साक्षात् राहु ही ॥ ५० ॥

अर्धचन्द्रमथ तज्जिघासया सन्दधे धनुषि याचदीश्वर ।

सायदस्फुटितकोरक पुरो बालकुद्विटप तमेक्षत ॥ ५१ ॥

उस सिंह को मारने की इच्छा से जब राजा ने अपने अर्धमचन्द्राकार बाण
को धनुष पर चढाया, तो राजा ने सामने सिंह को न देखकर नयी-नयी
अविकसित कलिकाओं वाले एक छोटे से कुन्द के कुञ्ज को देखा ॥ ५१ ॥

त्रिभ्रतो त्रिकटदप्रमाननम् कालमेघराक्तामितत्विप ।

आयतोऽमिमुखमीर्ष्या जवात् तेन वर्त्म मुमुचे न पोत्रिण ॥ ५२ ॥

आगे चलने पर भयानक दाढ़ वाले मुख से मुक्त, प्रलयकालीन मेघखण्ड

गजदर्शनम्

किञ्चिदस्य पुरतोऽथ गच्छत कर्णतालविधुत्पलपङ्क्तिना ।

रुद्ध्यते स्म समदेन पद्मतिर् दीर्घदन्तमुसलेन दन्तिना ॥ ५३ ॥

के समान काली आकृति वाले, ईर्ष्या से तेजी के साथ सामने से आने वाले
सूअर के रास्ते को राजा ने नहीं छोड़ा अर्थात् साहसपूर्वक वहीं दटा रहा ।

हाथी का दर्शन

तब कुछ और आगे बढ़ने पर ताडपत्र के समान अपने कानों को हिला कर भ्रमर-समूह को उड़ाने वाले दीर्घ मूसल के समान दाँतों वाले मदोन्मत्त हाथी ने आकर राजा के मार्ग को रोक लिया ॥ ५३ ॥

मन्द्रकण्ठनिनदोऽतिवेगवान् ऊर्ध्वबालधिरुदग्रलोचनः ।

कुण्डलीकृतकरस्तमभ्यगात् स क्रुधा निभृतकर्णपल्लवः ॥ ५४ ॥

अपने कण्ठ से गम्भीर चिंगाड़ मारकर पूँछ को ऊपर उठाकर, आँखों को भयानक चनाकर, सूँड़ को कुण्डलाकार बनाकर, कानों को निश्चल करके, क्रोध से भरा हुआ वह हाथी तेजी से राजा की ओर बढ़ा ॥ ५४ ॥

यावदङ्कुरितमत्सरोऽभवत् तस्य सम्मुखमधिज्यकार्मुकः ।

तावदैक्षत न स क्वचिद् द्विपं राजगन्धमद(वह) गन्धकेसरी ॥ ५५ ॥

जब राजा को मत्सर अर्थात् क्रोध हो आया, तब अपने धनुष को तानकर उसके सम्मुख हुआ, इतने में उसने देखा कि वह हाथी वहाँ नहीं था । वहाँ पर मदोन्मत्त गजराजों को मारने वाला सिंह ही उसके सामने था ॥ ५५ ॥

उत्पतन्निपतदग्रतो मुहुर्मुञ्चददृहसितं सहार्चिपा ।

केवलं कपिलकुन्तलं शिरः पश्यतोऽस्य न चमत्कृतं मनः ॥ ५६ ॥

ऊपर उछलते हुए, नीचे गिरते हुए, दाँतों की चमक के साथ श्रद्धाहास करते हुए उसके भूरे बालों वाले सिर को देखकर राजा का मन आश्चर्य-चकित नहीं हुआ अर्थात् राजा डरा नहीं ॥ ५६ ॥

एवमादि यदभून्महीपतेरद्भुतं पथि विभीषिकावहम् ।

तद्विभेद निजसत्त्वसम्पदा तिग्मदीधित्तिरिव त्विपा तमः ॥ ५७ ॥

मार्ग में राजा के सामने जब ऐसे भयानक दृश्य उपस्थित हुए, तो राजा ने अपना बल-सम्पत्ति से उन्हें उसी भाँति समाप्त कर दिया, जैसे सूर्य अपने तेज से अन्धकार को नष्ट कर देता है ॥ ५७ ॥

सरिदुत्तरणम्

तां ददर्श सरितं सुदुस्तराम् अग्रतोऽथ विलकल्पविन्मृपः ।

स्पर्शतः किल यदम्भसां झटित्यश्मभावमुपयान्त्यसूरयः ॥ ५८ ॥

नदी को पार करना

विल की कल्पना करने वाले राजा ने उस नदी को अत्यन्त विस्तीर्ण तथा दुस्तर पाया । जिसके जल का स्पर्श करते ही साधारण लोग पत्थर की भाँति अचल से हो जाते थे

विमर्श—अर्थात् उसके पानी के पार जाने में किसी की बुद्धि काम नहीं करती थी । बड़े-बड़े तैराकों की हिम्मत वहाँ टूट जाती थी ॥ ५८ ॥

मास्तुरपरपारनुन्नया प्राशुयशस्तया स सानुग ।

तामलह्वयदथोपगृह्या जन्मभीतिमिव योगविद्यया ॥ ५६ ॥

वायु क द्वारा उस पार से उस पार तक मुकायी गयी लम्बी बाँस की छड़ी के सहारे राजा ने अपने अनुचर रमागद के साथ उस नदामार्ग को ऐसी शीघ्रता से पार कर दिया, मानो योगविद्या के बल से उसने अपनी जन्मजात जन्म मरण की मीति को ही पार कर लिया हो ॥ ५६ ॥

नगरदर्शनम्

प्रस्थितस्तदनु सोद्यम पुरः सोऽथ साहसवता पुरस्सर ।

निमित्त मणिमयूरपल्लवैरलिमातपमिष व्यस्रोक्त ॥ ६० ॥

नगरदर्शन

इतना उद्यम करके वह साहसी बीरों में अग्रगण्य राजा जब उस नागलोक में पहुँचा तो उसने उस नगर को मणिकिरणरूपी पत्तों से निर्मित बालमूर्त्य के समान देखा ॥ ६० ॥

इन्द्रनीलकपिशीर्षक ततः सोऽमित स्फटिकसालमैक्षत ।

सायशेषजलनीलकोटिभिः शारदैर्घटितमम्बुद्वैरिव ॥ ६१ ॥

तब उसने इन्द्रनील मणियों से जड़े हुए स्फटिक शला से निर्मित प्राकारों को देखा, जिन्हें देखकर यह आभास हुआ, मानो कुछ रचे हुए जन की नीली पक्तियों से भरे हुए शरदकालीन मेघ से ही रचे हों ॥ ६१ ॥

वत्पताकमणितोरणाङ्कित मण्डित वनकपल्लवस्रजा ।

किञ्च काञ्चनकपाटसम्पुट तत्र गोपुरमपरयदीश्वर ॥ ६२ ॥

जो पताकाओं की तरह फहराने वाले मणियों के तोरण से सुशोभित था, जिस पर स्वर्णपत्रों के बदनवार सजाये हुए थे, जिसके किवाड़ भी सोने ही के बने थे, ऐसे उस नगर के सिद्धार को राजा ने देखा ॥ ६२ ॥

प्रिस्मयेन त्रिपथीकृत पुर तेन सोऽग्निदधन्तिरासव ।

निर्वृते पदमित्रोऽज्ञितावनिः सूर्यमण्डलपथेन योगयान् ॥ ६३ ॥

प्रिस्मय के वशीभूत वह राजा (रमागद के साथ) उस पुर में प्रविष्ट हुआ, जैसे कोई योगी अपनी योग सिद्धियों से धरती को छोड़कर स्वर्गमार्ग से परमपद तक चला जाता है ॥ ६३ ॥

तत्र वैद्रुमगयाक्षमूर्च्छित हेमहर्म्यमग्निलोके स्म स ।

मेरुद्विभित्र धातुताम्रया सध्याया वृत्तपद कचिन् कचिन् ॥ ६४ ॥

राजा ने उस नगर में जहाँ-तहाँ गौरकादि धातुओं से ताम्र वर्ण की (लाल) सध्या से युक्त, सुमेरु पर्वत की चोटियों की भाँति ऊँचे तथा मूँगों से चटित खिड़कियों वाले विशाल महल को देखा ॥ ६४ ॥

अग्रतः स च यशोभटोऽविशन् सोऽथ कौतुकहृतस्तदङ्गणम् ।

इन्द्रनीलमणिकान्तिमेचकं व्योम सारूण इवोष्णदीधितिः ॥ ६५ ॥

तब इन्द्रनील मणियों की कान्ति से चित्रित उस मकान के आंगन में यशोभट (रमांगद) के साथ वह राजा अत्यन्त कौतूहल के साथ उसी प्रकार प्रविष्ट हुआ, जैसे नीले आकाश में अरुण के साथ सूर्य आता है ॥ ६५ ॥

पद्मरागरचितालवालका वेदि'कामणिविटङ्कविस्तृता ।

तेन तत्र दृष्टो कुतूहलाद् अन्तिके कनकमाधवीलता ॥ ६६ ॥

पद्मराग मणियों से जिसके चारों ओर क्यारियाँ बनावी गयी थीं, तथा चौतरे की मणियाँ जिसकी कपोतपाली तक फैली हुई थीं, ऐसी समीपवर्तिनी स्वर्ण की बनी माधवी लता को राजा ने बड़ी उत्सुकता से देखा ॥ ६६ ॥

स्त्रीदर्शनम्

तत्तले स्थितिमुपेयुषा श्रमान तेन काचिदवला व्यलोकत ।

निर्गता झटिति हेमवेश्मतः श्रीः स्वर्णकमलोदरादिव ॥ ६७ ॥

एक स्त्री के दर्शन

थके होने के कारण वह उस माधवीलता के नीचे बनी हुई उस वेदी पर बैठ गया । तब उसने एक स्वर्ण-भवन से निकली हुई एक स्त्री को ऐसे देखा, मानो स्वर्णकमल से लक्ष्मी निकल रही हो ॥ ६७ ॥

अंशुकेन शरदिन्दुवन्धुना त्यागितेय यशसाऽवभासिता ।

कान्तिमस्यधरनीलवाससा यामुनेन पयसेव जाह्नवी ॥ ६८ ॥

उसका अधोवसन नीलवर्ण का था तथा उत्तरीय आंचल शरदकालीन चन्द्रमा की भाँति श्वेत था । किसी द्वारा त्यक्त शुभ्र यश से भी वह सुशोभित थी । वह ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे यमुना के जल के मिश्रण से नील आकृति वाली जाह्नवी हो ॥ ६८ ॥

बन्धुजीवकुमुदच्छवीमुखे विभ्रतीव कुरु'विन्दकुण्डले ।

शर्वरीव सितपक्षपर्वणः शीतदीधितिपतङ्गमण्डले ॥ ६९ ॥

गुलदोपहरी के समान रक्तवर्ण वाले मुखवाली, मेघ पुष्प के कुण्डलों को धारण की हुई उसकी शोभा ऐसी थी, जैसे शुक्लपक्ष की रात्रि चन्द्रमण्डल तथा सूर्यमण्डल दोनों को धारण किये हुए हो ॥ ६९ ॥

शोभिता किमपि हारलेखया भिन्नखेलमतिलोलयोरसि ।

तत्क्षणस्फुटितकुन्दशुद्धया गन्धवाहपदवीव गङ्गाया ॥ ७० ॥

१. स्यात् वितर्दिस्तु वेदिका—अमरकोश ।—चवूतरा

२. कुरुविन्दो मेघनामा मुस्ता मुस्तकमस्त्रियाम्—अमरकोश । मोथा ।

जो इतर उधर हिलकर मानो झीटा कर रहा था, ऐसे उस द्वार की
 न्ति से वह अत्यन्त सुशोभित हुई, जैसे अभी-अभी विकसित कुन्द के
 की के समान श्वेत, गंगा की तरंगों से शीतल पवन की पक्ति शोभित
 ती है ॥७०॥

आननेन ललिताक्षिपद्मणा निर्यदुज्ज्वलम्पोलकातिना ।
 कुर्वताम् फणिलोकमदित यामिनीतिलकविन्दुनेदुना ॥ ७१ ॥
 सुन्दर पत्नी वाली आँखों से उसका मुख शोभित था, गालों से श्वेत
 ति निकल रही थी । वह उसका मुख रात्रि का तिलक विन्दुमूत चन्द्रमा
 तरह मालूम पड़ रहा था । ऐसे अपने उस चन्द्रमुख से वह पाताललोक
 मानो अलङ्कृत कर रही थी ॥ ७१ ॥

पुष्पदाम दधती सपद्मद दक्षिणेन शशिपाण्डुपाणिना ।
 साक्ष्य सदधिदुर्वयाञ्जित हेमपात्रमितरण निभ्रती ॥ ७२ ॥
 चन्द्रमा की तरह स्वच्छ, दायें हाथ से अमरों से युक्त पुष्पमाला धारण
 ने वाली, और बायें हाथ से दही से छनी दूध से युक्त स्वर्णपात्र की धारण
 ने वाली उस स्त्री को राजा ने देखा ॥ ७२ ॥

तस्मिन्निक्षेपसन्निभस्य ततः पार्थिवः जनितकौतुहलं श्रुत्वा ।
 द्रव्युपायं मणिपञ्जरे स्थितो बालचूतनिटपात्रलम्बिनी ॥ ७३ ॥
 जब राजा उसे देखकर आश्चर्य में पड़ गया, तब एक छोटे से धाम क
 की शाखा पर टँगे हुए मणिमय पिण्डों में स्थित एक तोते ने उसके
 तूहल को और भी बढ़ाते हुए राजा से कहा ॥ ७३ ॥

शुरुवांशम्

सत्क्रिया रचयितुं तत्रातिदेवर्नर्मदा भगवतीयमुद्यता ।
 इत्यावनीयचरितो जगत्त्रये कस्य नासि बहुमानभाजनम् ॥ ७४ ॥

तोते का कथन

हे राजन् ! तुम जैसे अतिथि का सत्कार करने के लिये यह साक्षात् भगवती
 र्मदा ही उद्यत है । तीनों लोकों में प्रशस्नीय चरित्रवाले आप मला
 केसके सम्मान के पात्र नहीं हैं ! अर्थात् आप सभीके आदरपात्र हैं ॥ ७४ ॥

देव पद्मगवधूभिस्त्वज्जल वल्लकी कलरव प्रियै सह ।
 मल्लिकाधवलमत्र गीयते केलिरत्नमयनेषु ते यश ॥ ७५ ॥
 हे देव ! नागल्लियाँ अपने प्रियकरों के साथ मल्लिकापुष्प के समान
 श्वेत तुम्हारे यश को इन रत्ननिर्मित झीटाएँ में घेरा बजा बजाकर
 गाया करती हैं ॥ ७५ ॥

दुर्मना नृप पथाऽमुना गता सा विलासवसतिः शशिप्रभा ।

तत्सखीजनकथान्वयश्रुतेयुष्मदागमनमूहितं मया ॥ ७६ ॥

हे नृप ! वह विलासिनी शशिप्रभा अभी-अभी दुखी मन से इसी रास्ते से गई है । उसकी सखियों द्वारा तुम्हारी कथा सुनकर ही मैंने तुम्हारे यहाँ आने का अनुमान किया है ।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारे विषय में मैंने यह जान लिया कि तुम वही हो, जिसकी चर्चा शशिप्रभा की सखियाँ कर रही थीं ॥ ७६ ॥

दुर्लभोऽयमतिथिर्ममापि तन् गृह्यतामुचितया सपर्यया ।

पार्थिवो हि नवसाहसाङ्क इत्यप सीयकनरेन्द्रनन्दनः ॥ ७७ ॥

सीयकनृपति के पुत्र राजा नवसाहसाङ्क जैसा अतिथि मिलना तो मेरे लिये भी दुर्लभ है । अतः मेरी यह अतिथि-सेवा भी ग्रहण कीजिए ॥ ७७ ॥

पेशलोक्तिनिपुणस्य पक्षिणस्तस्य गामिति निशम्य सस्मितः ।

तामथ प्रणमति स्म निम्नगाम् इन्दुसूतिमवनीन्दुराहतः ॥ ७८ ॥

मृदुभाषण करने में चतुर उस तोते की ऐसी वाणी सुनकर चकित हँसते हुए राजा ने आदरपूर्वक (शरीरधारिणी) उस नर्मदा नदी का प्रणाम किया ॥ ७८ ॥

कुलकम्

नर्मदाकृतः सत्कारः

कारितासनपरिश्रहे पुरो भूपतावपचितिं विवाय सा ।

आस्त मौक्तिकशिलातले ततश्चेतसीव सुकवेः सरस्वती ॥ ७९ ॥

कुलक

नर्मदा द्वारा राजा का सत्कार

प्रथम राजा को आसन पर बिठाकर, उसकी अर्चना (आरती) इत्यादि कर, वह नर्मदा मुक्तानिर्मित शिलातल पर उसी तरह बैठी, जैसे सुकवि के चित्त में सरस्वती बैठ जाती है ॥ ७९ ॥

स्थित्वाथ किञ्चित्तमवन्तिनाथम् अपच्छदच्छन्नकुतूहला सा ।

निवेद्यतां मानवदेव कस्मान् अलंकृता भूमिरियं त्वयेति ॥ ८० ॥

बैठने पर कुछ काल ठहरने के बाद जिसका कुतूहल अभी शान्त नहीं हुआ था, ऐसी नर्मदा ने अवन्तिनाथ (नवसाहसाक ' से पूछा कि महाराज ! निवेदन कीजिये, आपने किस प्रयोजन से इस भूमि को अलंकृत किया अर्थात् आपके यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ? ॥ ८० ॥

तस्यै शशास निजमामृगयाविहारात्
वृत्तान्तमतविरस स निशुद्धवृत्ति ।

का-तास्मृतिप्रमभरुण्टमिताङ्गनात
लज्जावनम्रनदनो नरसाहसाङ्ग ॥ ८१ ॥

इति श्रीमृगाकदत्तस्यो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ
नवसाहसाङ्गचरिते महाकाव्ये नागलोकावतारो
नामाष्टम सर्ग ॥ ८१ ॥

उस शुद्ध हृदय वाले राजा ने अपने शिकार खेलने के वृत्तांत से लेकर
शशिप्रभा के लोप होने तक का सारा हुआ वृत्तांत कह सुनाया । अपनी
प्रिया की स्मृति आने से उसने शरीर के प्रत्येक भाग में रोमाञ्च हो रहा था ।
अतएव लज्जा के कारण उसने सिर नीचा कर लिया था ॥ ८१ ॥

श्री मृगाकदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तचरित
नवसाहसाङ्गचरित का आठवाँ
सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

अथ नवमः सर्गः

नर्मदावाक्यम्

अथ स्वरेणांगणदीर्घिकाणां संवाहयन्ती बलहंसनादम् ।

तमित्यवन्तीश्वरभावभासे सा मेकलक्ष्माधरराजकन्या ॥ १ ॥

नर्मदा के वचन

अपने आंगन की बार्षादियों में रहने वाले हंसों की कलकण्ठ ध्वनि के समान मधुर ध्वनि से मेकल पर्वत की पुत्री उस नर्मदा ने स्वेच्छापूर्वक उस अवन्तीश्वर सिन्धुराज से कहा ॥ १ ॥

नास्य क्षितीशोपकृतं जनस्य कियन् तथा पन्नगराजपुत्रया ।

यस्याः कृते सम्प्राप्त भूपितेयं भूमिस्त्वया भूशशलाब्धनेन ॥ २ ॥

हे राजन् ! जिसके लिए धरती के चन्द्रमास्वरूप तुमने इस भूमि (नागलोक) को अलंकृत किया है, उस नागराजकन्या ने क्या हमारे जैसे जन पर बहुत बड़ा उपकार नहीं किया है ? अथर्व किया है ॥ २ ॥

इदं नृप त्वामवलोक्य जातं मनः प्रमोदेन ममास्वतन्त्रम् ।

नो कस्य लोकत्रयसन्मतानां भवेन् सतां सङ्गतमुत्सवाय ॥ ३ ॥

हे नृप ! तुम्हें देखकर मेरा यह मन प्रसन्नता से परवश हो गया है । तीनों लोकों में माननीय आप जैसे सजनों का समागम (संगति) भला किस आनन्दित न करेगा ? ॥ ३ ॥

अद्यैव कस्यापि मया शुभस्य त्वदर्शनेनानुमितो विपाकः ।

आतिथ्यमक्षणोः कथमन्यथैवम् आयाति रत्नानि भवद्विधानि ॥ ४ ॥

ऐसा लगता है कि आज मैंने अपने किसी पुण्यकर्म का यह फल पाया है कि आप जैसे व्यक्ति का दर्शन मुझे मिला । अन्यथा आप जैसे रत्न नेत्रों के आतिथ्य को कैसे प्राप्त हो सकते थे ॥ ४ ॥

स वत्स, जाते जनकः कृतात्मा सा पुण्यमूर्तिर्जननी जगत्सु ।

महीकलापोद्बहनादिपात्रो पुत्रो ययोस्त्वं नरलोकपालः ॥ ५ ॥

हे प्रिय राजा ! वह तुम्हारा पिता बड़ा पुण्यात्मा होगा और तुम्हारी वह माता भी तीनों लोकों में पुण्य की मूर्ति होगी, समस्त पृथ्वी के भार को धारण करने की योग्यता वाले तुम जैसा राजा जिनका पुत्र है ॥ ५ ॥

रूपेण तेजस्वितया जवेन प्रियवदत्वेन तवामुना च ।

दिलीप-दुष्यन्त-भगीरथादीन् तानादिराजान् ह्यदिति स्मरामि ॥ ६ ॥

तुम्हारे इस सौन्दर्य, तेजस्विता, नम्रता और प्रिय समापण से मुझे एकाएक दिलीप, दुष्यन्त और भगीरथ आदि प्राचीन राजाओं की याद आ जाती है ॥ ६ ॥

समानभावैस्त्रिभिरेव मन्ये समुद्रनेमिर्मुधा घृतेयम् ।

भुजङ्गमेद्रेण च मेरुणा च दोष्णा ॥ मौर्वीक्षिणशोभिना ते ॥ ७ ॥

मैं समझती हूँ कि तुम तीनों ने समान मात्र से समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का भार अपने ऊपर उठा रखा है—सर्पराज शेषनाग, मेरु पर्वत, और धनुष की प्रत्यञ्चा से जिसमें घटे पड़ गये हैं, ऐसी तुम्हारी मुजा ने ॥ ७ ॥

त्वयि स्थिते सम्प्रति जागरूके जगद्विषेऽप्यप्रवृत्तचित्त ।

करोति नेत्रे भगवान्रैमि म योगनिद्रामुकुले मुकुन्द ॥ ८ ॥

ऐसा लगता है कि तुम्हारे सजग होने के कारण ही जगन की वस्तुओं के नियम में निश्चित होकर भगवान् विष्णु भी मानो अब योगनिद्रा में आँखें बंद कर चुके हैं ॥ ८ ॥

न क्रिञ्चिदिच्छाकुतुलाग्रतीर्णान् रथाङ्गपाखे परिहीयते ते ।

अजायताम्भोजदृशा त्रियोगो यने यथा तस्य तथा तथापि ॥ ९ ॥

“च्छाकुतुल्य” में उत्पन्न होने वाले विष्णु (राम) से तुम किसी भी बात में कम नहीं हो । अर्थात् इस समय तुम्हारी स्थिति ठीक उन्हीं की तरह है । जैसे उनको बन में कमलनयनी सीता का त्रियोग सहना पड़ा, वैसे ही तुमको भी शशिप्रभा का त्रियोग हो गया है ॥ ९ ॥

अट्टत्रिमोऽय गुणान्मु जाने जात्यैव ते पार्थिव पक्षपात ।

यत् प्रौढलावण्यमुधास्त्रयस्या तथा विना चेत्तसि ताम्यसीत् ॥ १० ॥

विदित होता है कि गुणशालिनी वस्तुओं से तुम्हारा स्वाभाविक प्रेम है । इसीलिए तो अत्यधिक सौन्दर्यमृत का स्नान करने वाली उस शशिप्रभा के त्रियोग में तुम एतने दुःखी हो रहे हो ॥ १० ॥

अल विपादेन घनादिरुद्धा ललामभूता जगतोऽरितलस्य ।

तथाङ्गमभ्येप्यति साचिरेण शशिप्रभा पार्थिवकैरदम्य ॥ ११ ॥

हे नृपति ! दुःखी न होओ, सारे विश्व में श्रेष्ठ सुन्दरी, मेघमण्डल में प्रसिद्ध शशिप्रभा के समान यह शशिप्रभा भी उसी माँत तुम्हारे पास आयेगी, जैसे चंद्रकांति श्वेतकमल के पास आती है ॥ ११ ॥

इतोऽद्य याता पुरतो मया सा दृष्टा भुजङ्गाधिपतेस्तनूजा ।

उद्वम्रमोगैरहिभि परीता लतेय दवी हरिचन्दनरय ॥ १२ ॥

हरिचन्दन की लता की माँत मयानक पखा फैलाये हुए सर्पों से घिरी हुए उस नागराजपुत्री शशिप्रभा को मैंने आज दृष्ट कर से ही जाते हुए देखा है ॥ १२ ॥

उदण्डहेमान्धुरुदासु खेलन् एतासु लीलागृहदीर्घिकासु ।

समुत्कयन्ती कलहंसयूथम् आमञ्जुना नूपुरसिञ्चितेन ॥ १३ ॥

महाराज ! वह शशिप्रभा लम्बे मृणाल वाले स्वर्णकमल जिसमें शोभित थे, ऐसी क्रीडागृह की इन वावड़ियों में किलोल करने वाले हंस-समूह को अपने पैजान की अत्यन्त मंजुल आवाज से समुत्सुक करती हुई इधर ही से गयी है ॥ १३ ॥

व्यापारयन्ती बलिताननेन्दुः पश्चाद् दृशो केतकपत्रदीर्घे ।

इतस्ततः शून्यतयास्खलन्ती समेपि मार्गे ददती पदानि ॥ १४ ॥

कभी कभी अपना मुखचन्द्र मोड़ कर जब वह केवड़े के पत्रों के समान अपनी तीखी नजर से पीछे घूमकर देखती थी, तब उस समय शून्य हृदय होने से वह सममार्ग पर भी ठोकर खाती हुई चल रही थी ॥ १४ ॥

विस्त्रस्तमाल्यां श्लथयन्धनत्वात् अंसावकीर्णां कवरीं वहन्ती ।

कलिन्दकन्यामसृणोर्मिनीलां निस्त्रिशलेखामिव मन्मथस्य ॥ १५ ॥

वेणी में जो माला गुंथी थी, वह ढीली हो जाने से वेणी छूट गयी और कंधों पर लटकने लगी । कंधों पर लटकती हुई उस वेणी से वह ऐसी सुशोभित हुई, मानो यमुना की स्निग्ध-श्यामल लहर के समान नील वर्ण की काम की खङ्गलेखा को कन्धे पर लिए चल रही हो ॥ १५ ॥

मुखं निशाघ्रातमिवारविन्दं विपाद्वीतप्रभमुद्वहन्ती ।

विलुम्पती निःश्वसितेन कान्तिम् आपाटलस्याधरपल्लवस्य ॥ १६ ॥

दुःख के कारण जिसपर की कान्ति नष्ट हो गयी थी, ऐसे और सन्ध्या-कालीन मुरझाये हुए कमल के समान मुखवाली वह दीर्घ उष्ण श्वास ले रही थी, जिससे उसके लाल अधरोष्ठ की कान्ति भी नष्ट हो रही थी ॥ १६ ॥

उन्मोचयन्तीमलकाग्रमेत्य लग्नं चलत्कुण्डलरत्नकोटौ ।

किमप्युदञ्चदशानांशुलेखा सखीं शनैस्सस्मितमालपन्ती ॥ १७ ॥

और कभी-कभी उसके चंचल रत्नकुण्डलों में उलझते हुए उसके गालों को जब उसकी सखी सुलभाया करती है, तब अपनी दन्तकान्ति को बिखेरती हुई वह उससे मन्दमुस्कान के साथ धीरे-धीरे कुछ कहती रहती ॥ १७ ॥

सुधासितं क्षौममिवास्तृतं तं नखांशुरेखावलयच्छलेन ।

कृतं दधानोपरि पाणिपद्मम् उदग्रकम्पस्य कुचद्वयस्य ॥ १८ ॥

अत्यन्त कम्पित अपने दोनों कुचों पर जब वह अपने कर-कमल को रखती थी, तब ऐसा मालूम पड़ता था जैसे उसके नखों की किरणों की गोलाई के बहाने कुच पर सुधा की तरह श्वेत दुकूल डाल दिया हो ।

निर्मल—अपने कुर्चों पर उसने अपना हाथ जो रखा, उसमें से जो किरणें गोलाई में निकल रही थीं, वह ऐसी मालूम पड़ रही थीं, जैसे स्तनों को दूँकने के लिए अत्यन्त सफ़ेद कपड़ा ही डाल दिया हो ॥ १८ ॥

गतानि सद्यः श्लयता सखीभिर्विहस्य साकृद्विलोक्तानि ।

क्रमेण किञ्चिन् प्रतिसारयन्ती मिलज्जमाना मणिकङ्कणानि ॥ १९ ॥

कभी कभी जब उसकी सखियाँ उसकी दुर्गल कलाइयों पर ढीले पड़े मणि कंकण को देखकर मन ही मन हँस उठतीं, तब लज्जित होती हुईं ही वह किसी प्रकार उन कंकणों को नैमालती हुई दिखाई देती ॥ १९ ॥

अशोऽपुष्पप्रथिता दधाना प्रालम्बमालामरलग्नमध्या ।

आरोपितज्येजः जगज्जयाय म्बचापलेखा मकरध्वजेन ॥ २० ॥

इह कृशोदरी अशोक पुष्पों से गुँथी हुई उदरभाग तक टटकने वाली लम्बी माला को पहनकर जब चलती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जगत् विजय के लिए काम ने अपने धनुष की प्रस्थन्चा चढ़ा ली हो ॥ २० ॥

आर्द्रप्रणाङ्गस्य कृपाद्रिचित्ता वेलीमृगस्य स्वयमेव तस्या ।

आचुस्वती पाण्डुरपोललेख रतसदूर्वाङ्गरमपयती ॥ २१ ॥

दयावती वह नरगिन मन (पात्र) युक्त श्रीदाम्भ के पीले गालों को चूमती हुई और अपने कर्णाभरण में दूर को निकाल कर उसे खिलाया करती है ॥ २१ ॥

मार्गेषु रतासु निरुद्धभावात् द्विरेफसम्पातसमाकुलाऽपि ।

लतासु पुष्पावचयञ्छलेन पदे पदे घत्स मिलम्बमाना ॥ २२ ॥

भ्रमर समूह से यद्यपि उसे कुछ उठाना पड़ रहा था, किन्तु मार्ग में पड़ने वाली लताओं के प्रति स्नेहवश वह फूल तोड़ने के बहाने उनके पास कुछ देर तक टहर जाया करती है ॥ २२ ॥

त्वदायविश्लेषमवाप्य बाला सा लक्ष्यते किञ्चिदनिर्गृतेष ।

भवाद्दशामेकपदे वियोगो न कस्य राजेन्द्र मनो दुनोति ॥ २३ ॥

तुम्हारे वियोग को पाकर यह बेचारी कुछ अशान्त मनवाली सी जान पड़ती थी । आप जैसी का एकाएक होने वाला वियोग मन्ना किसके मन को दुखी न बना देगा ॥ २३ ॥

पृथुप्रतापस्सन्निता यथैव यथा कलाना निधिरोपधीश ।

यथा वसन्तः सुमनोनुकूलस्तथाऽसि मूँमि स्पृहणीयताया ॥ २४ ॥

प्रचण्ड प्रतापी सूर्य, सपूर्ण कलावा का आकर चन्द्रमा और पुष्पों के लिए अनुकूल वसन्त को जैसे सभी चाहते हैं, वैसे ही आप को भी सभी चाहते हैं ॥ २४ ॥

नायकाव्यम्

इति क्षितेश्वरत्रिभुक्तिपेयाम् उदीर्य वाचं विरराम रेवा ।

स च स्मितद्योतितदन्तमेवम् उवाच तां मध्यमलोकपालः ॥ २५ ॥

नायक के वचन

इस प्रकार राजा के सीप के समान कानों से पी जाने वाली वाणी कह कर रेवा मौन हो गई । तब मधुर हँसी से अपने दाँतों को चमकाते हुए भूपति ने उससे कहा ॥ २५ ॥

स्थाने यदाह्लादयसि प्रपन्नं पीयूषधारामधुरैर्वचोभिः ।

सुधैकसूतिस्स यदाकरस्ते चण्डीशचूडामरणं शशाङ्कः ॥ २६ ॥

तुम जो इस प्रकार के अमृत की धारा के समान मधुर वचनों से मुक्त दुखी को प्रसन्नतापूर्वक आनन्दित कर रही हो, यह तुम्हारे योग्य ही है, क्योंकि शिव के शिर का भूषणभूत तथा अमृत को उत्पन्न करने वाला चन्द्रमा ही तो तुम्हारा जनक है ॥ २६ ॥

ऋजुः प्रकृत्यासि परं तदग्न्य बीचीपु पर्याप्तमनार्जवं ते ।

न केवलं सा पयसि प्रसक्तिरालक्ष्यते ते वत मानसेऽपि ॥ २७ ॥

हे माता ! यद्यपि तुम सरल स्वभाव की हो, पर तुम्हारी लहरों में अत्यन्त देढ़ापन है । यह बात तुम्हारे पानी में ही नहीं, मनमें भी है, ऐसा मुझे लगता है ॥ २७ ॥

या जूटमध्ये च शशाङ्कमौलेरुन्निद्रकुन्दरुगिवाऽवभाति ।

तामप्यतीव त्रिजगत्प्रतीच्यां त्रिःश्लोतसं पुण्यतयाऽतिशेपे ॥ २८ ॥

विकसित कुन्दपुष्पों की माला के समान जो शिवजी की जटाजूट में शोभा पा रही है, उस तीनों जगत की वन्दनीया गंगा को भी तुमने अपने पुण्यों से जीत लिया है ॥ २८ ॥

या साऽस्य शक्तिः प्रसराम्बुपङ्के त्वया वृता धर्मविहारवीथिः ।

सलीलमुद्धूलकुलाचलेयं मही महासूकरदंष्ट्र एव ॥ २९ ॥

तुमने फैले हुए जल के कीचड़ में भी धर्मचारियों के विचरण का मार्ग बना दिया है । तुम्हारे ऊपर इस पृथ्वी का भार ऐसे मालूम पड़ता है, मानो महापर्वतोंवाली पृथ्वी को बराहावतार ने अपनी ठुड्डी पर रखा हो ॥ २९ ॥

भवाद्दशीनां महतां नदीनाम् अद्भिर्जगत्त्यस्तमितोपसर्गे ।

मुखं सदैवामुरजिन् समुद्रे निद्राति पर्यङ्कितपन्नगेन्द्रः ॥ ३० ॥

आप जैसी नदियों के पुण्यजल से समस्त संसार का उत्पात नष्ट हो जाने

पर देखो को भीतने वाले भगवान् विष्णु शेषनाग की शय्या पर सुख से सोते रहते हैं ॥ ३० ॥

वसन्तमयम् भयि प्रसन्ना सम्भावनामारमहो निधत्से ।

अस्त्येव भक्तेष्वतिवत्सलत्वाद्वलाद् गुणारोपणमौतुक ते ॥ ३१ ॥

प्रसन्न होकर ही तुम मुझ अयोध्या पर इतनी कृपा और आदर का भार भग रही हो । भक्तों के प्रति अति वात्सल्यभाव के कारण ही तुम उनमें इठात् गुणों का आरोप करने के लिये उत्सुक रहती हो ॥ ३१ ॥

विमर्श—अथात् भक्त बेचारे कुछ योग्य भी नहीं होते, पर तुम अपनी वात्सल्य दृष्टि के कारण ही उन्हें गुणशाली समझने लगती हो ॥ ३१ ॥

अनेनमेकोऽपि हृदि प्रहर्षस्तत्र प्रसादातिशयेन जात ।

अनार्द्रतामिन्दुमरीचिसरये कियन्चिर चन्द्रमणिबिम्बिति ॥ ३२ ॥

तुम्हारी इस आश्चर्य दयादृष्टि के कारण मेरे हृदय में बड़ी प्रसन्नता हो रही है । भला चन्द्र की किरणों का सम्पर्क पाकर चन्द्रकान्तमणि बन सक ७ पियेलगी ॥ ३२ ॥

निधाय त्नाटशमिन्द्रजाल सा केन नीता फणिराजकन्या ।

अपश्यतो हेतुमिहोपपन्न किमप्यहो रिम्भयते मनो मे ॥ ३३ ॥

मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि इस प्रकार का इन्द्रजाल रचकर उस नागराजकन्या को कौन कहाँ ले गया । उसका कुछ भी कारण मैं नहीं देख पाया, अतः यहाँ आया हूँ ॥ ३३ ॥

अज्ञानमस्मिन्निपये किमयत् ममैतदर्हस्यपनेतुमग्ध ।

दिनान्तसम्मूर्च्छितमन्धकारं निशामुलस्येव शशाकलेरा ॥ ३४ ॥

हे अम्मा ! और क्या कहें । इस सम्बन्ध में मेरा अज्ञानान्धकार तुम्हीं दूर कर सकती हो । क्योंकि प्यावरना में ही वह शक्ति है कि यह निशामुल अर्थात् सायकाल का अना अन्धकार दूर कर दे ॥ ३४ ॥

पुनर्नर्मदागम्यम्

उक्त्वेति तूष्णीममथ नृसोम मा सोमसूतिम्सरदित्युग्राच ।

अत्रेतिवृत्त कथयाम्यग्रेण निशम्यता मालजलोन्मपाल ॥ ३५ ॥

पुन नर्मदा का कथन

इतना कहकर राजा के मौन हो जाने पर पुन चन्द्रपुत्री नर्मदा नदी ने उसमें कहा कि मैं हमसे सम्बद्ध सारा वृत्तांत आपको सुनाती हूँ, आप सुनें ॥

गृहदेवतायाच

यदैव सा तजितचन्द्रकान्तिरजायते दीवरपत्रनेत्रा ।

चित्रस्थिताना गृहदेवतानामिति स्फुरन्ति स्म तदैव वाच ॥ ३६ ॥

गृहदेवताओं के वचन

हे राजन् ! चन्द्रमा की कान्ति को निज कान्ति से जीतनेवाली उस शशिप्रभा के पैदा होने पर गृहभित्तियों पर बने गृहदेवताओं की वाणी स्पष्ट रूप से सुनाई दी अर्थात् शशिप्रभा के जन्म लेते ही प्रसूतिगृह की भीतों पर बनी गृहदेवताओं ने मानव वाणी में इस प्रकार कहा ॥ ३६ ॥

रत्नाकरत्वं भुजगेन्द्र जातं कन्या तव श्रीः शुभलक्षणैर्यम् ।

वज्रःस्थलं मध्यमलोकभर्तुर्विभूषयित्री पुरुषोत्तमस्य ॥ ३७ ॥

हे नागराज ! तुम को तो समुद्रत्व प्राप्त हो गया है, क्योंकि तुम्हारी यह शुभ लक्षणों वाली कन्या साक्षात् लक्ष्मीस्वरूप ही है। यह किसी पृथ्वी-पालक पुरुषोत्तम राजा के वज्रःस्थल को सुशोभित करेगी ॥ ३७ ॥

भुजङ्गवंशार्णवकौमुदीयम् इयं पताकाऽस्य रमातलस्य ।

उपागतेयं निधनाग्रदूती वज्राकुशस्यासुरपुङ्गवस्य ॥ ३८ ॥

यह नागवंश रूपी समुद्र में उत्पन्न होने वाली चन्द्र की चाँदनी सी है। यह इस नागलोक की ध्वजा है। यह वज्राकुश नामक श्रेष्ठ दैत्य की मृत्यु की अग्रदूती बन कर आई है। अर्थात् यहाँ यह जो शशिप्रभा के रूप में आई है, इसीके कारण वज्राकुश मारा जायगा ॥ ३८ ॥

स्ववीर्यपर्यस्तपुरन्दरेण तेनासुरेन्द्रेण कदर्थितस्य ।

तेजश्चिरादुद्ध्वसितं तदाऽभून् इति श्रुते भोगभृतां कुलस्य ॥ ३९ ॥

गृहदेवता की उपर्युक्त बात सुनकर संव्रत नागकुल ने अपने पराक्रम से इन्द्र को भी परास्त करनेवाले दैत्यराज वज्राकुश के द्वारा बहुत दिनों के बाद छुटकारे की साँस ली ॥ ३९ ॥

तद्देहकान्तिस्तिमिरं व्यनैपीत् यदत्र मोषीकृतस्त्वदीपा ।

पित्रा तदस्याः कृतमर्थयुक्तम् आह्लादनं नाम शशिप्रभेति ॥ ४० ॥

इसकी देह की कान्ति ने पाताललोक के अन्धकार को मिटा दिया, और यहाँ के रत्नदीपो को (अपनी प्रभा से) बेकार कर दिया। इसलिए इसके पिता ने इसका सार्थक और आनन्ददायक 'शशिप्रभा' नाम रखा ॥ ४० ॥

ततस्सुधासूतिकराभिरामैर्गुणैः परीता सहजन्मभिः सा ।

शनैः शनैर्वृद्धिमवापदत्र रसातले वालमृणालिकेव ॥ ४१ ॥

चन्द्रमा की गुण किरणों के समान जन्मजात सुन्दर (आह्लादकत्वादि) गुणों से परिपूर्ण वह शशिकला पाताललोक में उसी प्रकार धीरे-धीरे बढ़ने लगी, जैसे जन्मजात तन्तुओं से युक्त कोमल मृणालिका बढ़ती है ॥ ४१ ॥

शशिप्रभापितुः प्रतिज्ञा

यदर्थिताऽमृदनुपदमानसे सुरेश्च सिद्धेश्च महोरगेश्च ।

तेषां पुरस्तादकृतं व्यग्रस्थाम् इत्येकदा सप्तदि वन्नगेन्द्र ॥ ४० ॥

शशिप्रभा के पिता की प्रतिज्ञा

जब वह नवयुगी हो गई, तब उसके रूप पर मुग्ध हुए देवतागण, सिद्धा और महाप्रतापी नागों ने उसको (पाणिग्रहण के लिए) मांगने की इच्छा की । तब उनके सामने ही एक बार सभा में नागराज ने ऐसी प्रतिज्ञा की ॥ ४० ॥

गुमाभितो यत्त्रिदशारिबीरेर्न आह कुशारयस्य महामुरम्य ।

असूत लीलागृहदीधिकेह हंस हरेर्नाभिरिवारविन्दम् ॥ ४१ ॥

जब पाताललोक में चारा ओर में ब्रह्माकुश नामक महाराजन के बीतों से रक्षित लीलागृह की रात्रि ने एक स्पर्शकमल पैदा किया है । वह ऐसा लग रहा है, मानो विष्णु की नाभि में निकला हुआ स्पर्शकमल हो ॥ ४१ ॥

आनीय तद्यो दुहितुर्ममास्या कर्णावतमप्रगृहीकरोति ।

तन्मयेयमिष्टासमृत कलत्र पार्यस्य पाञ्चालनृपात्मजेन ॥ ४२ ॥

जो कोई उस स्पर्शकमल को लाकर मेरी पुत्री के कानों को अलङ्कृत कर देगा, वह जैसे धनुर्वर अर्जुन ने पञ्चालराजपुत्री द्रौपदी का पाया धा, वैसे ही हमने भी स्त्रीरूप में पायेगा ॥ ४२ ॥

कुलक

तेनैवमुज्जते च तदा परेषु तमयमज्ञोऽस्तयाज्ञ कोपि ।

षण्यद्विपादुदगतदानराजे क कुम्भमुस्ताफलमाददीत ॥ ४५ ॥

उसके इस प्रकार कहने पर उनमें से किसीने भी उस कार्य को नहीं उठाया । जिसने गण्डस्थान से मदङ्ग की धारा यह रही है, ऐसी मदोन्मत्त जगली हाथी के कुम्भस्थल (सिर) को निदीर्ण करके उसके मोतियों को भला कौन निकाले ॥ ४५ ॥

तत्र प्रभृत्यद्भुतरूपरेखा सा वालिनामृदुरा वरापि ।

चित्ते वचस्तत् कुलदेवनाना कृत्वापि तस्या स च नाशयेत् ॥ ४६ ॥

तबसे लेकर वह बरा (सौन्दरी) होते हुए भी अवरा (वरजिहीन) हो रही । और कुलदेवता गृहदेवियों की उस वाणी को चित्त में रखकर भी नागराज फिर चैन से सो नहीं सका, अर्थात् अपनी पुत्री के विवाहवद न हो सकने का दुःख उसे निरन्तर होता रहा ॥ ४६ ॥

सम्प्रत्यवैमि प्रथिता यदाऽत स्वर्गे च भूमौ च भुजस्तले च ।

नीतोऽसि नेत्रातिथिता त्वमस्या पुण्येन जन्मा तरसम्भूतेन ॥ ४७ ॥

अब तो मैं समझती हूँ कि स्वर्ग लोक और भूलोक में अब इसके समान कोई दूसरी स्त्री न होगी, क्योंकि किसी पूर्वजन्म के संचित पुण्य के कारण तुम जो इसकी दृष्टि में आ गये हो ॥ ४७ ॥

आनेतुका मेन भवन्तमत्र निजं वचस्तत्रयता प्रतिष्ठाम् ।

आप्तप्रयत्नेन तथा स मन्ये फणीश्वरेणोपकृतः प्रपञ्चः ॥ ४८ ॥

मालूम होता है कि अपनी प्रतिष्ठा पूर्ण करने के लिए तुम्हें यहाँ लाने के लिए ही शायद नागराज ने वह साग प्रपञ्च (इन्द्रजाल) रचा होगा ॥ ४८ ॥

एकः क्षिती साहसिकस्त्वमेव नान्योऽस्ति राजत्रयसाहसाङ्कः ।

निसर्गदुर्गामपि भूमिमेतां स्वोद्यानवीथीमिव यः प्रविष्टः ॥ ४९ ॥

हे नवसाहसिक धर्म्ती पर एकमात्र तुम्हीं वास्तविक आमत साहसी हो, दूसरा कोई नहीं, क्योंकि तुम इस प्रकृति से ही दुर्गम भूमि को भी अपने दगौचे की पगडंडी की भाँति पार करके यहाँ आ गये हो ॥ ४९ ॥

तदस्य कार्यस्य पुरस्कृतस्य यतस्व सीमान्तावलोकनाय ।

विगाहमानोऽश्वरमर्धमार्गं निवर्तते जातु किमुष्णरश्मिः ॥ ५० ॥

यहाँ आने के जिस कार्य को तुमने शुरू किया है, अंतिम सीमा गाँठने के लिए अर्थात् उसकी पूर्ति के लिए उद्योग करना प्रारम्भ कर दो । नभोमण्डल की ओर प्रस्थान करने वाला सूर्य क्या कभी आधे रास्ते से ही वापस लौटता है ?

इतोऽस्ति 'गन्धूतिशतार्धमात्रं गत्वा पुरी रत्नवतीति नान्ना ।

विनिर्मिता शिल्पकलामयेन मयेन या नाकजिगीषयेव ॥ ५१ ॥

यहाँ ने पञ्चान गन्धूति (२०० मील चलकर) मात्र आगे जाकर रत्नवती नाम की एक नगरी है, जिसे अमरावती को जीतने की इच्छा से ही मानो शिल्प कलाकुशल मयनाम के दानव ने बनाया था ॥ ५१ ॥

तस्याऽमुरेन्द्रस्य नराधिपेन्द्र जगद्द्रुहः सा किल राजधानी ।

समेधितस्यावज्जमुवा वरेण रणेऽववध्यो मरुता भवेति ॥ ५२ ॥

हे नृपेन्द्र ! तुम्हें देवता भी युद्ध में न मार सकेंगे, इस प्रकार ब्रह्मा के वरदान को पाकर अत्यन्त बड़े हुए बल वाले एवं संसार को त्रास पहुँचाने वाले असुरराज की वह राजधानी है ॥ ५२ ॥

स मौलिरत्नानि महोरगाणाम् उत्खाय चोत्खाय च कौतुकेन ।

करोति निर्वासितनायकेषु निजाङ्गनाहारलतान्तरेषु ॥ ५३ ॥

वह महासर्पों के शिरःस्थित रत्नों को उखाड़-उखाड़ कर जिनके प्रियकरों को निकाल बाहर कर दिया है, ऐसी अपनी रानियों की हारलता के बीच लगाता है ॥ ५३ ॥

स वाप्यपर्याकुललोचनानि निश्वासभिन्नाधरपल्लवानि ।

करोति वक्त्राण्यमरागनानाम् उत्सन्नलीलाग्मितचन्द्रिकाणि ॥ ५४ ॥

आँसुओं ने पूर्ण नेत्रों वाले, दीर्घ निश्वास से जिनके अधरोष्ठ मलीन हो
हे हैं, ऐसे देवस्त्रियों के मुखों को वह विनासक्रीड़ा की मधुर हँसी रूपी
चन्द्रिका जिनकी नष्ट हो गई है, ऐसे बना देता है ॥ ५४ ॥

प्रियर्शु—प्रियकर के युद्धाहत होने से देवाङ्गनाओं की सुरतक्रीड़ा का
आनन्द नहीं मिलता ॥ ५४ ॥

कृताङ्गद कम्बलकालियाभ्या यज्ञोपवीतीकृतशङ्खचूड ।

स तक्षशपादितकण्ठभूषो विभ्रति लीलामरिज शिवस्य ॥ ५५ ॥

वह कम्बल और कालिया नाम वाले दो महानागों का बाजूरुद के रूप
में धारण करता है । शङ्खचूड नाग को उसने यज्ञोपवीत बना रखा है । तक्षक
नाग उसका कण्ठाभरण बना पड़ा है और इस भाँति वह अकल्याणकारी
दुष्ट राजस शिव की लीलाओं को किया करता है ॥ ५५ ॥

आस्ता किमयै फण्णिभि स चिन्त्यस्तरयापि शेषस्य च रामुदेह्य ।

राहुर्यथा विश्वभयैकहेतु ताराधिपस्याहिमग्नीधितेश्च ॥ ५६ ॥

और नागों की तो बात ही जाने दो, शेषनाग और बामुकी नाग के
लिए भी वह उसी भाँति भय का कारण बन गया है, जैसे सूर्य और चन्द्रमा
के लिए राहु ॥ ५६ ॥

एगोद्रभङ्गे न तथा तथा च न सर्पयज्ञे जनमेजयस्य ।

निधानमातङ्गपरम्पराणा जातो यथा सम्प्रति नागलोका ॥ ५७ ॥

गहड़ पक्षी के द्वारा नागों के खाये जाने से और जनमेजय के यज्ञ के कारण
भी नागलोक प्रथम इतना भयाङ्गुल नहीं था, जितना आज इस भय से उसमें
आतंक छाया हुआ है ॥ ५७ ॥

हरेस्त्यमशोऽत्र कृताग्रतारस्तस्याऽमुरेन्द्रस्य निरर्हणाय ।

अवेमि लोकाग्रयकण्ठकस्य लङ्काधिपस्येव ॥ मैथिलीश ॥ ५८ ॥

मैं समझती हूँ, जैसे तीनों लोकों के लिए काटा गे हुए राक्षस के नाश
के लिए रामचन्द्र ने अवतार लिया था, उसी तरह तीनों लोकों को दुख देने
वाले इसके विनाश के लिए भी तुमने भगवान के अवतार में जन्म
लिया है ॥ ५८ ॥

श्रीकण्ठ त्रैकुण्ठपुरन्दराद्यैरुपेक्षित यत्त्रिदशैरशस्त्या ।

कृतस्य तम्यास्य मर प्रिसोदु सम्भाव्यसे मे नृपते त्वमेव ॥ ५९ ॥

भगवान् शक्र, विष्णु इन्द्र आदि देवताओं ने उसे उसका कुछ न बिगाड़

सकने के कारण छोड़ दिया, उसीके संहार रूपी कार्यभार को उठाने के लिए तुम्ही मुझे समर्थ मालूम पड़ रहे हो ॥ ५६ ॥

किमन्युदुत्तिष्ठ गृहाण यात्रां वज्राङ्कुशं प्रत्यमितप्रताप ।

तच्चावतंसीकुरु हंमपद्मम् आनीय भूशक्र शशिप्रभायाः ॥ ६० ॥

और क्या कहूँ, हे अतिपराक्रमशाली ! तुम वज्राङ्कुश को मारने के लिए यात्रा प्रारम्भ कर दो । हे धरेन्द्र ! तुम उसके यहाँ से उस स्वर्णकमल को लाकर शशिप्रभा के कान का आभूषण बना दो ॥ ६० ॥

सा ते समाप्ताद्भुतसाहसस्य वत्साङ्कमभ्येतु फणीन्द्रकन्या ।

सीता यथा दाशरथेः सलीलम् आरोपितत्र्यम्बककार्मुकस्य ॥ ६१ ॥

जिस भाँति शिवधनुष को चढ़ाने वाले रामचन्द्र को सीता मिली, उसी भाँति अपना साहसिक कार्य करने पर वह नागराजकन्या तुम्हारी गोद की शोभा बढ़ायेगी ॥ ६१ ॥

अगाधपातालतलोद्गतानि विनिद्रकुन्दच्छदसुन्दराणि ।

लोकद्वये सम्प्रति ते यशांसि आकल्पवल्लीफलवच्चरन्तु ॥ ६२ ॥

अगाध रसातल तक विकसित होने वाले, विकसित कुन्दपुष्पों के समान श्वेत, तुम्हारे यश इस लोक और उस लोक तक व्याप्त होकर ऐसे चिरस्थायी हो जायँ, जैसे कल्पकल्पान्त तक रहने वाले कल्पलता के फल ॥ ६२ ॥

प्रसादमाप्तेन चिराद्विलीने तस्मिन् मुरारातिवनोपरोधे ।

मुखेन्दुना पन्नगसुन्दरीणां पुनः समागच्छतु पत्रलेखा ॥ ६३ ॥

देवताओं के शत्रु उस दैत्य रूपी वादल के उपद्रव के नष्ट हो जाने पर प्रसन्नता को प्राप्त नागस्त्रियों के मुखचन्द्र पर एक बार फिर पत्ररचना की शोभा छा जाय ॥ ६३ ॥

आसीत् पुरस्तात्त्रिपुरावभङ्गे यन्मंगलं वालमृगाङ्कमौलेः ।

महासुरैर्भाविनि साम्पराये तवास्तु तन् संयुगजामदग्न्य ॥ ६४ ॥

प्राचीन समय में त्रिपुरासुर को नष्ट करते समय चन्द्रमौलि भगवान् शंकर को जो मंगल हुआ था, संग्राम में विजय पाने वाले परशुराम के समान पराक्रमी राजन् ! वही मंगल तुम्हारा राज्ञों के साथ होने वाले युद्ध में भी हो ॥ ६४ ॥

पन्थाश्शिवोऽयं पुरतोऽत्र गन्ता वङ्कमुनिर्लोचनगोचरं ते ।

उपाचरेस्तं च तथाविधानां भक्तिं हि गां कामदुहामुशन्ति ॥ ६५ ॥

यात्रा के लिये अत्र प्रस्थान करो । यह मार्ग कल्याणकारी है । जब तुम यहाँ से कुछ दूर जाओगे, तो तुम्हें वङ्कुमुनि के दर्शन होंगे । उस मुनि की तुम अवश्य सेवा करना, क्योंकि ऐसे लोगों की भक्ति ही वस्तुतः इच्छित वस्तु देनेवाली कामधेनु कही गयी है ॥ ६५ ॥

इत्युदीर्य मणिकांतिकन्दली कल्पित त्रिदशचापमस्य सा ।

आमुमोच निजमङ्गल भुजे ज्याक्रिणाङ्ककठिणीकृतत्रचि ॥ ६६ ॥

इस प्रकार के वचन कहकर नर्मदा ने माणिक्येशों से इन्द्रधनुष की कांति को पैलाने वाले अपने वक्त्र को, धनुष में खींचने से घटे क चिह्नो से वर्णश बने हुए राजा के हाथ में पहना दिया ॥ ६६ ॥

नर्मदोक्तिस्वीकार.

अवददथ स साहसोन्मुखस्ताम् इह हि वय वचसि स्थितामस्तवेति ।

तद्विद्विष न चिरादुदीरिताशी सरिदपि साऽन्य पुरस्तिरोबभूय ॥ ६७ ॥

इति भीमगाङ्गदत्तसूनु परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य वृत्तौ

नवसाहस्राङ्गचरिते महाका ये नर्मदासदादो नाम

नमः सगं ॥ ६ ॥

नर्मदा के कथन को स्वीकार करना

पश्चात् उस साहसी राजा ने नर्मदा से कहा कि मैं आपकी बात को पूरा रूप से स्वीकार करता हूँ । राजा के इतना कहने पर राजा को आशीर्वाद देकर बड़े नर्मदा नदी भी बिजगी की भाँति राजा के सामने से अतर्हित हो गई ॥ ६७ ॥

भी मृगाङ्गदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तचित्त नव

साहसक चरित महाकाव्य का नर्मदासदाद नामक

नमः सगं समाप्त ॥ ६ ॥



अथ दशमः सर्गः

नायकस्य रमाङ्गदं प्रति प्रश्नः

अथ मेकलाचलमुतातिरोहतौ अतिमात्रविस्मयरसार्द्रमानसः ।
दशानच्छविच्छुरितपाटलाधरः स रमाङ्गदं नृपतिरित्यवोचत ॥ १ ॥

नायक का रमाङ्गद के प्रति प्रश्न

इसके पश्चात् मेकल पर्वत की पुत्री नर्मदा के अन्तर्हित हो जाने पर
अत्यन्त विस्मय-रस से भरे मन से, दाँतों की चमक से रक्तवर्ण के ओठों को
सुशोभित करते हुए सिन्दुराज ने रमाङ्गद मंत्री से कहा ॥ १ ॥

अधिरोहति स्वयमचिन्तिताऽप्यहो शुभसम्पदं पराङ्मुखे विधौ ।

सवपुर्विलोचनपथं यदावयोरमृतांशुसूतिरियमापदापगा ॥ २ ॥

जब भाग्य अनुकूल होता है, तब जिनके बारे में कुछ सोचा भी नहीं गया
हो, ऐसी सब सम्पत्तियाँ अपने आप (मानव के) पास आ जाती हैं । अब
यही देखो न, यह चन्द्रपुत्री नर्मदानदी शरीरधारिणी बनकर हमारे दृष्टि
गोचर हुई अर्थात् बिना किसी कल्पना के ही इसनी मृत्ताकात अपने साथ
हुई ॥ २ ॥

इदमिन्द्रजालमिति मे समुत्थिताम् मतिमेदृषितमुदारया तथा ।

विकसन् मरीचिरचितेन्द्रकार्मुकं करवर्ति रत्नवलयं विलुम्पति ॥ ३ ॥

जिस प्रकार विकसित सूर्य-किरणों से जिस पर इन्द्रधनुष की शोभा है,
ऐसा रत्नकंकण इन्द्रजाल के रूप में हाथ पर आते ही विनष्ट हो जाता है,
उसी प्रकार इस उदार विचारधारा वाली ने मुझसे जो कुछ कहा, मुझे तो
सब इन्द्रजाल का मालूम होता है ॥ ३ ॥

विमर्श—हम अक्सर देखते हैं कि सूर्य की किरणों में रंग-विरंगे अणु होते
हैं । इन रंगों से इन्द्रधनुष की छटा भी देखने में आती है । बीच-बीच में
गोल बलय भी दीखते हैं । लेकिन जब हम उसे पकड़ने लगते हैं, तब वह
गायब हो जाता है । उसी तरह नर्मदा ने भी जो कुछ कहा, वह राजा को
इन्द्रजाल मालूम पड़ रहा है ॥ ३ ॥

अयि मेकलाद्रितनयापुरस्कृते क्रियते किमत्र वद कृत्यवस्तुनि ।

तव यन् सदा नयरहस्यवेदिनो न वियञ्चरन्त्यनपांमुले पथि ॥ ४ ॥

वताओ भाई ! नर्मदा की बताई हुई बात के विषय में क्या किया जाय ।
क्योंकि तुम जैसे नीतिरहस्य जानने वाले व्यक्तियों की बुद्धि अन्याय रूपी
धूलि से धूसर मार्ग पर नहीं जाती है ॥ ४ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

इति पाथिवेन कथिते दधन्मनाक् पुलकेन चुम्बितकपोलमाननम् ।

इदमात्तनीतिपथमाददे वच स्मितपुष्पिताधरदलो रमाङ्गद ॥ ५ ॥

रमाङ्गद का कथन

सिन्धुराज के ऐसा कहने पर (आत्मप्रशसा सुनने के कारण) जिसके गालों पर लज्जा से रोमांच हो आया था, ऐसे मुखवाले तथा हँसी से विकसित अधरोष्ठ वाले रमाङ्गद ने न्यायमार्ग सगत वचन कहे ॥ ५ ॥

इह किं प्रतिस्फुरति मे तत्रागतो नयशास्त्रनीरनिधिपारदृष्टवन् ।

अत्रलीढविश्वतमस पुरो रवेर्न हि जातु क्षीपकशिखा प्रकाशते ॥ ६ ॥

न्यायशास्त्ररूपी समुद्र को पार करनेवाले आपके सामने भला मेरी बुद्धि कहाँ तक सफल हो सकेगी ! भला सभार के समस्त अधिकार को नष्ट करने वाले सूर्य के सामने क्षीपशिखा का प्रकाश कैसे हो सकेगा ! अर्थात् आपकी बुद्धि के आगे मेरी बुद्धि क्या काम देगी ॥ ६ ॥

विषयेऽत्र मौनमुचित हि मादृशाम् अवशास्तथापि कथयामि किञ्चन ।

क्षितिपालमौलिमणिवेणिकातिथेस्तव केन शासनमिदं विलङ्घयते ॥ ७ ॥

इस विषय में मुझ जैसे लोगों का मौन रहना ही ठीक है । फिर भी लाचारी से कुछ कहता हूँ । क्योंकि समस्त बड़े-बड़े राजाओं के सिर पर की वेणिका का आतिथ्य स्वीकार करने वाले अर्थात् समस्त राजा लोग अपना मस्तक जिसके सामने झुकाते हैं, ऐसे आपकी आशा का उल्लङ्घन करने की शक्ति किसकी है ? ॥ ७ ॥

प्रथम हि मण्डलमखण्डशक्तिभिर्विजिगीषुभि स्वमभित प्रसाध्यते ।

परमण्डले तदनु नीतिपारगैरवनोपुरन्दरं कर प्रसार्यते ॥ ८ ॥

हे घरती के इन्द्र ! अखण्ड शक्तिशाली, विजय की इच्छावाले नीति-निपुण राजाओं को सर्वप्रथम अपने आस-पास के मण्डल (शक्ति) को साधना चाहिए, तब उसके बाद दूसरे मण्डल को अपनाने के लिए हाथ बढाना चाहिए ॥ ८ ॥

तद्पास्तमेवमवितर्कितोत्थिते परिपन्थिनामिह विधेयवस्तुनि ।

यदि नामप्रिप्यदभिमानशालिनस्तत्र राज्यमुद्धृतसमस्तकण्टकम् ॥ ९ ॥

जिसकी कमी कल्पना भी नहीं की गयी थी अर्थात् अचानक अगर कोई शत्रुओं से सम्बद्ध बात खड़ी हुई तो उसके निवारण आदि कार्य में आपने कमी देर न कर उसका निवारण किया है । यदि ऐसा न हुआ होता तो अभिमानशाली आपका राज्य समस्त शत्रुरूपी कण्टकों से रहित न हो सकता ॥ ९ ॥

अतःशक्तिसङ्कलितमत्र निश्चयैरुपलब्धपद्गुणविवेकवर्त्मभिः ।

संदुपायतत्त्वमधिगम्य धूः क्षितेस्तत्र मन्त्रिभिर्नृप दुःखदोह्यते ॥ १० ॥

हे नृप ! अध्ययनशील, राजशक्ति और मंत्रशक्ति का निश्चय करने वाले, तथा उससे प्राप्त षड्गुणरूपी विचार-मार्ग पर चलने वाले आपके मन्त्री लोग राजसत्तारक्षण के सभी उपायों को जानकर ही तुम्हारी शासित धरती के (राजमार) भार को दो रहे हैं ।

विमर्श—आपके मन्त्री आपकी अनुपस्थिति में भी आपके राज्य का सारा काम सुचारु रूप से चला रहे हैं । राजशास्त्र के बल पर उन्होंने राजनीति के तमाम मन्त्रों को जान लिया है । और किस जगह वैसा व्यवहार करना, इस बारे में भी वे निश्चयी हैं । राजनीति के गुणों का कहाँ किस तरह प्रयोग करना—यह बात भी उन्हें विदित है ॥ १० ॥

अतिसान्द्रकाञ्चनमरीचिपिङ्गलं दिग्गुपाहितप्रचुरपत्रशोभिणः ।

तत्र कोशमुत्सृजति न क्षणं रमा परमारवंशसरसीसरोरुहः ॥ ११ ॥

हे परमारवंशरूपी तडाग के कमल ! चारों दिशाओं से प्राप्त किये हुए नाना प्रकार के श्राण तथा वाहन आदि से सुशोभित आपके, घने स्वर्ण-किरणों से पीत वर्णवाले कोश को लक्ष्मी क्षणभर के लिए भी नहीं त्यागती है ॥ ११ ॥

प्रियकीर्तयो जयपवित्रिताशयास्तरसा तृणीकृतजगत्त्रया युधि ।

जगतीविशेषक तवानुजीविनो निवसन्त्यवन्तिविषये सहस्रशः ॥ १२ ॥

हे जगत् के तिलकभूत राजन् ! विजय (की भावना) से जिनके हृदय पवित्र हैं, ऐसे तथा, कीर्ति चाहनेवाले, युद्ध में वेग से तीनों जगत् को तिनके के समान समझने वाले, आपके सहस्रों सेवक उज्जयिनी में रहते हैं ॥ १२ ॥

पृथिवीभृतः प्रथितविक्रमेण ते गमितास्त्वया वशमुपायसम्पदा ।

नयवर्त्मगाः क्षितिपते तवान्यथा न भवन्ति भाविसमराभिःशङ्कया ॥ १३ ॥

उपाय-सम्पत्ति से जिन राजाओं को प्रसिद्ध पराक्रम वाले आपने अपने वश कर लिया है, न्यायमार्ग पर चलते हुए वे विरोधी राजा भी हे राजन् ! भविष्य में होने वाले युद्ध की शंका करके तुम्हारे विरोध में नहीं उठेंगे ॥ १३ ॥

अपकर्तुमत्र समये तवात्तभीर्मनसापि हूणनृपतिर्न वाञ्छति ।

इभकुम्भभित्तिदलनोद्यमे हरेर्न कपिः कदाचन सटां विकर्षति ॥ १४ ॥

इस समय आपसे डरा हुआ हूणराजा मन से भी आपका कुछ अपकार करना नहीं चाहता, मदोन्मत्त हाथियों के गण्डस्थलों को फाड़ते समय शेर की जटा को क्या कभी बन्दर खींचता है ? ॥ १४ ॥

असितकान्तिजालजटिलाप्रवाहना रणसीम्नि नाथ ! निहतेषु भर्तृषु ।

भवताऽत्र वागद्वधूजनं कृतो रतिसन्धिविप्रदक्यापराङ्मुखः ॥ १५ ॥

श्यामवर्ण की कान्ति के समूह वाली तलवारों से जिसके हाथों के भागे का भाग व्याप्त हो गया था, ऐसे आपने रणभूमि में वागद्वाराज के लोगों को मारकर उनको वधुओं को रतिक्रीड़ा की संधि विग्रह सम्बन्धी बातों से भी विमुख कर दिया ।

विमर्श—रतिकाल में जो मान, राग आदि होता है, यह अब नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

अधुनापि देव मुरलाङ्गनापनैविजयपरास्तिरिज लिख्यते तत्र ।

गलदम्बनान्ध्रुपृषताखलिच्छलालसदिन्दुपाण्डुषु कपोलमितिषु ॥ १६ ॥

हे राजन् ! आश्रमी मुरल देश की नारिया उहट हुए कज्जलयुक्त आँसुओं की विन्दुपक्षि क बहाने अपने सफेद कपोलों पर मानो स्याही से आपके विजय की गाथा लिख रही हैं ॥ १६ ॥

रभसादपान्य मणिकङ्कणावली कनकारविन्दकटकेषु तेऽसिता ।

न किमर्पितानि नृप लाटयोपितां स्फटिकाक्षसूत्रवलयानि पाणिषु ॥ १७ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी तलवार ने मणिकणों को भटके से दूर करके और पीतकमलों के समान सुनहले वलयों की जगह क्या लाट देश की स्त्रियों के हाथों में स्फटिकयुक्त रुद्राक्ष की मालाये न पहना दीं अर्थात् उनके पतियों को रण में मारकर उन्हें वैधव्य प्राप्त कराकर योगियों का जीवन बिताने में द्रुम कारण हुए हो ॥ १७ ॥

नयनाम्बुभि स्नपितधूसराधरा प्रतिवद्रक्षमालिनैकवेणय ।

निहिता न किं महति शोकसागरे जगतीन्द्र कौशलपते पुरन्ध्रय ॥ १८ ॥

हे जगत् के इन्द्र ! कौशल देश के राजा की शत्रुओं को आँसुओं से मलिन श्रधरो वाली सखी और मलिन बेथी बांधने वाली बनाकर क्या आपने महान् शोकसागर में नहीं डुबो दिया ? ॥ १८ ॥

उदितेन वैरितिमिरद्रहाऽमितस्तत्र नाथ विक्रममयूरमालिना ।

गमिता प्रभाजलयशूयता झटित्यपरान्तपार्थिवयधूमुसेन्दव ॥ १९ ॥

हे नाथ ! चारों ओर से वैरी रूपी अन्धकार ने छाये द्रोह करने वाले तुम्हारे विक्रम रूपी सूर्य ने उदित होकर क्या अपरान्त राजाओं की वधुओं के मुख-वद्रमाओं को शीघ्र ही कान्तिसमूह से शून्य न कर दिया ? अर्थात् क्या वैरियों का नाश करके उनकी स्त्रियों के मुख की शोभा न छीन ली ॥ १९ ॥

अतिप्रेलमुत्तरदिगन्तवर्तिना सभरप्रमाभ्युदितर्धर्मिन्दुना ।

शरदिन्दुर्निर्मलमपायि भूभृताम् असिपत्रपात्रपतित त्रया यश ॥ २० ॥

उत्तर दिशा के अन्त तक व्याप्त यश वाले, युद्धस्थल में परिश्रम से उत्पन्न पसीने से सने हुए आपने अपनी तलवार की धार से क्या शत्रु राजाओं के बड़े-चढ़े शरदकालीन चन्द्रमा के समान स्वच्छ यश को दूर नहीं किया ? अर्थात् किया ही ॥ २० ॥

निजरन्ध्रगोपनपटीयसाऽभितः पररन्ध्रदृष्टिपटुचारचक्षुषा ।

नयभिन्नसाहसभुवा भुवस्तले भवता समं कथय को विरुद्धयते ॥ २१ ॥

अपने छिद्रों अर्थात् कमजोरियों को गुप्त रखने में चतुर, तथा दूसरों के गुप्त रहस्यों का चतुर गुप्तचरों द्वारा पता रखने वाले, न्याय से पूर्ण साहस-वाले आपके साथ कहिये, इस धरती पर कौन विरोध कर सकता है ? ॥ २१ ॥

नरदेव दैवमधिकृत्य या विपन निपतत्यवन्तिविपये कथञ्चन ।

शिखिमुत्तमन्त्रहविषा विहन्यते तव सा वसिष्ठमहसा पुरोधसा ॥ २२ ॥

हे नरेश ! यदि भाग्यवश अवन्ति देश पर कोई आपत्ति आ भी गई तो तुम्हारी उस आपत्ति को अग्नि में मन्त्रपूर्वक हवि छोड़ने वाले, महर्षि वशिष्ठ के समान तेजवाले आपके पुरोहित दूर कर देते हैं ॥ २२ ॥

नृप वासराणि निरुपप्लवाः प्रजाः सुखमात्मकर्मणि रता नयन्ति यत् ।

विजयं जयैकसुहृदोऽस्य सर्वदा ननु कार्मुकस्य तव सद्विजृम्भितम् ॥ २३ ॥

हे राजन् ! आज तुम्हारे राज्य में निरुपद्रवी प्रजाजन सुख-शान्तिपूर्वक अपने-अपने कामों में जो लगे हैं, जो सुख से दिन बिता रहे हैं, यह हमेशा विजय ही प्राप्त करने वाले आपके इस धनुष का ही जृम्भण अर्थात् प्रवल प्रताप है ॥ २३ ॥

इति किञ्चिदेव न तव स्वमण्डले नृप चिन्त्यमस्त्युदितशक्तिसम्पदः ।

अधुना तु नीतिनिहितेन चेतसा फणिलोककृत्यमिदमेव चिन्त्यताम् ॥ २४ ॥

श्रीमान्, जिसकी शक्ति-सम्पत्ति पूर्व उदित है, ऐसे आपके अपने राज्य में कोई चिन्ताजनक बात अब नहीं रह गई है। अतः अब तो न्यायपूर्ण दृष्टि से आपको पाताललोक के इस कार्य के विषय में ही विशेष विचार करना चाहिए ॥ २४ ॥

प्रभुशक्तिरुद्यमपरत्वमर्पितत्रिजगच्चमत्कृतिरहङ्कृतिश्च सा ।

असुरस्य तस्य कथिता नरेन्द्र ते नगरी च मेकलनगेन्द्रकन्यया ॥ २५ ॥

मेकलनद्रकन्या नर्मदा ने उस दैत्य वज्रांकुश की प्रभुशक्ति (सेना, क्रोध आदि), उद्यम पूर्वक कार्य करने का लगन और तीनों लोकों को चमत्कृत करने वाले उसके अहंकार तथा उसकी नगरी के सम्यन्ध में आपको सब कुछ बता ही दिया है ॥ २५ ॥

अभिगम्य एव स तवाधुना रिपुर्मरुतामुदारनिजकार्यसिद्धये ।
श्रुतिलग्नगन्धगजवृद्धित^१ क्षणं नृप केसरी कथय किं विलम्बते ॥ २६ ॥

हे राजभेष्ट ! अपने पवित्र कार्य की सिद्धि के लिए आपको अब देवताओं के शत्रु उस असुर पर आक्रमण कर ही देना चाहिए । इसमें देर नहीं करनी चाहिए । जिसके कानों ने गन्धगज को चिंगाड़ सुन ली है, ऐसा सिंह उस हाथी पर आक्रमण करने में क्या क्षण भर का भी विलम्ब करता है अर्थात् अब तुम उस पर आक्रमण करने में देर न करो ॥ २६ ॥

ननसाहसाङ्क न तवामुरादहं कलयामि सम्प्रति किमप्यतादृशम् ।
विधुति^२ षडाचन रिमो न भूसृत कलवि^३ कृपक्षपत्रनेन शङ्कते ॥ २७ ॥

हे ननसाहसाङ्क ! उस दैत्य से आपके लिए मैं किसी प्रकार का विपत्ति नहीं समझ रहा हूँ अर्थात् वह दैत्य सम्प्रति आपका कुछ भी नुकसान नहीं कर सकता । एक य कश्चित् चटक (गौरैया) पक्षी के पंखों की हवा से पर्वतों के हिल जाने की शङ्का भी नहीं की जा सकती ॥ २७ ॥

भवता यदोच्चलित एष दक्षिणश्चरणस्तदैव सुरवैरियोपिताम् ।
विगलन्ति देव नयनोदग्निन्दव शरदिन्दुपाण्डुनि कपोलमण्डले ॥ २८ ॥

हे देव ! आप जब (आक्रमण के लिये) केवल अपना दाहिना पैर उठा लेते हैं, उसी समय देवताओं से बैर करने वाले दैत्यों की स्त्रियों के शरदकालीन चद्रमा के समान स्वच्छ गालों पर आशुओं की बूँदें छलकने लगती हैं ॥ २८ ॥

विजयैकसञ्चानि गुण शरासने तव यावदत्र न नृपाधिरोहति ।
सुहिनच्छटाभवलचामरस्मिता विलसन्ति तावदसुरपत्नये श्रिय ॥ २९ ॥

जब तक विजय के एकमात्र स्थान आपके इस धनुष की प्राथम्या लौची नहीं गयी है, तभी तक असुरों के घरों में हिम की भाँति श्वेत चँवरों के समान स्मित वाली स्त्रियाँ या सम्पत्तियाँ शोभायमान हैं ।

त्रिमर्श—उसके बाद तो वहाँ सारा वातावरण नि भीक हो जाता है ॥ २९ ॥

वनकारिन्दमरविन्दलोचन प्रणयेन नैव स समर्पयिष्यति ।
सुरनिर्जयाजितमदावृतेऽन्तर लभते न ताम किल तादृशा हृदि ॥ ३० ॥

हे कमल के समान नेत्रवाले राजा ! वह प्रेमभाव से स्वर्णकमल को तुम्हें नहीं देगा । क्योंकि देवताओं पर विजयी होने के कारण मदपूर्ण ऐसे लोगों के हृदय में शान्ति की बात के लिए कोई स्थान नहीं होता अर्थात्

१ वृद्धित करिगर्जितम्—अमरकोश ।

२ चटक कलविङ्क तथात्—अमरकोश ।

वह सामोपाय से कभी नहीं मानेगा । उस स्वर्णकमल को प्राप्त करने के लिए तुम्हें दण्ड का उपयोग करना पड़ेगा ॥ ३० ॥

भवतः कुतोऽपि नृप यावदागमं न स वेत्ति तावदभियोक्तमर्हसि ।

सहसाऽन्यथा रहसि मन्त्रिवोचितः परितः स्वदुर्गघटने यतिष्यते ॥ ३१ ॥

वह जब तक आपके आगमन (आक्रमण के लिए) के विषय में नहीं जानता अर्थात् आप उस पर आक्रमण करने वाले हैं, इस बात में वह जब तक देखबर है, तब तक आपको शीघ्र उस पर आक्रमण कर देना चाहिए । नहीं तो फिर मन्त्रियों द्वारा इस रहस्य से एकाएक अवगत कराने पर वह चारों तरफ किले को मजबूत बनाने में लग जायगा ॥ ३१ ॥

कृतनूतनार्गलकपाटसम्पुटां सुभटैरुदायुधकरैरधिष्ठातम् ।

परितः सुखातपरिरवां पुनः पुरीं रचितैकदुर्गमपथां विधास्यति ॥ ३२ ॥

फिर वह अपनी नगरी के नई अर्गला वाले किवाड़ों को बन्द कर देगा, जहाँ-तहाँ अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित वीर पुरुषों की नियुक्त कर देगा, नगरी के चारों ओर अच्छी प्रकार से खाई खोदकर उसे घेर देगा । इस तरह वह अपनी नगरी को अत्यन्त कठिन मार्ग वाली बना देगा ॥ ३२ ॥

वलितेऽपि किञ्चन धनुःपरिग्रहे भुवनत्रयप्रथितसाहसे त्वयि ।

अपि जायते धृतिविपर्ययो हरेरसुरेषु कैव गणना तपस्विषु ॥ ३३ ॥

तीनों भुवनों में प्रसिद्ध साहस वाले आपके अपने धनुष को संभालते ही तो भगवान् विष्णु भी घबड़ा उठते हैं अर्थात् उनका भी धैर्य छूट जाता है, फिर उन वेचारों दैत्यों की तो गिनती ही क्या है ॥ ३३ ॥

नियतं नरेन्द्र विदधत्फलामणिस्फुरदंशुसूत्रितनवातपं नभः ।

सुरवैरिवीर्यदृढमत्सरं पुरः फणिसैन्यमाजिभुवि ते भविष्यति ॥ ३४ ॥

हे नरेन्द्र ! यह निश्चित है कि अपनी फणाओं की मणियों से निकलनेवाली कांति से आसमान को प्रदीप्त करने वाले दैत्यों के पराक्रम से अत्यन्त द्वेष रखने वाले, नागों की सारी सेना के साथ यह पातालपुरी भी युद्धस्थल में आपके साथ होगी ॥ ३४ ॥

अधुनैव तेऽत्र निजतां व्रजन्ति वा सुभटाः स्वयं विधिवशेन केचन ।

कपयः पुरा रघुपतेर्यथा वने हनुमत्पतङ्गतनयाङ्गदादयः ॥ ३५ ॥

इसी समय कुछ अन्य वीर भी स्वयं ही और कुछ भाग्यवश आपके पक्ष में हो जायेंगे । जैसे वन में रामचन्द्र के साथ हनुमान, सुग्रीव अङ्गदादि हो गये थे ॥ ३५ ॥

यदुदीरितश्च पुरुकुत्सकान्तथा सरिताऽसि बहुमुनिदर्शनम्प्रति ।

प्रतिभाति किञ्चन ममैव तत्र ते किमु निर्मुखेज्जितविदस्तदिज्जितम् ।

पुरुवरस की स्त्री नदी नर्मदा ने कङ्कुमुनि के दर्शन के विषय में जो कुछ भी तुमसे कहा है, उसमें मुझे कुछ सार मालूम होता है । मुँह से कुछ न बोले जागे पर भी केवल इशारों को भी समझने वाले आपके लिए वह जरूर कोई इशारा ही रहा होगा ॥ ३६ ॥

अययैक एव विभुरस्यरेवधे ननु धाम तन् स्फुरति शार्ङ्गिणस्त्वयि ।

वदितक्रुधस्त्रिपुरदाहदम्बरे शरतामयाप किल यन् पिनाकिन ॥ ३७ ॥

अयग एक अकेले आप ही शत्रु का नाश करने में पूर्ण समर्थ हैं । आप में भगवान् विष्णु का वही तेज विद्यमान है, जो त्रिपुरासुर का नाश करते समय अत्यन्त क्रुद्ध हुए भगवान् शिव का बाण हो गया था ।

त्रिमूर्ति—त्रिपुरासुर का नाश करने अब भगवान् त्रिपुरारि प्रवृत्त हुए, उस समय भगवान् विष्णु ने स्वयं अपना तेज उनके बाण में सक्रान्त किया था, ऐसी पौराणिक कथा है ॥ ३७ ॥

अग्लोकयाभि शकुन यथा तथा तद्वैमि पद्मलटश समान्तरे ।

न चिरादुपोढपुलकेन पाणिना कनकारविन्दमयतंसयियसि ॥ ३८ ॥

जैसे जैसे मैं होनेवाले सगुनों पर विचार कर रहा हूँ, वैसे वैसे मेरी समझ में यह आ रहा है कि आप अवश्य शीघ्र ही अपने रोमाञ्चित हाथ मे समा के बीच ही, सुन्दर पलकों वाली उस शशिप्रभा को स्वर्णकमल से विभूषित कर देंगे ॥ ३८ ॥

त्वमिहैव नाथ मणिधाम्नि तिष्ठ वा नहि नाम सादृशमिदप्रयोजनम् ।

असुर निहत्य सहसैव तक्षणाद् अहमग्नियामि तपनीयपङ्कजम् ॥ ३९ ॥

अथवा आप इसी मणिमयन में डहरें । यह कोई ऐसा बड़ा भारी काम नहीं है । मैं ही सहसा क्षणभर में उस दैत्य को मारकर उस स्वर्णकमल को ले आता हूँ ॥ ३९ ॥

विजयी यदस्मि सप्त्ररेषु जित्वर प्रभवन्ति तत्र तव पादपासव ।

अरुणो यदन्धतमस निषेधति स्फुरित नराधिप तदर्कतेजसाम् ॥ ४० ॥

हे राजन् ! मैं युद्ध में जो सदैव विजयी होता रहा हूँ, वह आपके चरणों की धूलि का ही प्रभाव है । अरुण जो अन्धकार को नष्ट करता है, उसमें भी तो सूर्य के तेज का ही प्रभाव है ॥ ४० ॥

नायकवाक्यम्

सिन्धुराज का कथन

मसृणोक्तिपल्लवितनीतिविज्रमक्रमित्युदीर्य विरते रमाह्वदे ।

स सरस्वतीमुग्गररत्ननूपुरध्वनिपेशलं नृपतिराददे वच ॥ ४१ ॥

मृदु उक्तियों से राजनीति और पराक्रम के परस्पर क्रम (औचित्यानौचित्य) आदि को बतलाते हुए जब रमाङ्गद अपना कथन कहकर चुप हो गया, तब सरस्वती (वाणी) के मंजुल नाद करते हुए पैंजन की ध्वनि के समान मधुर वचन राजा ने कहे ॥ ४१ ॥

त्वद्वृत्ते मुखात् सुखनिरस्तसंशयप्रसरेयमुल्लसति कस्य भारती ।

शशलक्ष्मणः परमखर्वशर्वरीतिमिरच्छिदुच्छलति कान्तिकन्दली ॥४२॥

अच्छी तरह से जिसने संशयो दूर किया है, ऐसी निदुष्ट वाणी तुम्हारे सिवाय और किसके मुख से निकल सकती है ? रात्रिजन्य अत्यधिक अन्धकार को दूर करने वाली चन्द्रमा की कान्ति के अतिरिक्त और किसकी कान्ति उल्लसित हो सकती है ?

विमर्श—रात्रि के भयानक अन्धकार को चन्द्र-प्रकाश के अतिरिक्त और कोई दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह प्रौढ वाणी तुम्हारे सिवा और कौन कह सकता है ? ॥ ४२ ॥

तव वेद्मि पौरुषमहं त्वया विना न वपुःस्थितिं क्वचन कर्तुमुत्सहे ।

धनुषीव दीर्घगुणसङ्गते यतस्त्वयि मे दृढप्रणयवासितं मनः ॥४३॥

मैं तुम्हारे पुरुषार्थ को जानता हूँ । तुम्हारे विना तो मेरी शरीर-स्थिति भी नहीं हो सकती अर्थात् विना तुम्हारी सम्मति और सहायता के मैं किसी काम को करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता । जिस प्रकार मौर्वी से युक्त धनुष पर मेरा मन रहता है, उसी प्रकार महान् गुणों से युक्त तुम्हारे प्रति मेरा मन आसक्त रहता है ।

विमर्श—नीतिशास्त्र का नियम है कि राजा का अस्त्रबल तथा मन्त्रिवल दृढ़ रहना चाहिए । प्रस्तुत में भी राजा का अपने धनुष पर अपार प्रेम व्यक्त होता है । साथ ही मन्त्री पर भी उसका मन विश्वस्त है, इस वर्णन से राजा की योग्यता तथा शक्तिशालिता अभिव्यक्त होती है ॥ ४३ ॥

गमने तदेहि सहितौ यतावहे ह्यटिति त्रिविष्टपरिपोः पुरीम्प्रति ।

अपदे यदुद्यमकथाविरोधिनी नाह सिद्धये भवति दीर्घसूत्रता ॥४४॥

तो आओ, हम दोनों साथ ही तुरत उस देवताओं के शत्रु की नगरी की ओर जाने का प्रयत्न करें । व्यर्थ की दीर्घसूत्रता उद्योग में बाधा डालने वाली होती है, जिससे कि कोई भी सिद्धि (कार्यसिद्धि) नहीं हो सकती ।

विमर्श—कार्य के उद्योग में बाधक बनने वाली दीर्घसूत्रता जो कि अस्थान तथा अकाल में ही की गई हो, कार्यसिद्धि में खलल डालती है । अतः अब इस विषय में अधिक विचार न कर हमें कार्यारम्भ कर देना चाहिए ॥ ४४ ॥

शुक्रनाम्यम् तोते का वचन

इति पार्श्ववतिनमुदीर्य मौनवान् अवदत् स मालवकुरङ्गलाञ्छन ।

त्वरयाऽवतीर्य स च रत्नपञ्चरात् पुरतः शुक्रोऽस्य पुनरित्यभाषत ।

इस प्रकार अपने साथी रमाङ्गद से कहकर जब वह मालवराजेन्द्र नवसाहसाङ्ग मौन हो गया, तब उसी समय रत्नञ्जटित पिंजरे से निकल कर सीमा ही उस तोते ने (जिसका प्रसङ्ग पहले आ चुका है) राजा से यों कहा ॥ ४५ ॥

शृणु शतचूडशुचिषशभूरहं नृप रत्नचूड इति नामदारक ।

उदपादि कण्ठमुनिशिष्यशापतः शुक्रता मयेयमनिमीलितस्मृति ॥ ४६ ॥

हे राजन् ! सुनिये, मैं शतचूड के पवित्र वश में पैदा हुआ एक नाम पुत्र हूँ । मेरा नाम रत्नचूड है । कश्यपमुनि के शिष्य के शाप से मैंने तोते की यह योनि पाई है । इस योनि में भी मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई है ॥ ४६ ॥

प्रणयोक्तिभिर्मुनिरथ प्रसेदिवान् इति मे स शापतिमिराधि व्यधान् ।

वशिना रूपो मतिषु नाऽसते चिरं जल त्रिप्रप^१श्च नृप सस्यसूचिषु ॥ ४७ ॥

फिर मेरी भक्तियुक्त तथा मीठी वाणी से मुनि प्रसन्न हुए और उन्होंने मेरे इस शापरूपी अधिकार के दूर होने की एक समयावधि बाँची अर्थात् एक समय तय कर दिया । ठीक ही कहा है, समयी महापुरुषों की बुद्धि में क्रोध उसी प्रकार देर तक नहीं टहर सकता, जैसे घान की बाली पर पानी की बूँदें ज्यादा देर तक नहीं टहर पाती ॥ ४७ ॥

त्वमफल्गु नेध्यसि शशिप्रभान्दिक नवसाहसाङ्गनृपतेर्यदा वच

नियत भविष्यति तदा कुमार ते शुक्ररूपपरिषर्तनोत्सव ॥ ४८ ॥

उन्होंने मुझसे कहा कि जब तुम राजा नवसाहसाङ्ग के सार्थक वचनों को शशिप्रभा के पास तक ले जाओगे अर्थात् राजा के सत्यवदेश को शशिप्रभा तक पहुँचा दोगे, तब हे बालक ! निश्चित ही तुम्हारे इस तोते के रूप का रूपान्तर हो जायगा अर्थात् फिर तुम अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाओगे ॥ ४८ ॥

तदनङ्गपक्षरा सन्दिश स्वयं शनकै किमप्युरगवालि कान्प्रति ।

हृदि यन्निधाय सहसैव याम्यह फणिनामनम्रमणितो^२ रणा पुरीम् ॥ ४९ ॥

हे कामदेव के छूटे वाणस्वरूप राजन् ! तुम स्वयं ही नागकन्या

१ शृण्वन्ति रिन्दुष्वता गुमांसो विप्रुष स्त्रियाम्—अमरकोश ।

२ तोरणोऽस्ती बहिर्द्वारम्—अमरकोश ।

के लिए शीघ्र कोई सन्देश दो, जिसे अपने हृदय में रखकर मैं नागों की ऊँचे-ऊँचे मणिजटित द्वारों वाली नगरी में जाऊँ ॥ ४६ ॥

अयि मौनमेतदवनीन्द्र मुच्यताम् द्रुतमुच्यतां च किमियं मयि त्रपा ।

पृथगस्मि देव नहि ते परिच्छदात् उचितं न तन्मयि रहस्यगोपनम् ॥ ५० ॥

राजन् अब अपना यह मौन तोड़िये, शीघ्र ही कुछ कहिए । मुझसे इतनी लजा क्यों ! हे देव, मैं आपके सेवक परिजनों से बाहर नहीं हूँ, इसलिए मुझसे अपने रहस्य को छिपाना ठीक नहीं है ॥ ५० ॥

नायकवाक्यम्

इति वल्गु जल्पति शुकेऽथ विस्मयात् अपि विस्मयं परमवाप पार्थिवः ।

अवदच्च पञ्जरमिवास्य कल्पयन् दशानांशुभिः स्फटिकसूचिकोमलैः ॥ ५१ ॥

नायक का वाक्य

इस प्रकार जब वह तोता आश्चर्यपूर्वक बोल रहा था, उस समय राजा को और भी अधिक आश्चर्य हुआ । फिर अपने दाँतों की उज्ज्वल कान्ति से उस सुग्गे के चारों तरफ स्फटिक-शलाकाओं का पिञ्जरा सा बनाते हुए राजा ने कहा ।

विमर्श—जब राजा बोलने लगा, तब उसके दाँतों की किरण-पंक्तियाँ सुग्गे के आस-पास चारों तरफ छिंटकीं, जिससे ऐसा मालूम पड़ रहा था कि उस सुग्गे के चारों तरफ मानो स्फटिक-शलाकाओं वाला पिंजड़ा तैयार हो गया हो ॥ ५१ ॥

विपदं विलोक्य तव दुःसहामिमाम् अयि रत्नचूड मम दूयते मनः ।

पतितं कुकूज दहने न कस्य वा मृदुमालतीमुकुलमाल्यमाधये ॥ ५२ ॥

हे रत्नचूड़ ! तुम्हारी इस भयंकर असह्य विपत्ति को देखकर मेरा मन अत्यन्त दुखी हो रहा है । भला कोमल मालती की कलियों की माला को आग में दहकते देखकर किसकी मनोव्यथा चीत्कार न कर उठेगी अर्थात् किसे ग्लानि नहीं होगी ? ॥ ५२ ॥

नायिकां प्रति सन्देशः

घटितं विधेरिदमजयमावयोर्न रमाङ्गदान्मम सखेऽतिरिच्यसे ।

इदमार्यं तत्त्वयि विमुक्तयन्त्रणो ननु सन्दिशामि हरिणीदृशम्प्रति ॥ ५३ ॥

नायिका के लिये सन्देश

हे मित्र ! भाग्यवश ही हम लोगों की यह मित्रता हुई है, मेरे लिये तुम रमाङ्गद से कुछ कम नहीं हो । इसीलिए हे प्रिय ! मैं निःसंकोच तथा यन्त्रणा

रहित होकर तुम्हें उस हरिणी के समान नेत्र वाली (शशिप्रभा) को बताने के लिए कुछ सन्देश देता हूँ ॥ ५३ ॥

विरतेऽपि मेघतिमिरे नटाङ्गि मे न गतासि लोचनपथ यदा तदा ।

फणिलोकभूमिमतिदुर्गमामिमाम् अविश तवानुपदमेव सुन्दरि ॥ ५४ ॥

तुम शशिप्रभा से कहना कि ! “ह सुन्दर लचीले शरीर वाली ! जब बादलों के उस घने अंधेर के दूर हो जाने पर मैं तुम मुझे न दिखाई दी, तब मैं तुम्हारे पीछे पीछे ही नागों के इस भयानक दुर्गम लोक में आ पहुँचा ॥ ५४ ॥

नगरीं त्वदात्तहृदयोऽपि भोगिनाम् अहमागतो न मृगदीघलोचने ।

श्रुतये दुसूतिसरतितोन्यतो हृत सदस्य हेमशतपत्रयातया ॥ ५५ ॥

हे मृग के समान दीर्घ नेत्रवाली ! मैं तुम्हारे प्रति मेरा चित्त आसक्त होने पर भी नागों की इस नगरी में आकर भी तुम्हारे पास नहीं आया, किन्तु चन्द्रपुत्री नर्मदा से स्वर्णकमल की बात सुनकर अब मैं आया जा रहा हूँ ।

विमर्श—इससे राजा का केवल कामासक्तत्व नहीं प्रतीत होता, वह धीरोदात्त तथा आर्त्तनाथपरायण है, यह बात भी इससे व्यक्त होती है ॥ ५५ ॥

अतिपाटलाधरमवाश्रित द्विया स्मितकान्तिमन् स्तिमितरत्नकुण्डलम् ।

तदपाङ्गसङ्कलितलोचनोत्पलम् फणिलोककौमुदि मुररं स्मरामि ते ॥ ५६ ॥

हे नागलोक की चाँदनी ! लाल लाल ओठों वाले, लज्जा के कारण श्रवणत, मन्द मन्द मुस्कान से जिस पर कान्ति झलक रही थी, ऐसे निश्चल रत्नकुण्डल वाले तथा जिस पर कमलरूपी नयन सहस्र कटाक्षों से युक्त होने से आत्यधिक शोभित थे, ऐसे तुम्हारे मुख की मुझे सदैव याद आती रहती है ॥ ५६ ॥

द्वितये द्वयेन सहसोज्झितस्तदा शशिसूतिसिन्धुपुलिनोन्ने शर ।

जगदेकविभ्रममुवा भुजस्तले सुतनु त्वया मयि च पुष्पध्वना ॥ ५७ ॥

हे सर्वाङ्गसुन्दरी ! उस समय चन्द्रपुत्री नर्मदा के किनारे दो व्यक्तिवाँ ने ‘दो’ पर एक साथ ही बाण छोड़ा । सारे ससार की एकमात्र शमास्थान तुमने मूलतः पर और कामदेव ने मुझपर ॥ ५७ ॥

धृतमूमिहस्तनिग्रहेन रेवया ननु फेनकात्तिक्रमोर मे पतन् ।

विपये दृशोरुपदशी मन शिलालिखितैकहसमिथुन दयाशुकम् ॥ ५८ ॥

हे हस्तिछँड के समान जंघाओं वाली ! तरंगरूपी हाथों के समूह से रेवा-नदी ने फेन के समान श्वेत कान्तिवाले, मनशिला (मेनसिल) से उने

हुए हंस के जोड़ों से युक्त तुम्हारे जिस वस्त्र को पकड़ा था, वह वस्त्र मेरी आँखों के सामने ही दिखाई दे रहा है ॥ ५८ ॥

मणिकान्तिलुमतिमिरे रसातले भवतीमिहानुसरता तनूदरि ।
अवलोकितान्यथ मया पदानि ते सहसा सुवर्णसिकताङ्किते पथि ॥ ५९ ॥

हे क्षीण कटि वाली ! तुम्हारा पीछा करते हुए मैंने मणियों की कान्ति से जहाँ अन्धकार नष्ट हो गया था, ऐसे रसातल में सुनहले बालू वाले मार्ग पर तुम्हारे पदचिह्नों को देखा ।

विमर्श—बालुकामय प्रदेश पर पद-चिह्नों का उठ आना स्वाभाविक ही है । राजा जब पाताललोक में आया, तब उसने बालुई जमीन पर शशिकला के पदचिह्न देखे ॥ ५९ ॥

सरले झटित्युदितकार्श्यदोर्लतागलितानि रत्नवलयानि ते मया ।
कथमप्युदश्रुपतं पदे-पदे चकितेन चन्द्रमुखि वीक्षितानि च ॥ ६० ॥

हे चन्द्रमा के समान मुख वाली ! सरलहृदये ! दुर्बलता बढ़ जाने के कारण तुम्हारे हाथों से गिरे हुए रत्नजड़ित कंगनों को मैं बड़ी कठिनाई से आँसू पोंछ-पोंछकर पद-पदपर चकित होते हुए देखता रहा ।

विमर्श—विरहजन्य दुर्बलता के कारण कृशता आ जाना स्वाभाविक है । कृशता से हाथ में के कंगन गिर गये थे, जो राजा को रास्ते में मिले थे ॥ ६० ॥

मनसा किमालिखति कि समाचरत्यधुना किमिन्दुवदना च वक्तिसा ।
इति मेऽपदिश्य भवतीं प्रवृत्तया हृदयं सशल्यमिव हन्त चिन्तया ॥ ६१ ॥

वह चन्द्रमुखी मन में क्या सोच रही होगी, उसके मन में किसका ध्यान चल रहा होगा, क्या कर रही होगी, क्या कहती होगी—इस प्रकार की तुम (शशिप्रभा) से सम्बद्ध चिन्ता ने मेरे हृदय में एक काँटा सा चुभो रखा है । अर्थात् जबसे इस चिन्ता ने व्यापा है, तब से हृदय एक क्षण भर के लिए भी आश्वस्त नहीं है, बेचैन है ॥ ६१ ॥

परितापयत्यविरलोच्छलत्प्रभातुहिनच्छटाभिरसिताञ्जलोचने ।
शरदिन्दुदीधितिकलापसुन्दरस्तव द्वार एष हृदि सिञ्चतीव माम् ॥ ६२ ॥

बराबर निकलने वाली अपनी शीत कान्ति से जब यह चन्द्रमा जलाने लगता है, तब शरद्कालीन चन्द्रमा की किरण सा सुन्दर उज्ज्वल तुम्हारा यह द्वार ही मेरे हृदय को सान्त्वना देता है । चन्द्र आदि चीजें विरह में दाहक मानी जाती हैं, उस समय अपने प्रियजन सम्बन्धी कोई वस्तु पास रहे, तो वह आनन्द देती है, यह कविसमयसिद्ध बात है ॥ ६२ ॥

कथय प्रिये निहितसान्द्रचन्दनद्रव्यशीतलोज्ज्वलकरा कुचद्वये ।
मम हारयष्टिरपि सा सखीव किं मदनाभितापमपट्वकरोति ते ॥ ६३ ॥

हे प्रिये, बोलो । घने चन्दन का लेप करने से ठण्डी और उज्ज्वल किरणों वाली मेरी वह हारयाष्टि भी सखी की भाँति क्या तुम्हारी कामपीडा को कुछ दूर कर देती है ?

विमर्श—राजा ने अपना हार शशिप्रभा को दे रखा था, उसी के बारे में वह सन्देश देते समय कह रहा है कि क्या वह नायिका की कामपीडा को कुछ हल्का कर रहा है ॥ ६३ ॥

क्षणमप्यहो पतसि मे शुचिस्मिते न समुत्सुकस्य तत्र त्रिस्मृते पथि ।
सदिति प्रविश्य हृदये मयाऽग्न किं लिखितासि पद्मसुरि पुष्पयेतुना ॥ ६४ ॥

हे शुद्ध हास्यवाली । मैं उत्सुक हृदयवाला तो तुमको क्षण भर भी नहीं भूल सक रहा हूँ । हे कमलमुखी । क्या कामदेव ने मेरे हृदय में प्रवेश कर तुम्हारी मूर्ति मेरे हृदय में अङ्कित कर दी है ?

त्रिमश—नायिका का ध्यान नायक के हृदय से एक क्षण के लिए भी नहीं हट रहा है । ऐसा लग रहा है, जैसे कामदेव ने स्वयं उसके हृदय में प्रवेश कर नायिका की मूर्ति उसके हृदय पर खोद दी हो ॥ ६४ ॥

समुद्रद्वती स्त्रवदञ्जनाश्रुधारोत्करश्यामितकङ्कणेन ।

करारविन्देन सुरेन्दुविष्यम् आपाण्डुरक्षमकपोलमिति ॥ ६५ ॥

कुछ पीलापन लिये हुए और दुर्बल गाँवों वाले मुखचन्द्र को काजल के साथ बहते हुए काले आँसुओं के धारापुञ्ज से जिसके कङ्कण काले हो गये थे, ऐसे हाथ से पोछती हुई ॥ ६५ ॥

नये नये पङ्कजिनीपलाशमृणालहारादिसनाथपार्श्वे ।

प्रवत्सलीलास्तरणे निपण्णा सिंहासने ममथपाथिनस्य ॥ ६६ ॥

नये नये कमलिनी के पक्षे और कमल के डल के हार उसके भाग पास पड़े थे, ऐसे अतएव मूँगे के समान शोभायमान बिछोने पर वह देखी बैठी होगी, जैसे कामदेव रुपी राजा के सिंहासन पर ही विराजमान हो ॥ ६६ ॥

बालप्रमालाङ्कुरपाटलस्य लावण्यरत्नाकरकौस्तुभस्य ।

उदध्मणा निश्वसितेन कार्ति कदर्थयती दशनच्छदस्य ॥ ६७ ॥

कोमल मूँगे के अङ्कुर के समान लाल सौंदर्यसमुद्र के कौस्तुभमणित्वरूप ओठ को गहरी और गर्म श्वालों से मलिन करती हुई ॥ ६७ ॥

कलापकः^१

अनल्पसंकल्पविकल्पजाल-विलोडनैर्न स्वमपि स्मरन्ती ।
ससाध्वसेनाविरतं मया त्वम् उत्प्रेक्ष्यसे पद्मगराजपुत्रि ॥ ६८ ॥

कलापक

विभिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्पों के संघर्ष में पड़ी अपनी सुध-बुध भी भूली हुई, हे नागपुत्रि मैं तुमको धराया हुआ सा बराबर देखा करता हूँ ।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारी क्या स्थिति है, इस बारे में मैं बहुत शंकित रहता हूँ ॥ ६८ ॥

ब्रूमः कियन्नथ कथञ्चन कालमल्पम् अत्राञ्जपत्रनयने नयने निमील्य ।

हेमाम्बुजं तरुणि तत्तरसाऽपहृत्य देवद्विपोऽयमहमागत इत्यवेहि ॥ ६९ ॥

और क्या कहूँ, किसी न किसी तरह आँख मूँद कर थोड़ा सा समय और काट लो । हे कमल के समान नेत्रवाली, इस बीच शीघ्र हो उस दैत्य के पास से उस स्वर्णकमल को लेकर मुझे पास आया हुआ ही समझ लो ।

विमर्श—कुछ काल तक और धैर्य धारण किये रहो, तब तक मैं उस राक्षस को मार कर स्वर्णकमल तुम्हारे पास ले आऊँगा । ॥ ६९ ॥

भट्टैतद्ब्रज रत्नचूडनिविटप्रेमाद्रमस्मद्वच-

स्तस्यास्तत्र कुरङ्गशावकदृशः कर्णवितंसीकुरु ।

शापान्ते वत विस्मरिष्यसि यदि भ्रातस्तदेकं किम-

प्यादाय स्वयमेव तत्प्रतिवचः पार्श्वं ममाभ्येष्यसि ॥ ७० ॥

प्रिय रत्नचूड ! शीघ्र जाओ, घने प्रेम से परिपूर्ण मेरे इन वचनों (सन्देश) को हरिणी के बच्चे के समान नेत्रवाली उस सुन्दरी के कानों तक पहुँचा दो अर्थात् इन वचनों से उसके कानों की शोभा बढ़ाओ । यदि तुम शाप खत्म होने पर हमें भूल भी जाओ तो भी अवश्य ही उसके उत्तर को मेरे पास पहुँचा देना ॥ ७० ॥

इति नरपतेः स्वान्ते कृत्वा मनोमृगवागुरां

गिरमुदकमन्निस्त्रिशाभे नभस्यशनैः शुक्रः

चिरविनिहितां दृष्टिं तस्मान्निवर्त्य तथोत्सुको

झटिति गमने देवोऽप्यासीत्स साहसलाञ्छनः ॥ ७१ ॥

इति श्री मृगाङ्गदत्तसुनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य

वृत्तौ नवसाहस्राक्षरिते महाकाव्ये 'रत्नचूड-

सम्प्रेषणं' नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

१. जहाँ चार श्लोकों का अन्वय एक साथ हो, वहाँ कलापक होता है ।

इस प्रकार राजा की बात को मनरूपी मृग के लिए जाल बनाकर अर्थात् अपने मन को उस वाणी में अच्छी तरह बाँधकर, ताकि इधर-उधर का ध्यान न धाये, वह रत्नचूड़ तोता निर्मल आकाश में शीघ्र उड़ गया । तब (शशि-प्रभा-सगम के लिए) उत्सुक बने उस साहसाक राजा ने बहुत देर से उसकी ओर लगी अपनी दृष्टि को उसकी तरफ से हटाकर शीघ्र ही दैत्यराज के यहाँ जाने का विचार किया ।

चिन्तन—अर्थात् अब वह अपने कर्तव्य के बारे में सोचने लगा ॥ ७१ ॥

मुगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्त रचित

नवसाहस्राङ्कचरित महाकाव्य का रत्नचूड़

प्रेषण' नामक दसवाँ सर्ग समाप्त ॥१०॥

अथैकादशः सर्गः

शत्रुजयाथेप्रस्थानम्

शत्रु विजय के लिये जाना

अथ विभ्रत् सरागेण हृदयेन कृशोदरीम् ।

स प्रतस्थे महीनाथः करेण च धनुर्लताम् ॥ १ ॥

फिर राजा सिन्धुराज प्रेमपूर्ण चित्त में शशिप्रभा के स्वरूप को धारण कर और हाथ में धनुष की डोरी को थामकर वज्राकुश की ओर चल पड़ा

विमर्श—इस बात से स्पष्ट है कि उसके हृदय में उस सुन्दरी का ध्यान एक क्षण के लिए भी नहीं हटा है । पर वह अपने कर्तव्य में लगा है, यह बात भी स्पष्ट है ॥ १ ॥

इन्द्रनीलप्रतो'लीतः स निर्गच्छन् पतिः श्रियः ।

तत्कान्तिं श्यामतां गत्वा क्षणं कृष्णं श्वावभौ ॥ २ ॥

इन्द्रनील से बने गलियारों से जब वह शोभाशाली राजा गुजरने लगा, तब उस क्षण इन्द्रनील मणियों की कान्ति के प्रभाव से उसकी शोभा लक्ष्मी से सुशोभित भगवान् कृष्ण की तरह थी, उस समय वह कृष्णवर्ण का सा प्रतीत होने लगा ॥ २ ॥

आसन्नपद्मसरसा कुसुमानम्रशाखिना ।

स नर्मदोपदिष्टेन गन्तुं प्रवृत्ते पथा ॥ ३ ॥

तब वह राजा जिसके इधर-उधर कमल से भरे-पूरे तालाब शोभा पा रहे थे, जिसके समीपवर्ती वृक्षों की डालियाँ फूलों से लदी होने के कारण झुक गयी थीं, ऐसे नर्मदा के बंताये हुए उस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुआ ॥ ३ ॥

यान्तमेकान्तशिशिराः समीरास्तं सिपेचिरे ।

एला-लवङ्ग-कङ्कोल-जातीफलसुगन्धयः ॥ ४ ॥

इलायची, लौंग, सुपारी तथा तथा जायफल की सुगन्ध से युक्त वहती हुई अत्यन्त टंडी-टंडी हवा (के भोंको) ने प्रस्थान करते हुए उसके शरीर को शीतल किया ॥ ४ ॥

विमर्श—मन्द-मन्द शीतल समीर आदि का किसीके प्रधान के समय चलना शुभसूचक माना जाता है ॥ ४ ॥

चक्रुस्तस्यानिलस्पर्शवयणत्काञ्चनपस्तवा ।

मौक्तिकस्तत्रकस्मेरा विस्मय रत्नवीरुध ॥ ५ ॥

सुन्दर रत्नसमान पुष्पोवाली, वायु के स्पर्श से हिलने के कारण जिनके सोने के समान पीले पत्ते शब्द कर रहे थे, ऐसी तथा मोती के गुच्छ के गुच्छ खिलने के कारण जो स्मित करती हुई थी मालूम पड़ रही थी, ऐसी रत्न की लताओं ने सिंधुराज को विस्मित कर दिया ।

विमर्श—पाताल-लोक के ऐश्वर्यशालित्वातिशय को रताने के लिए कवि ने यह अतिशयोक्ति की उठान मरी है ॥ ५ ॥

अमन्दमारुताक्षेपमुक्तमुत्तफलच्छलात् ।

चलद्दशलना मूर्ध्नि तस्य लाजानिवाकिरन् ॥ ६ ॥

तेज हवा के झोंकों से हिलने के कारण गिरे हुए मातियों के बहाने, बाँस की चंचल लताओं ने मानो उसके ऊपर लावा गिरेखरी ।

विमर्श—अर्थात् बाँस के पेड़ों से मुक्ताफल गिर रहे थे, उसमें उत्प्रेक्षा यह की गयी कि वह लतायें राजा का मंगल मनाने के लिए मानो उसपर लावा की वर्षा कर रही हों ॥ ६ ॥

अगलन् कुमुदव्यापात् तन्मिभ्रभ्यर्णगामिनि ।

पातालकल्पशृङ्गाणामानन्दाश्रिता इव ॥ ७ ॥

जब राजा पेड़ों के पास से जाता था, तब उसके ऊपर फूलों के रूप में नागलोक के कल्पवृक्षों ने मानो आनन्दाश्रुओं की वर्षा की ॥ ७ ॥

अरविन्दमुखकोटव्रीहन्मुररपदपदा ।

अनामयमिवापृच्छत्तमभ्यागतमङ्गिनी ॥ ८ ॥

जिसके कमलों के भीतर बैठे हुए भीरे गुञ्जार कर रहे थे—ऐसी कमलिनी (कमललता) ने मानो उस अतिथि की कुशल-वार्ता पूछी ।

विमर्श—भीरे गूँज रहे थे, मानो इस बहाने राजा से कमलिनी ही उसका कुशल चेष्ट पूछ रही हो ॥ ८ ॥

शशिप्रभाक्षिप्रिस्तारसवादिन्य पदे पदे ।

त किमप्यार्द्रता निन्युररण्यहरिणीदृश ॥ ९ ॥

शशिप्रभा के नेत्रों की विशालता की बतलाने वाली अर्थात् शशिप्रभा के नेत्रों के समान ही बड़ी-बड़ी जंगली हरिणियों की दृष्टियों ने उसके हृदय को कुछ-कुछ शीतल किया ।

विमर्श—प्रेयसी के विरह में कातर राजा को तत्सदृश दृष्टि देखकर कुछ राहत मिलती थी ॥ ९ ॥

उपयुक्तामृतस्पर्धि नारिकेलफलोदकान् ।

आस्वादितलवङ्गैलापूगनागलतादलान् ॥ १० ॥

लौंग, इलायची, सुगरी, पान आदि का रसास्वाद लेता हुआ वह सिन्धुराज अमृत के साथ स्पर्धा करने वाले अर्थात् तत्सदृश नारियलों के पानी को भी पीता था ॥ १० ॥

शय्यीकृतातनुस्वर्णकदलीवालपल्लवान् ।

विप्ररीकृतविस्तीर्णचन्द्रकान्तशिलातलान् ॥ ११ ॥

बड़े-बड़े केले के खंभों के कोमल पत्तों को चिछौने की तरह और बड़ी-बड़ी चन्द्रकान्त-रत्न से शोभित चट्टानों को आसन की तरह उपयोग में लाता हुआ वह राजा चलने लगा ॥ ११ ॥

तत्कालोचितकर्तव्यव्यावृत्तैकरमाङ्गदान् ।

आवृत्तिविहितप्रेयः फणिराजसुताकथान् ॥ १२ ॥

उस समय (रास्ता काटने के लिए) करने योग्य अतएव रमाङ्गद द्वारा बार-बार कही गयी नागराजपुत्री की सुन्दर कथा को सुनता हुआ चला । बार-बार उन कथाओं की आवृत्ति होने से राजा को अच्छा लगता था ॥ १२ ॥

हृदयन्यस्तकर्पूरमृणालनलिनीदलान् ।

पुंस्कोकिलकुलोल्लापजनितस्मरसञ्ज्वरान् ॥ १३ ॥

कमलिनी के दलों के मृणालों को हृदय पर रखता हुआ, नर-कोकिलों के समूह की कूक से जहाँ कामपीड़ा उत्पन्न की जा रही थी, ऐसे मार्गों में विश्राम करता हुआ चला ॥ १३ ॥

जाम्बूनदलतागुल्मविहिताश्रयसौहृदान् ।

गच्छन् स तत्र कृतिचिन्निवासान् व्यधिताध्वनि ॥ १४ ॥

सुनहरी लतागुल्मों में विश्राम करने से उसने जिन रास्तों से दोस्ती कर ली थी, ऐसे उन रास्तों पर उसने कई जगह तम्बू डाले । अर्थात् रास्ते में कई जगह रुकता हुआ वह राजा अपने गन्तव्य स्थान की ओर जा रहा था ॥ १४ ॥

वङ्कुमुन्याश्रमप्राप्तिः

कुलकम्

सम्प्राप्य पृथिवीपालः कालेन कियताऽप्यथ ।

स कूलोपान्तविचरन्यङ्क वङ्कतपोवनम् ॥ १५ ॥

वङ्कमुनि के आश्रम का मिलना

इस प्रकार चलता हुआ नदीतट पर विचरण करता हुआ वह राजा कुछ समय पश्चात् वङ्कुमुनि के सुन्दर आश्रम में पहुँचा ॥ १५ ॥

आश्रमवर्णनम्

हृतं कुतूहलेनाऽल तदालोकनजन्मना ।

पतिं मध्यमलोकस्य त जगाद रमाङ्गद ॥ १६ ॥

आश्रम का वर्णन

उस आश्रम को देखने से उत्पन्न कौतूहल से खो व्याकृत कर लिया गया था, ऐसे उस पृथ्वीपति नवसाहसङ्ग को रमाङ्गद बोला ॥ १६ ॥

सीमा सती त्रिशन्दस्य सकुशाङ्काल्पपल्लवा ।

मैथिलीव श्रिय घसे कामप्याश्रमभूरियम् ॥ १७ ॥

कुश अर्थात् काँटों से अङ्कित छाटे-छोटे पत्तों वाली, (मुनिप्रताप के कारण) 'सती' इस शब्द की मानो सीमा अर्थात् अत्यन्त पवित्र यह आश्रम भूमि सीता की तरह किसी अनिर्वचनीय शोभा को धारण कर रही है ।

सीतापक्ष में—कुश नामक प्रिय पुत्र से जिसकी गोद भरी हुई है, (निर्वाचिता होने के कारण) जिसने पत्तों के अलङ्कार भी बहुत कम धारण किये हैं तथा जो स्वयं 'सती' इस शब्द की सीमा है, अर्थात् जिसमें भाकर वह शब्द समा जाता है—सीता से बढ़कर सती अन्य कोई नहीं हो सकती—ऐसी सीता के समान ॥ १७ ॥

इतो वान्ति हविर्धूमलतालास्यप्रदा इमे ।

मरुत पायना एकपुरोडाशसुगन्धय ॥ १८ ॥

हवन करते समय जो धूमलता ऊपर की ओर सीधी उठ रही थी, उसे फैपाने वाली तथा बके हुए हविष्माण की सुगन्ध से सनी ये पवित्र हवाएँ चल रही हैं ॥ १८ ॥

इतो हिरण्मयी भूमिस्तरनो हेमवल्कलाः ।

उन्निद्रहेमपद्मानि पयासीव पदे पदे ॥ १९ ॥

एक तरफ वह सुनहली भूमि, दूसरी तरफ सुनहली छालवाले पेड़ तथा जगह जगह पर विकसित स्वर्ण कमल वाला पानी ही पानी था ।

विमर्श—उस पाताललोक का यह सब प्राकृतिक सौन्दर्य तो बस देखते ही बनता था ॥ १९ ॥

काकपक्षोद्भूर्धानि पश्यैते गुरुशिक्षया ।

वटव स्रष्टयन्त्यत्र समिधश्च पदानि च ॥ २० ॥

जिनके चिर काव्यपक्ष से चिह्नित हैं, ऐसे बालबद्ध गुरु की आज्ञा और सीख के अनुसार एक ओर हवन के लिए लकड़ियों को तोड़ रहे हैं, और श्लोकों का पदच्छेद भी कर रहे हैं ।

विमर्श—जब बालक का पहली बार मुदन कराया जाता है, उस समय

सिर पर के बाकी सारे बाल छाँट दिये जाते हैं, पर सिर पर एक जगह थोड़ा सा बाल अवश्य रख छोड़ते हैं, यह प्रथा अब भी प्रचलित है। उन्हीं रखे हुए बालों के पुंज को 'कौवा' अर्थात् 'काकपत्' कहते हैं। वह बालक समिधायें भी तोड़ते जाते थे और साथ ही श्लोकों का पदपाठ आदि भी करते जाते थे ॥ २० ॥

अनया साम गायन्त्या स्वरसंशयवानयम् ।

इतः करोति कलहं शुकः सारिकया समम् ॥ २१ ॥

सामवेद की ऋचा गानेवाली इस कोयल के स्वर पर शंका करने वाला यह तोता तो देखो, इस कोयल से कलह कर रहा है ।

विमर्श—अर्थात् सामगायन करते-करते सारिका ने वहाँ स्वर की गलती कर दी है, ऐसी शंका समीपस्थ सुग्गे को होती है, और वह उसके साथ शास्त्रार्थ करने लगता है ॥ २१ ॥

इदमत्राद्भूतं पश्य मदक्लिन्नां गजस्य यत् ।

गण्डलेखां नखाग्रेण शनैः कण्डूयते हरिः ॥ २२ ॥

इधर इस आश्चर्यजनक दृश्य को तो देखो—मदजल से परिप्लुत हाथी की गण्डलेखा (मस्तक) को यह शेर अपने नाखूनों के अग्र भाग से खजुआ रहा है ॥ २२ ॥

प्रभामण्डलपर्यस्ततमसः शतशः पथि ।

तवापतन्ति पातालरवयोऽभी महर्षयः ॥ २३ ॥

अपने प्रभापुङ्ख से बराबर पथ के घोर अन्धकार को दूर करने वाले, पाताललोक के सूर्य के समान ये महर्षि लोग आप ही की तरफ आ रहे हैं ॥ २३ ॥

एषां द्वितयमेताभिः कपिलाभिरलङ्कृतम् ।

उटजप्राङ्गणं गोभिर्जटाभिरभितः शिरः ॥ २४ ॥

इन मुनियों की दो वस्तुएँ कपिलाओं अर्थात् कपिला नाम की गायविशेष तथा कपिशवर्ण) से समलङ्कृत हैं। कुटियों के अँगने गायों से तथा मस्तक कपिश जटाओं से ॥ २४ ॥

इतो गात्रपरावृत्तिभग्नास्थिपरुपेतान् ।

मुनेः शय्याकुशानन्ति बालः कस्तूरिकामृगः ॥ २५ ॥

शय्या पर सोने वाले मुनि के इधर-उधर करवट बदलने से जिनका कड़ा भाग टूटा जा रहा था, ऐसी कोमल कुशाओं को बाल कस्तूरीमृग खा रहा है ॥ २५ ॥

इतोप्ययमृपिः पश्य जपापाटलयाऽनया ।

गवानुगम्यते सायं सन्ध्ययेव दिवाकरः ॥ २६ ॥

इधर इस श्रुति के पीछे वह जपाकुसुम के फूल की भाँति लाल रंग की गाय वैसे ही जा रही है, जैसे दिन के पीछे रक्तवर्ण की सन्ध्या ॥ २६ ॥

सहस्रैवातिथि प्राप्त कोप्यय भवतामिति ।

एष प्रत्युत्पन्न चक्ति ससम्भ्रममय शुक्रः ॥ २७ ॥

इधर देखिए, प्रत्येक कुटीर में एक एक तोता मानो सहस्राकुटीरवासियों से यह कह रहा है कि देखिये, आप लोगों के यहाँ कोई अतिथि आ गया है ॥ २७ ॥

अतः सम्प्रति वीक्षन्ते कौतुकोत्तानितेक्षणा ।

त्वामिन्दुमिव पर्याप्तमण्डलं मुनिकन्यका ॥ २८ ॥

इसीलिए ये मुनिकन्यायें अब आश्चर्य से आँखें पाह पाह कर पूर्णचन्द्र के समान तुम्हें देख रही हैं ॥ २८ ॥

भूदत्तस्मरसाम्राज्यं मुखश्रीतज्जिनेन्दु च ।

आमामिन्दोवराक्षीणामलङ्कारो नर वयः ॥ २९ ॥

इन कमल के समान नेत्रगाली सुन्दरियों को नद उम्र ही इनका सर्वोत्तम आभूषण है । इस वय के कारण ही इनकी मुख की शोभा से चाँद भी तिरस्कृत हो रहा है, और इसने तमाम घरनी में मानो कामदेव को साम्राज्य दे दिया हो ॥ २९ ॥

मुक्ताश्च स्त्रीषु कन्दर्पो देशान्नुशयादिव ।

शङ्के सन्त्यज्य कोदण्डमात्तदण्डस्तपस्यति ॥ ३० ॥

हे देव ! प्रतीत होता है कि कामदेव इन स्त्रियों पर कामराग छोड़ कर फिर पश्चात्ताप के कारण मानो अपने धनुष को छोड़कर प्रायश्चित्त स्वरूप सजा ग्रहण करने के लिये ही तपस्या करने चला गया है (अर्थात् इनका सौन्दर्य कामभावना रहित है) ॥ ३० ॥

वङ्गमुनिदर्शनम्

तस्मिन्नित्युक्तवत्येष तथा सविधवरमनि ।

ततः पृथ्वीरक्षाङ्गेन वङ्गमुनिरदृश्यत ॥ ३१ ॥

वङ्गमुनि का दर्शन

जब वह रमाज्ञाद ऐसा कह ही रहा था, कि इतने में पृथ्वीचन्द्र सिन्धुराज ने पास के रास्ते पर वङ्गमुनि को देखा ॥ ३१ ॥

असायलम्बिनीर्निभः सन्ध्याध्रकपिरा जटा ।

प्रसृता इव निर्गत्य परमज्योतिष शिरसा ॥ ३२ ॥

उन मुनिजी ने सन्ध्या के समान धूसर वर्ण की, कंधों तक लटकती हुई जटाओं को धारण किया था । मालूम पड़ रहा था कि जैसे महाअग्नि की शिखाय बाहर निकल कर फैल गयी ॥ ३२ ॥

दधद्यज्ञोपवीतेन सीमन्तितमुरःस्थलम् ।

जाह्नवीनिर्झरेणेव नभः प्रालेयपाण्डुना ॥ ३३ ॥

यज्ञोपवीत से उनका दक्षःस्थल सुशोभित हो रहा था, मानो जाह्नवी की हिमधवल धारा से आसमान शोभा पा रहा हो ॥ ३३ ॥

शुद्धैकगुणसम्पृक्तामक्षमालां दधत् करे ।

मूर्तां तीव्रतपःसिद्धिमात्मनः फलितामिव ॥ ३४ ॥

उन्होंने शुद्ध एक गुण (तागे) से युक्त (गुंथी) अक्षमाला हाथ में धारण की थी । वह ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो उनकी घोर तपस्या की सिद्धि ही मूर्तिमती होकर फलित हुई हो ॥ ३४ ॥

योगक्षेमोपपत्यर्थमुपविष्टः कुशासने ।

नप्तेव मैथिलीभर्तुरतिथिर्नाम पार्थिवः ॥ ३५ ॥

योगक्षेम के लिये कुशासन पर बैठे हुए वह मुनि ऐसे लग रहे थे, मानो अग्निमित्र राजा जनकल्याण के लिए आसन पर बैठा हो ॥ ३५ ॥

प्रियसोमः सदा युक्तः प्रियया चानसूयया ।

पात्रमत्रिरिवोप्राणां तपसां तेजसामिव ॥ ३६ ॥

अत्रि ऋषि का सोम अर्थात् चन्द्र नामक एक पुत्र था, उससे अत्यन्त प्रेम करने वाले, तथा अपनी प्रिया अनसूया से सदा युक्त महामुनि अत्रि की तरह ही सोमरस से प्रेम करनेवाले वह बह्नुमुनि भी उग्र प्रताप तथा तपस्या की खान थे ॥ ३६ ॥

स दृष्टिपथमायाति ययातिप्रतिमे नृपे ।

तुतोप कस्य वा न स्यादाकृतिस्तस्य सा मुदे ॥ ३७ ॥

ययाति के समान वह राजा उन बह्नुमुनि के दृष्टि गोचर हुआ, तब मुनि अत्यन्त तुष्ट हुये । भला ऐसी सुन्दर आकृति किसकी प्रसन्नता के लिए नहीं होती । अर्थात् ऐसी आकृति सबको प्रसन्न कर देती है ॥ ३७ ॥

ततः कृतप्रणामस्य तस्य प्रणतभूभृतः ।

विदधे स विशाम्पत्युरातिथ्यमतिथिप्रियः ॥ ३८ ॥

अतिथियों को प्रिय मानने वाले अर्थात् अतिथिसेवापरायण उस ऋषि ने प्रणाम करनेवाले अतएव विनम्र उस राजा का अतिथि-सत्कार किया ॥ ३८ ॥

अथाऽदूरे सुखासीनः सुखासीने महीभृति ।

इति सनृतया वाचा स वक्तुमुपचक्रमे ॥ ३९ ॥

राजा के सुख पूर्वक बैठ जाने पर राजा के पास ही सुख से बैठे हुए उस ऋषि ने मृदुवाणी में इस तरह बोलना प्रारम्भ किया ॥ ३९ ॥

अथ न० पुण्यरीजेन मुक्तो यन् सत्यमङ्कुर ।

ललाम लोकात्रितये येन त्वमवलोकित ॥ ४० ॥

सचमुच ही आज हमारे पुण्य का बीज अङ्कुरित हो आया है, वो तीनों लोकों में परम सुन्दर आपको हमने देखा ॥ ४० ॥

तत्र रासति सौभाग्यमधिजातेयमावृति ।

इन्दो सुधानिधानत्वं ज्योत्स्नया यन् प्रतीयते ॥ ४१ ॥

उन्मूलनीय तुम्हारी यह आवृति तुम्हारे सौभाग्य अर्थात् महत्त्व को बता रही है । जैसे कि चाँदनी से ही यह प्रतीत हो जाता है कि चन्द्रमा सुधा का भण्डार है ॥ ४१ ॥

यथाप्रदेशमायातैर्व्यक्ति वस्त्रादृशादिभि ।

चक्रवर्तस्यनुक्तोऽपि चिह्नमन्वमनुभीयसे ॥ ४२ ॥

वस्त्र, अकुरा आदि योग्य स्थानों पर स्थित चिह्नों के द्वारा बिना कहे भी यह अनुमान हो जाता है कि तुम चक्रवर्ती हो ॥ ४२ ॥

त्वदर्शनोत्सवेनैव कृतायं चक्षुरद्य न ।

विमुञ्चति शरच्चन्द्रे चिरकृतामपि स्पृहाम् ॥ ४३ ॥

तुम्हारे दर्शन के आनन्द से ही आज हमारे नेत्र सफल हो गये हैं । अतः वह नेत्र चिरकाल तक शरद्कालीन चन्द्रमा में लगी स्पृहा को छोड़ रहा है, अर्थात् आपको देखकर अब हम शरद्काली चन्द्र को भी देखना नहीं चाहते ॥

हेतुद्वितयमेयात्र परमानन्दमम्पद् ।

परमसोपलब्धिर्वा सङ्गतम् वा भवाच्छाम् ॥ ४४ ॥

हमारे परम आनन्दरूपी सम्पत्ति के केवल दो कारण हो सकते हैं— एक तो आप जैसे लोगों का दर्शन या पत्ररस परमात्मा की प्राप्ति ॥ ४४ ॥

अकृत्वा भवत प्रश्न न स्यातुमहमुत्सहे ।

धीरता मम भिदन्ति या कौतुकरसोर्भय ॥ ४५ ॥

आप से बिना प्रश्न किये तो मैं रह नहीं सकता । क्योंकि मेरी धीरता को कौतुहल रस को लहरें तोड़ रही हैं । अर्थात् धीरता का बाँध कौतुक रस के तेज आघात से टूट रहा है ॥ ४५ ॥

त्वया महीमृतामत्र वशं केयामलङ्कृत ।

श्रोत्रपीयूषगण्डूष कानि नामाक्षराणि ते ॥ ४६ ॥

आपने (अपने कम से) दिन राजाओं के वश को अलङ्कृत किया है । और कानों में अमृत-रस घोल देने वाले आपके नाम के कौन-कौन अक्षर हैं । अर्थात्—आप किस वश के हैं और आपका नाम क्या है ? ॥ ४६ ॥

अनेन गुणिना सार्धं धनुपाऽनुचरेण च ।

केन कार्यातिभारेण त्वमेतामागतो भुवम् ॥ ४७ ॥

इस गुणशाली पुरुष तथा प्रत्यञ्चायुक्त धनुष के साथ आप किस विशेष कार्यभार से यहाँ इस जगह आये हैं ॥ ४७ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् राज्ञा सस्मितमौक्षितः ।

स्थित्वा क्षणमुवाचेदमिङ्गितज्ञो रमाङ्गदः ॥ ४८ ॥

रमाङ्गद के वाक्य

उस मुनि के इस प्रकार कहकर मौन हो जाने पर राजा ने जिसकी ओर हँसकर देखा था, ऐसा रमाङ्गद राजा के इशारे को समझ कर कुछ क्षण चुप रहकर फिर बोला ॥ ४८ ॥

अर्जुदाचलवर्णनम्

ब्रह्माण्डमण्डपस्तम्भः श्रीमानस्त्यर्जुदो गिरिः ।

उपोढहंसिका यस्य सरितः सालभञ्जिकाः ॥ ४९ ॥

अर्जुद पहाड़ का वर्णन

ब्रह्माण्ड रूपी मण्डप का खम्भा बना हुआ एक अत्यन्त शोभाशाली अर्जुद नाम का पहाड़ है । जिसकी नदियों के किनारे अनेक हंस हैं तथा जो इतने वेग से बहती हैं कि बड़े-बड़े साल वृक्ष भी उसके प्रवाह से टूट जाते हैं ॥ ४९ ॥

यः सूर्यांशुशलाकस्य विश्वस्योपरि तिष्ठतः ।

व्योमनीलातपत्रस्य दण्डत्वमधिरोहति ॥ ५० ॥

सूर्य की किरणें जिसकी कमानियाँ (शलाकाएँ) हैं तथा जो इस संसार के ऊपर विराजमान है, ऐसे आकाश रूपी छत्र के नीचे वह पर्वत दण्ड की शोभा धारण करता है ।

विमर्श—इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का चमत्कार पर्याप्त है ॥ ५० ॥

आदातुमवतंसाय स्वर्णदीहेमपुष्करम् ।

यः सेन्द्रनीलकटको भुवो भुज इवोद्धृतः ॥ ५१ ॥

जो नीलमणियों से युक्त धरती के उस ऊँचे हुए हाथ की भाँति है, जो स्वर्ग की नदी मंदाकिनी के कमल को तोड़कर धरती को सजाने के लिये उत्सुक हो ॥ ५१ ॥

शिखरासन्ननक्षत्रौ लक्ष्यते यः प्रतिलपम् ।

सशीकर इवोदस्तो हस्तः पातालदन्तिनः ॥ ५२ ॥

हर रात्रि को शिखर के समीपवर्ती नक्षत्रों के द्वारा वह ऐसा प्रतीत होता

है, मानो जैसे नन्हीं-नहीं पानी की बूंदों से युक्त उठायी हुई पातालग्न की सँझ हो ॥ ५२ ॥

यस्य शृङ्गेन्द्रनीलाशुश्याममादित्यमण्डलम् ।

क्षणं पुटकिनीपत्रछत्रावृत्ति विलोम्यते ॥ ५३ ॥

जिसके शिरसर पर स्थित इन्द्रनील मुखियों की नीलकिरणों से श्यामल सूर्यमण्डल जरा देर ऐसा दिखाई देता है, माना कमलिनी के पत्तों का छत्र हो ॥ ५३ ॥

नीलकण्ठप्रिया काम कृतपञ्चाननस्थिति ।

यस्यामभूमिर्गोरीर गुहापीतपयोधरा ॥ ५४ ॥

जिसकी भ्रमभूमि नीलकण्ठप्रिया = मोरों की प्यारी है, (पार्वती पक्ष में—शिव की प्यारी) और कृतपञ्चाननस्थिति = अहाँ शेरों ने अपना अङ्ग बना रखा है, (पार्वती पक्ष में = जो शिव के साथ रहती है), गुहापीत-पयोधरा = जिसकी गुफाओं में बादल भरे रहते हैं । (पार्वती पक्ष में—भगवान् कार्तिकेय ने जिसका दूध पिया है, उस पार्वती की माँति) ॥ ५४ ॥

अथ सन्नद्धमेघेषु स्थिता यस्याग्रमानुष ।

प्रावृट्त्रिलासलास्यानामनभिज्ञा कलापिन ॥ ५५ ॥

जिनके ऊपर मेघ मँडरा रहे होते हैं, ऐसे अग्र शिरसों पर बैठे हुए कुछ मोर वर्षाकालीन विलास क नृत्य को न जानने के कारण विमूढ़ रहते हैं ॥ ५५ ॥

इन्दु कटकमाणिक्य यस्य तुङ्गस्य भूभृत् ।

भुनो यस्य च काताया मेरुलामणिरशुमान् ॥ ५६ ॥

वह परत ठहना ऊँचा है कि उसकी प्रियतमा भूमि के हाथ का मणिक्य तो चन्द्रमा है, और सूर्य करघनों क मणि का काम करता है ॥ ५६ ॥

क्वचित्क्वचिन् पतन्त्या यं घृण्यसार शशित्विषा ।

कण्डूयत इमासन्ना शृङ्गेण हि मृगो निशि ॥ ५७ ॥

इस पक्ष पर जब चाँदनी छिटकी रहती है, (चाँदनी रात में) तब कहीं-कहीं पर घृण्यसार मृग समीपवर्ती मृगी को मस्ती के साथ सींग से खुरलाता रहता है ॥ ५७ ॥

पाण्डु शरदूघनैरूर्ध्वमधस्तालीननासित ।

य कैलास इमारिल्ल पौलस्त्यभुजसम्पदा ॥ ५८ ॥

जैसे ऊपर से तो शरदकालीन मेघों ने श्वेत और नीचे ताड़ के बन ने

नीला बना दिया है, वह ऐसा मालूम पड़ रहा है, जैसे रावण की भुजाओं में फसा हुआ कैलाश पर्वत हो ॥ ५८ ॥

हरयः शेरते यस्य मत्तेभवधनिःस्पृहाः ।

गुहासु नखनिर्मुक्तमुक्तादन्तुरभूमिषु ॥ ५९ ॥

यह ऐसा पर्वत है, जहाँ नाखूनों से गिरे हुए गजमुक्ताओं से व्याप्त भूमिवाली गुफाओं में शेर हाथियों को मारने की इच्छा से विरत होकर सोते रहते हैं ॥ ५९ ॥

अलकच्युतमन्दारमकरन्दसुगन्धिभिः ।

अमर्त्यमिथुनक्रीडानिकुञ्जैर्यस्य सूच्यते ॥ ६० ॥

उस पर्वत की घनी भाड़ियाँ (रतिक्रीडा के समय) देवस्त्रियों के बालों से गिरे हुए मन्दारपुष्प के केसर की सुगन्धि से इस बात की सूचना देती रहती हैं कि यहाँ पर देव-गन्धर्व के जोड़ों ने रतिक्रीडा की है ॥ ६० ॥

उदञ्चदिन्द्रचापानि नानारत्नांशुपल्लवैः ।

सानूनि यस्य सेव्यन्ते द्वये चित्राशखण्डिनः ॥ ६१ ॥

नाना प्रकार के रत्नों के किरण रूपी पत्तों से युक्त, जिनपर अनेक इन्द्र-धनुष उठ आये थे, ऐसे उस पर्वत के शिखरों पर विचित्र वर्ण के मोर रहा करते हैं ॥ ६१ ॥

पत्या सह वनान्तेषु विहरन्त्याऽद्रिकन्यया ।

नीयन्ते शोणतां यस्य शिलाः सालक्तकैः पदैः ॥ ६२ ॥

जंगलों के बीच अपने पति के साथ विचारण करने वाली पर्वतकन्या अपने अलता से युक्त चरणों से शिलाओं को लालवर्ण की बना देती है ॥ ६२ ॥

प्रतिभान्ति पुरस्तेऽपि यस्य वल्मीकवामनाः ।

शैलाः सुवेल-कैलास-महेन्द्र-मलयादयः ॥ ६३ ॥

जिस पर्वत के सामने वे लोकप्रसिद्ध सुवेल, कैलास, महेन्द्र, मलय आदि पर्वत भी दीमक के बनाये हुए छोटे-छोटे ढूहों की तरह दिखाई देते हैं ॥ ६३ ॥

वशिष्टाश्रमवृत्तवर्णनम्

अति स्वाधीननीवारफलमूलसमितकुशम् ।

मुनिस्तपोवनं चक्रे तत्रेच्चाकुपुरोहितः ॥ ६४ ॥

वशिष्ट आश्रम का वृत्तान्त-वर्णन

स्वच्छन्द रूप से धान्य, फल-मूल, लकड़ी, कुश जहाँ सुविधा से मिल

सकते हैं, ऐसे उस पर्यंत पर इक्ष्वाकु वंश के पुरोहित वसिष्ठ मुनि ने भी अपना आश्रम बनाया था ॥ ६४ ॥

हृता तस्यैकदा धेनु कामसूर्गाधिसुनुना ।

कार्तवीर्यार्जुनेनेन जमदग्नेरनीयत ॥ ६५ ॥

एक समय उन वसिष्ठ मुनि की कामधेनु को गाधिपुत्र विश्वामित्र उसी माँति छीनकर ले जाने लगे, जैसे कार्तवीर्य अर्जुन नामक राजा जमदग्नि ऋषि की गाय कामधेनु को छीन कर ले गया था ॥ ६५ ॥

स्थूलाश्रुधारासन्तानन्वपितस्तनवत्कला ।

अमर्षपावकस्याभूद्भुतं समिदरुघती ॥ ६६ ॥

तब बड़े-बड़े आँसुओं की निरन्तर धारा उहाकर स्तन पर के वत्कल यज्ञ को गीला करती हुई वसिष्ठपति अरुघती अपने स्वामी की क्रोधाग्नि के लिए समिधा का काम करने लगी । अर्थात् उसे रोते देखकर ऋषि का क्रोध अत्यन्त बढ़ गया ॥ ६६ ॥

अथाथर्वविदामाद्य समन्त्रामाहुतिं ददौ ।

विन्सद्विष्टज्वालाजटिले जातवेदसि ॥ ६७ ॥

तब अथर्ववेद जाननेवालों में अग्रगण्य ऋषि ने भयानक ज्वालाएँ जिसमें से निकल रही थीं और अतएव अत्यन्त धने अग्नि में मन्त्रपूर्वक आहुति दी ॥ ६७ ॥

तत क्षणात् सकोदण्ड किरीटी काञ्चनाह्वद ।

उज्जगामाग्नित कोऽपि सहेमकवचं पुमान् ॥ ६८ ॥

तब क्षणभर में घनुष हाथ में लिए, मुकुट पहने, घोने के बाजू-बन्द धारण किये हुए, मुनहला कवच पहने हुए कोई पुरुष अग्नि से निकला ॥ ६८ ॥

दूरं स तमसेनेव विश्वामित्रेण सा हृता ।

तेनानिन्ये मुनेर्धेनुदिनश्रीरिव मानुना ॥ ६९ ॥

विश्वामित्र जिस (गाय) कामधेनु को अपहरण कर ले गया था, उस गाय को वह पुरुष उसी माँति लौटा लाया, जिस माँति अघकार से अपद्रुत दिन की शोभा को सूर्य लौटा लाता है ॥ ६९ ॥

ततस्तापसकन्याभिरानदाश्रुलवाङ्कित ।

वपोल पाणिपर्यङ्कात् साश्रुलेखादपाम्यत ॥ ७० ॥

तब आश्रमवासिनी तमाम तापसकन्याओं ने, जिन्होंने हुए के कारण अपने जिन गालों को अश्रुलेखासयुक्त हथेलीरूपी पर्यङ्क पर अवतक रखा था, अब ऊपर उठा लिया और अब उन पर आनन्दाश्रु बहने लगे ॥ ७० ॥

परमारवंशवर्णनम्

परमार इति प्रापत् स मुनेर्नाम चार्थवत् ।

मीलितान्यनृपच्छत्रमातपत्रं च भूतले ॥ ७१ ॥

परमारवंश का वर्णन

मुनि वशिष्ठ ने उसका परमार अर्थात् शत्रुओं को मारनेवाला यह सार्थक नाम रख दिया । जिसने धरती के समस्त नृपतियों के छत्र-चामर सम्पन्न राज्य को मिटा कर स्वयं राज्य किया ॥ ७१ ॥

प्रावर्तितातिविस्तीर्णसप्ततन्तुपरम्परः ।

पुराणकूर्मशेषं यश्चकाराम्भोनिधेः पयः ॥ ७२ ॥

उसने अत्यन्त विस्तीर्ण अपनी वंशपरम्परा का सातगुना प्रवर्तन किया । तथा समुद्रजल को मथकर उसने समुद्र को ऐसा बना दिया कि उसमें तो केवल प्राचीन कूर्म भगवान ही बचे रहे ॥ ७२ ॥

स्थापितैर्मणिपीठेषु मुक्ताप्रालम्बमालिभिः ।

भूरियं यज्वना येन हेमयूपैरपूर्यत ॥ ७३ ॥

यज्ञ करनेवाले उसने मणिमण्डित पीठों पर स्थापित तथा जिन पर मोतियों की झालरें लटकती थीं, ऐसे सुवर्णनिर्मित यज्ञ के खम्भों से सारी धरती को भर सा दिया

विमर्श—अर्थात् उसने अनगिनत यज्ञ किये, उस समय जो यज्ञस्तम्भ लगाये गये, उनसे सारी धरती व्याप्त हो गयी ॥ ७३ ॥

प्रशान्तचिन्तासन्ताने चिरेण नमुचिद्विपि ।

अमोच्यतास्तदैत्येन येनेर्ष्याफलहं शची ॥ ७४ ॥

चिरकाल से प्रभूत चिन्तासमूह के नष्ट हो जाने पर आनन्दित इन्द्र को उससे मुक्त कराकर इन्द्राणी का जो इन्द्र के प्रति ईर्ष्या और फलह था, उसे दूर कर दिया । अर्थात् दैत्यों के मारे जाने पर इन्द्र और इन्द्राणी आनन्द से रहने लगे ॥ ७४ ॥

वंशः प्रवृत्ते तस्मादादिराजान्मनोरिव ।

नीतः सुवृत्तैर्गुरुतां नृपैर्मुक्ताफलैरिव ॥ ७५ ॥

उस राजा से एक बड़ा भारी वंश उसी तरह बढ़ा, जिस भाँति आदि राजा मनु से । फिर उस वंश के सदाचारी राजाओं ने अपने मोतियों के समान स्वच्छ आचरण से उस वंश को गौरवशाली बनाया ॥ ७५ ॥

तस्मिन् पृथुप्रतापोऽपि निर्वापितमहीतलः ।

उपेन्द्र इति सख्मज्ञे राजा सूर्येन्दुसन्निभः ॥ ७६ ॥

उस वंश में बहुत बड़ा प्रतापी, धरती को अपने पराक्रम से तृप्त करने-
वाला, सूर्य-चंद्र के समान दैदीप्यमान उपेन्द्र नाम का राजा
उत्पन्न हुआ ।

विमर्श—इस श्लोक में विरोधाभास है । प्रथुप्रताप अर्थात् प्रखर
घामवाला, और निर्वापितमहीतल अर्थात् पृथ्वी को शान्त शीतल करने
वाला । जो प्रखर घामवाला है, वह शान्त करने वाला कैसे हो सकता है ।
पर बाद में सूर्येन्दु पद का प्रयोग कर इस विरोध का परिहार किया गया
है । अर्थात् सूर्य के समान प्रखर प्रताप अर्थात् यश वाला और चन्द्र के समान
पृथ्वी को शान्त करने वाला ॥ ७६ ॥

सदागतिप्रवृत्तेन सीतोच्च्वसितहेतुना ।

हनूमतेन यथासा यस्याऽलङ्घ्यत सागर ॥ ७७ ॥

वायु के द्वारा प्रवृत्त अथवा वायु के समान प्रवृत्ति वाले, सीता को राहत
दिलाने के कारण यश स्वरूप भी हनूमान् की तरह उस राजा व यश ने भी
समुद्र पार किया, अर्थात् सागरपर्यन्त उसका यश फैला ॥ ७७ ॥

शक्तिन्द्रेण दधता पूषामग्रभृथैस्तनुम् ।

अकारि यज्वना येन हेमयूपाङ्किता मही ॥ ७८ ॥

अनेक यज्ञ करके जिसने इन्द्र के जन में भी मय उत्पन्न कर दिया था
तथा अनेक अग्रभृथस्नानों से पवित्र शरीर वाले उस यशकर्ता राजा ने सोने
के यशस्तम्भों से धरती को सजा दिया । अर्थात् उसने इतने यज्ञ किये कि सारी
पृथ्वी में यशस्तम्भ छा गये ॥ ७८ ॥

अत्यच्छदशानोद्गच्छद्दशुलेरातरङ्गिभि ।

दीर्घैर्यस्यारिनारीणा निश्वासैश्चामरायितम् ॥ ७९ ॥

अत्यन्त स्वच्छ दांतों से निकलती हुई श्वेत रेखाओं की दीर्घ तरङ्गों वाले
शत्रुनारियों के गहरे श्वासों ने उसके श्वेत चामरों का काम किया ।

विमर्श—उसने तमाम शत्रुओं को जीत लिया था । मृत शत्रुओं की पत्नियों
का दुःखावेग के कारण निश्वास उसके लिए चामर का काम करने लगा—
यह उद्घेष्टा है ॥ ७९ ॥

तस्मिन् गते नरेन्द्रेषु तदन्येषु गतेषु च ।

तत्र वाक्पतिराजास्य पाथिवेदुरजायत ॥ ८० ॥

उस राजा की मृत्यु के पश्चात् तथा उसके बाद के अनेक राजाओं के
बाद राजाओं में श्रेष्ठ वाक्पतिराज नामक एक राजा उस वंश में उत्पन्न
हुआ ॥ ८० ॥

दीर्घेण चक्षुषा लक्ष्मीं भेजे कुवलयस्य यः ।

नारीणां दिशताऽऽनन्दं दोषणा सत्तारकेण च ॥ ८१ ॥

वह कुवलय (नीलकमल) की शोभा को अपने दीर्घ नयनों में धारण करता था । अर्थात् उसके नेत्र कमल जैसे थे । और सजनों को तारनेवाली अपनी भुजा से नारियों को वह आनन्द देता था ॥ ८१ ॥

शिथिलीकृतजीवाशाः यस्मिन् कोपान्नतभ्रुवि ।

निन्युःशिरांसि स्तब्धानि न धनूं पि नतिं नृपाः ॥ ८२ ॥

क्रोध से जब वह भाँहें चढ़ा लेता था, तब अपने जीवन की आशा त्यागने-वाले राजा लोग शीघ्र ही उसके सामने अपने सिर मुका देते, पर अपने धनुष न मुकाते, अर्थात् धनुष पर बाण न चढ़ाते ॥ ८२ ॥

वैरिसिंह इति प्रापज्जन्म तस्माज्जनाधिपः ।

कीर्तिभिर्यस्य कुन्देन्दुविशदाभिः सटायितम् ॥ ८३ ॥

उस राजा से वैरिसिंह नाम के राजा ने जन्म लिया, जिसकी कुन्द-पुष्प और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश की चाँदनी का चारों ओर विस्तार हुआ ॥ ८३ ॥

पौलोनीरमणस्येव यस्य चापे विलोकिते ।

चकितैः सरसीव क्षमाराजहंसैरमुच्यत ॥ ८४ ॥

उस राजा के धनुष को देखते ही चकित राजा लोग जहाँ-तहाँ धरती को छोड़कर उसी भाँति भागते थे, जैसे शरदकाल में इन्द्रधनुष को देखकर राजहंस तडानों को छोड़ने लगते हैं ॥ ८४ ॥

श्री सीयक इति क्षेत्रं यशसामुदभूततः ।

दिलीपप्रतिमः पृथ्वीशुक्तिमुक्ताफलं नृपः ॥ ८५ ॥

उस राजा से यश का मानो क्षेत्रभूत भी सीयक नामक राजा हुआ । वह दिलीप के समान अत्यन्त प्रतापी तथा धरतीरुपी साँप का अमूल्य मोती था ॥ ८५ ॥

लक्ष्मीरधोक्षस्येव शशिमौलेरिवाम्बिका ।

वडजेत्यभवद्देवी कलत्रं यस्य भूरिव ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार विष्णु भगवान् की स्त्री लक्ष्मी थी, जिस प्रकार शंकर की स्त्री पार्वती थी, उस राजा की भी "वडजा" नाम की स्त्री थी, जो उसे धरती के समान ही प्यारी थी ॥ ८६ ॥

अखण्डमण्डलेनाथ प्रजापुण्यैर्महोदयम् ।

कलिसन्तमसं येन व्यनीयत नृपेन्दुना ॥ ८७ ॥

पूर्ण चन्द्रमा की भाँति अपने अखण्ड राजमण्डल से पूर्ण होकर जिसने

प्रजा को पुण्यमार्ग पर लगाकर अत्यधिक बढ़े हुए कलिकाल के पापान्ध-
कार को दूर कर दिया ॥ ८७ ॥

वशी कृताक्षमालो य क्षमामत्यायता दधन् ।

राज्याश्रममलञ्चके राजपि कुशाचीवर ॥ ८८ ॥

अत्यन्त विस्तृत घरती पर राज्य करते हुए उस राजर्षि ने भगवान्
शंकर को प्रसन्न किया और वल्कल वस्त्र धारण करके ही राजकार्य देखने
लगा ॥ ८८ ॥

स्मितज्योत्स्नादृष्टिण वाष्पस्त्रान्मुखेन्दुना ।

शशमुविजय यस्य स्त्रपाटीपतिस्त्रिय ॥ ८९ ॥

रुद्रपाटी के राजा की स्त्रियों ने भी हास्यकान्ति से रहित तथा अभ्रप्रवाह
से युक्त मुखेन्दु से उसके विजय के गीत गाये ॥ ८९ ॥

अकङ्क्षमकेयूरमनूपुरममेखलम् ।

हृणानरोधरैधन्यदीक्षादान व्यधत्त य ॥ ९० ॥

बिना रक्षण वाली, बिना राजरुचन्द वाली, बिना नूपुर वाली, बिना मेखला
वाली हृणराजा की स्त्रियों को मानो अपने विधवा बनाने की दीक्षा (मन्त्र)
दी । अर्थात् हूणों को मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना दिया ॥ ९० ॥

नायकवर्णनम्

अयं नेत्रोत्सवस्तस्मान् जज्ञे देव पितृप्रिय ।

जगत्तमोपहो नेत्रादन्नेरिष निराकर ॥ ९१ ॥

नायक का वर्णन

उस राजा से फिर सबके नेत्रों को आनन्द देनेवाला, पिता का प्यारा
हमारा राजा (सिन्धुराज) उसी प्रकार उत्पन्न हुआ, जिस प्रकार जगत् के
अधिकार को दूर करनेवाला चन्द्रमा अग्निश्रुषि के नेत्रों से उत्पन्न
हुआ था ॥ ९१ ॥

श्रीमद्वाक्पतिराजोभद्रप्रचोऽस्याग्रणी सताम् ।

सगरापत्यदत्ताब्धिपरिराया पतिर्मुख ॥ ९२ ॥

हमारे इन नायक के बड़े भाई, सज्जनों में अग्रगण्य वाक्पतिराज नाम
से हुए । सगर के पुत्रों के द्वारा निर्मित समुद्र रूपी खाइयों वाली इस घरती के
जो एकमात्र शासक हुए ॥ ९२ ॥

अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्त सातनाहने ।

कविमित्रे विशाश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती ॥ ९३ ॥

जब विक्रमादित्य समाप्त हो चुके और सातनाहन भी अस्त हो गये अर्थात्

मर गये, तब इस कवियों के मित्र इसी राजा का ही आश्रय देवी सरस्वती ने भी लिया । अर्थात् विक्रमादित्य और सातवाहन के बाद यही एक राजा परमप्रतापी विद्वान् हुआ ॥ ६३ ॥

चक्रिरे वेधसा नूनं निर्व्याजौदार्यशालिनः ।

ते चिन्तामणयो यस्य निर्माणे परमाणवः ॥ ६४ ॥

विधाता ने जिस निष्कपट और उदारता से सुशोभित राजा के निर्माण में मानो चिन्तामणियों को परमाणु रूप में उपयोग में लाया ॥ ६४ ॥

यशोभिरिन्दुशुचिभिर्यस्याच्छतरवारिजैः ।

अपूर्यतेयं ब्रह्माण्डशुक्तिमुक्ताफलैरिव ॥ ६५ ॥

जिसके चन्द्रमा के समान उज्ज्वल स्वच्छ कमलों के समान यश रूपी मणियों से यह ब्रह्माण्ड रूपी सोंप उसी प्रकार भरी थी, जिस प्रकार समुद्र की सोंप मोतियों से भरी रहती है ॥ ६५ ॥

श्रियं नीलाब्जकान्त्या यः प्रणयिभ्यो ददौ दृशा ।

अरातिभ्यश्च सहसा जह्ने निस्त्रिशलेखया ॥ ६६ ॥

जिसने अपनी नीलकमल की कान्ति वाली दृष्टि से अपने प्रेमियों को लक्ष्मी दी अर्थात् उसकी तरफ देखकर उसके बन्धु-बान्धव प्रसन्न होते और शत्रुओं की लक्ष्मी को तलवार की धार से अकस्मात् छीन लिया ॥ ६६ ॥

अंसः सवल्कलप्रन्थिः सजटापट्टवं शिरः ।

चक्रे येनाहितस्त्रीणामत्तसूत्राङ्कितः करः ॥ ६७ ॥

जिसने शत्रुस्त्रियों के कंधे को वल्कल वस्त्र की गाँठ से तथा सिर जटा-पल्लव से युक्त कर दिया तथा हाथ को रुद्राक्ष की माला से अंकित बना दिया । अर्थात् अपने तमाम शत्रुओं को मारकर उनकी स्त्रियों को विधवा बना दिया ॥ ६७ ॥

पुरं कालक्रमात्तेन प्रस्थितेनाम्बिकापतेः ।

मौर्वीकिणाङ्कवत्यस्य पृथ्वी दोष्णि निवेशिता ॥ ६८ ॥

कुछ काल पश्चात् अम्बिकापति भगवान् शंकर के नगर की ओर प्रस्थान करने वाले उसने धरती का भार धनुष की डोरी से चिह्नित इस सिन्धुराज की भुजाओं पर रखा ॥ ६८ ॥

प्रशास्ति परितो विश्वमुज्जयिन्यां पुरि स्थितः ।

अयं ययाति-मान्धातृ-दुष्यन्त-भरतोपमः ॥ ६९ ॥

तब से ययाति, मान्धाता, दुष्यन्त और भरत के समान प्रतापी यह राजा उज्जयिनी नगरी में ही रहकर समस्त विश्व के राज्य का संचालन कर रहा है ॥ ६९ ॥

अनेनास्त कपोलेषु पाण्डिमा रिपुयोपिताम् ।

समाहृत्येव तद्भर्तृयशसौ बाहुशालिना ॥ १०० ॥

बलवान् बाहुवाले हम राजा ने शत्रुओं को मार कर उनका यश हरण करके उनको नारियों के कपोलों को पीना (पीका) बना दिया ॥ १०० ॥

सदा समकरस्यास्य लक्ष्मीकुलगृहस्य च ।

सिन्धुराज इति व्यक्त नाम दुग्धोदधेरिति ॥ १०१ ॥

सदा समान रहने वाले, लक्ष्मी को अपन कुल में स्थिर रखने वाले, इस राजा का स्वच्छ एवं उज्ज्वल दूध के समुद्र क समान "सिन्धुराज" यह नाम है ॥ १०१ ॥

अनेन विहितान्यत्र यत् साहसशतान्यत ।

नवीनमाहसाङ्कोऽयं वीरगोष्ठीषु गीयते ॥ १०२ ॥

इसने साहस क सैकड़ों काम पृथ्वी पर किये, इसलिये वीर गोष्ठियों में (समाधों में) इसे नवसाहसाङ्क नाम से पुकारा जाता है ॥ १०२ ॥

विन्ध्यान्तश्चरत्तानेन भृगयासक्तचेवसा ।

कन्या शशिप्रभा नाम नागसूतिरदृश्यत ॥ १०३ ॥

शिकार खेलने में लगे हुए, विन्ध्यानल के वनों में विचरण करते हुए इस राजा ने शशिप्रभा नाम की तामपुत्री को देखा ॥ १०३ ॥

अदृश्यैरथ सा नागरस्य पार्श्वदिनीयत ।

तामन्वेष्टुं प्रगृहेन कुतूहलप्लाविह ॥ १०४ ॥

अदृश्य रूप में इसके पास से ही उस नागकन्या को नाग लोग हरण करके ले गये । तब कुतूहल से उसे ढूँढने के लिए वन में प्रविष्ट हुए इस राजा ने ॥ १०४ ॥

समखिस्तम्भमग्रेऽथ दृष्ट धाम हिरण्यमम् ।

तत्र मूर्ता तत सिन्धुरिन्दुसूतिर्विलोकिता ॥ १०५ ॥

कुछ ही आगे यणि के खम्भों स बना हुआ एक सोने का भवन देखा, और उसमें चन्द्रमा की पुत्री नर्मदा नदी की स्त्रीरूप में देखा ॥ १०५ ॥

अकृतातिथ्यमेतस्य भक्तिप्रस्य सा ततः ।

नीता पृष्टेन चैतेन स्ववार्तायामभिदत्ताम् ॥ १०६ ॥

तत्र भक्ति से नग्न इस नृपति का व्यक्तियुक्तकार नर्मदा नदी ने किया । फिर इसने उसके पूछने पर उसे अपना सारा हाल कहा ॥ १०६ ॥

सतो वज्राङ्कुरोद्यानहेमाब्जाहृतिमाहसम् ।

हेतु शशिप्रभावाप्लेविवृत्त्या वेदितस्तया ॥ १०७ ॥

तव भगवती नर्मदा ने वज्राङ्कुश दैत्य के बगीचे में स्वर्णकमल को साहसपूर्वक लाने से शशिप्रभा की प्राप्ति होगी, इस बात को समुचित ढंग से इसे समझाया ॥ १०७ ॥

असूचयत् प्रसंगेन त्रिविष्टपरिपोरथ ।

उद्ग्रमसुरेन्द्रस्य वीर्यं वज्राङ्कुशस्य सा ॥ १०८ ॥

फिर प्रसंग ही प्रसंग में देवताओं के शत्रु भयानक उस दैत्य वज्राङ्कुश के प्रखर पराक्रम के विषय में भी कुछ सूचना दी ॥ १०८ ॥

*ततस्तम्प्रत्यमर्षोऽस्य झटित्यङ्कुरितो हृदि ।

अन्यत्र वीरघृत्तेर्यदयमेकान्तमत्सरी ॥ १०९ ॥

उसी क्षण इस सिन्धुराज के हृदय में उस वज्राङ्कुश के प्रति क्रोध अङ्कुरित हो गया । क्योंकि यह किसी अन्य जगह किसी वीर के होने का अत्यन्त मत्सरी ही है ।

विमर्श—अर्थात् अमुक एक जगह पर अमुक वीर है, इस बात को यह किसी तरह सहन कर ही नहीं सकता ॥ १०९ ॥

पन्थाः पुरोऽसुरस्याथ प्राञ्जलेः शंसितस्तथा ।

असूचयताग्रतश्चेतदमोघं दर्शनं तव ॥ ११० ॥

हाथ जोड़े हुए राजा से नर्मदा ने कहा कि सामने ही उस दैत्य की नगरी का रास्ता है । (जाओ) और यह भी बता दिया कि रास्ते में आपका (मुनि का) सफल दर्शन भी होगा ॥ ११० ॥

अथेदं रत्नवलयं दत्त्वास्यै सममाशिषा ।

कान्ता तिरोहिता सा च पुरुकुत्सस्य भूपतेः ॥ १११ ॥

तब आशीर्वाद के साथ-साथ नृपति को एक रत्न-कंकण देकर पुरुकुत्स भूपति की कान्ता नर्मदा देखते ही देखते तिरोहित हो गई ॥ १११ ॥

अथैतेन गृहीतेयं यात्रा वज्राङ्कुशमप्रति ।

एषा च सुकृतेर्दृष्टा पादपद्मद्वयी तव ॥ ११२ ॥

इस प्रकार हे श्रीमन् ! इस नृपति ने वज्राङ्कुश के प्रति यात्रा प्रारम्भ कर दी है । और अत्यन्त पुण्यों के कारण ही आपके इन चरण-कमलों का दर्शन हुआ है ॥ ११२ ॥

वङ्गमुनिवाक्यम्

इत्युक्त्वा सूक्तिचतुरो विरराम रमाङ्गदः ।

आददे मुनिरप्युद्यन्तांशुशवलं वचः ॥ ११३ ॥

उद्धुमुनि के वचन

यह कहकर सुन्दर वाणी बोलने में चतुर रमाञ्जद चुप हो गया । फिर मन्द मन्द हँसते हुए उद्धुमुनि ने ये वचन कहे । उस समय उनके दाँतों की कान्ति से उनके वचन सने मालूम पड़ रहे थे ॥ ११३ ॥

अहो पुराणराजर्षिसन्तानकथयैतया ।

पुण्ययाहृतमात्मानमधुना मन्महे वयम् ॥ ११४ ॥

अहो, पुराणे राजर्षि के वंश की इस पवित्र कथा को सुनकर हम अपने आपको धन्य समझ रहे हैं ॥ ११४ ॥

अवश्यंभाविनी तत्र सिद्धि माहमिहस्य ते ।

शान्त्य त्रिरिष्टपस्यास्य हृदयादुद्धरिष्यसि ॥ ११५ ॥

तुम जैसे साहसपूर्ण व्यक्तियों को सिद्धि अवश्य मिलेगी । अर्थात् तुम अपने कार्य में अवश्य सफल होओगे । और निश्चित ही तुम देवलोह के हृदय से उस दैत्य रूपी कंठि को निकाल फेंकोगे । अर्थात् वज्राकुरा को मार कर स्वर्ग को निर्मय कर दोगे ॥ ११५ ॥

एष वज्राङ्कुशान्धाजौ नाऽकृत्वाऽन्त निवर्तिता ।

भुजो भुवनभर्तुस्ते दिङ्नागकरपीडर ॥ ११६ ॥

दिग्गज की सूड के समान पुष्ट, श्वेत के स्वामी तुम्हारी भुजा वज्राङ्कुरा को मारे बिना न रहेगी, उसको मारे बिना तुम लौटोगे नहीं ॥ ११६ ॥

वधून्तवाविरेणान्न भग्निमिति शशिप्रभा ।

यथा कुलयाश्वस्य दिव कन्या मदालमा ॥ ११७ ॥

शीम ही शशिप्रभा तुम्हारी स्त्री हो जायगी, जैसे कि देवकन्या मदालसा कुलयाश्व की स्त्री हो गई थी ॥ ११७ ॥

स्थिरो भव मितं कालं स्थित्वाऽहिमन् नस्तपोरने ।

स्थया विनीयतामेव दीर्घाध्वजनित श्रम ॥ ११८ ॥

तुम कुछ समय तक शांत रहो, और इस तपोवन में रहकर लम्बे-लंबे रास्ते में चलने से उत्पन्न थकान को दूर करो ॥ ११८ ॥

सिन्धुराजवाक्यम्

इत्युक्ते मनिना सोऽय राजेन्द्रदिदमब्रवीत् ।

आशा विलङ्घ्यते ताव त्वं केन जगद्गुरो ॥ ११९ ॥

सिन्धुराज के वचन

मुनि के इस प्रकार कहने पर उस राजचन्द्र ने कहा कि श्रीमान् ! आप जैसे जगद्गुरु की आशा कौन टाल सकता है अर्थात् मुझे आपकी आशा स्वीकृत है ॥ ११९ ॥

अथ क्रमोन्मीलितसौहृदासु कथास्वनेकासु मिथः कृतासु ।

विश्रम्यतामित्यवदन्महर्षिः पति पृथिव्याः प्रथितप्रभावः ॥ १२० ॥

फिर बहुत समय तक आपस में मैत्रीपूर्ण अनेक कथावार्ता चलती रहीं, अन्त में प्रसिद्ध प्रभाववाले महर्षि ने राजा से कहा कि अब आप विश्राम करें ॥

देवस्ततः स मुनिकल्पितमिन्द्रनीलपर्यङ्कवत् कनकवेदिसनाथमध्यम् ।

अध्यास्त रत्नसदनं परितो वितानव्यालम्बिमौक्तिकलतं नवसाहसाङ्कः ॥ १२१ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसूतोः पारमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ नवसाहसाङ्क-

चरिते महाकाव्ये वङ्कुमहर्षिदर्शनं नाम एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

तब राजा नवसाहसाङ्क सिन्धुराज ने मुनि की बनाई हुई इन्द्रनील-मणियों जैसी सोने की वेदी से सुसज्जित, जिसके चारों ओर मोती के गुच्छों की तरह लतापुष्प लटक रहे थे, उस रत्नभवन में विश्राम किया ॥ १२१ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नव-

साहसाङ्कचरित का ११ वां सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥



अथ द्वादशः सर्गः

अथ मानवसौनलक्ष्मणो मणिपर्यङ्कगतस्य तस्य सा ।

अथतन् फणिरात्रकन्यका जगदेकामरण स्मृते पथि ॥ १ ॥

बारहवाँ सर्ग

इसके पञ्चात् मणिअटित पलङ्क पर लेटे हुए मनुष्यों में कामदेवस्वरूप उस राजा नवसाहसार्क ५ स्वप्न में अगत की एकमात्र सचधेट आमरण-मृत नागराजपुत्री शशिप्रभा आइ ॥ १ ॥

व्यधितप्रणय दृशा पुर कमनीयेषु न येषु वस्तुषु ।

जनिषोत्कलिकाशते स तैररतेरायतन व्ययीयत ॥ २ ॥

आँखों के सामने ही जिन जिन सुन्दर वस्तुओं को देखकर उसके शरीर के सामने सैकड़ों रोमाञ्चित हो आते थे, आज शशिप्रभा के सामने वे सब वस्तुएँ अरुचि का घर बन गयीं ।

विमर्श—अर्थात् पहले जिन जिन वस्तुओं का देखकर वह पूजा नहीं समाता था, आज शशिप्रभा के सौन्दर्य के सामने वे सभी चीजें उसे कुछ लग रही हैं ॥ २ ॥

मुदुरल्ललाविमर्शने श्रमिर्ते शून्यत्रिलोकनेन च ।

क्षितिभर्तुस्मान्त्रतिना मदनाकल्पकमन्वमीयत ॥ ३ ॥

बार-बार करवट बदलने के कारण, गहरी खाँस लेने के कारण, रास्य आकाश की ओर देखने के कारण राजा के समीप में स्थित रमाङ्गद ने समझ लिया कि इसे कामपीडा सता रही है ॥ ३ ॥

कदलीदलदन्तमास्तो हृदयन्यस्तमृणालकन्दल ।

अथ तस्य वभूय यत्नवान् सपचारे शिशिरे रमाङ्गद ॥ ४ ॥

केले के पत्तों से हवा करके, और हृदय पर कमल की कोमल छविदियों को धर कर तथा अन्य भी इसी प्रकार के कायों द्वारा रमाङ्गद राजा के लिए ठण्डे ठण्डे उपाय करने लगा ॥ ४ ॥

अमरद्रव्यमे- भूपते स्मरतप्रम्य मनोपिनोदनम् ।

मुदृश स करातिथि शर स च हारः स्तनचन्दनाङ्कित ॥ ५ ॥

कामपीडा से व्याकुल उस राजा के मन की आराम देनेवाली केवल दो ही वस्तुएँ थीं । एक तो उस सुन्दर नेत्रों वाली शशिप्रभा के स्तनों पर लगे

चन्दन से सना हुआ हार, और दूसरा वह बाण, जो कितने ही समय तक उस रमणी के हाथों में रहा ॥ ५ ॥

मदनान्तरितोऽपि लङ्घितः पथि जातेन परिश्रमेण सः ।

स्तिमितः क्षणमास्त कौमुदीविशदक्षौमतिरोहिताननः ॥ ६ ॥

कामभावना से पीड़ित होने पर भी रास्ते की थकावट ने उस पर अपना कब्जा कर लिया । वह चांदनी सी श्वेत रेशमी चादर से अपने मुख को ढँक कर थोड़ी देर तक (निद्रादेवी की आराधना करने के लिये) चुपचाप पड़ा रहा ॥ ६ ॥

अथ पार्श्वचरेण सादरं मृदुसंवाहितपादपल्लवः ।

स कुरङ्गद्वये निद्रया चतुरं लोचनयोरचुम्ब्यत ॥ ७ ॥

जब समीपवर्ती रमाङ्गद ने अच्छी तरह से आदरपूर्वक राजा के पैर दबाये, तब मृगी के समान नेत्र वाली स्त्री की भाँति ही नींद ने राजा के नेत्रों को चूम लिया, अर्थात् राजा को नींद आ गयी ॥ ७ ॥

स्वपुरोषवने समुत्सुकः सुमुखीं स्वप्नपथेन पार्थिवः ।

अवतंसितहेमपङ्कजाम् अथ तामङ्कगतां व्यलोकयत् ॥ ८ ॥

तब उस राजा ने स्वप्न में देखा कि स्वर्ण (पीत) कमल के आभरणों को सारे शरीर में पहनी हुई सुन्दर मुख वाली वह शशिप्रभा राजा के ही नगर के बगीचे में उसकी ही गोद में है ॥ ८ ॥

अभिकान्तमपाङ्गपातिना जितनीलाब्जदलेन चक्षुषा ।

दधतीमपवर्तितं ह्रिया मुखमापाण्डुकपोलमण्डलम् ॥ ९ ॥

नील-कमल के पत्तों से भी अधिक सुन्दर, तोखे कटाक्षपात करनेवाले नेत्र से अभिमण्डित, तथा लज्जा के कारण दूसरी ओर घुमाया हुआ एवं गालों का रंग सुर्ख हो जाने से अत्यन्त रमणीय उसका मुख था ॥ ९ ॥

शरदिन्दुमरीचिर्निर्मलं विगलद्वेषथुना स्तनांशुकम् ।

मुहुराक्षिपतीमलक्षितं श्लथमुक्तावलयेन पाणिना ॥ १० ॥

वह ढीले कंकण वाले काँपते हुए हाथ स शरद्कालीन चन्द्रमा की भाँति निर्मल स्तनों पर स्थित आँचल को चुपके-चुपके धीरे-धीरे हटाती थी ॥ १० ॥

नवपल्लवकान्तिना किमप्यचिरावासितपुष्पकेतुना ।

ललितामधरेण विभ्रतीं मुखचन्द्रांशुसटां स्मितच्छटाम् ॥ ११ ॥

वह नये लाल पल्लव की भाँति लाल और काम ने जिसे तत्क्षण सुगन्धित कर दिया था, ऐसे सुन्दर होठों पर मुख रूपी चन्द्रमा मानो किरणावली हो, ऐसी सुन्दर हँसी को धारण किये हुए थी ।

विमर्श—रिपतञ्जना मुखरूपी चन्द्रमा की किरण पंक्ति हो—यह रूपक
अलंकार सुन्दर बन पडा है ॥ ११ ॥

जगदेकविलोकनोत्तमवे वपुषि स्वेदकणैरलङ्किताम् ।

उदितामिव मन्दरादितान् सदधैर्लभनसुधासलवा श्रियम् ॥ १२ ॥

उसके समस्त सवार में देखने में सुन्दर शरीर की शोभा पर पसीने
की बूँदें झलकी थीं, जिससे उसका शरीर ऐसा दिम्बाई दे रहा था, मानो
मन्दराचल के मयने से समुद्र में से अमृत बिन्दुओं से सनी लक्ष्मी आई हो ॥ १२ ॥

वलिताद्विनि सहाङ्गलिम्बकराश्लेषविशेषकम्पिनी ।

पुलकिन्यधिक विमुञ्चती चकित वामकुचे विलोचने ॥ १३ ॥

अपने हाथ की अँगुलियों को वह मुट्ठी की तरह बाँधने के लिए धुमाकर
धीरे से अपने स्तनों पर रख देती थी, जिससे उसके स्तन और भी काँपने
लगते । तब वह रोमाञ्चित होकर विस्मय के साथ अपने टेढ़े स्तन को
देखने लगती ॥ १३ ॥

अतिभामुररत्नकुण्डलाम् अतिक्रान्तायवहारमण्डलाम् ।

जघनश्लयहेममैसलाम् असमेषोरधिदेयतामिव ॥ १४ ॥

वह अत्यन्त चमकते हुए कुण्डलों तथा, अति मनोहर और लम्बा हार
पहने थी । जघनस्थल तक लटकती हुई करघनी तो ऐसी दिखाई दे रही थी,
मानो कामदेव की अधिष्ठात्री देवता हो ॥ १४ ॥

नायकोक्तिः

अथ सस्मितमात्तवेपथु पतिते ममथपत्रिणः पथि ।

इति सा प्रणयाद्रया गिरा स किलाभ्योनमुरीमवोचत ॥ १५ ॥

नायक का वचन

कामरायो से व्याकुल, हँसते और कुछ काँपते हुए उस राजा ने कमल
के समान मुख वाली उस सुन्दरी से यों प्रेमपत्नी बाणी कही ॥ १५ ॥

वलितं न विमाति पृष्ठत कनरीकान्तमिदं तजाननम् ।

अपि नीलपयोदलेऽपया सपरिष्वङ्गमिवेदुमण्डलम् ॥ १६ ॥

पीछे से सुन्दर वेशी धारण करने वाला तुम्हारा यह मुख जो तुमने दूसरी
ओर घुमा रखा है, यह टीक नहीं लग रहा है, जैसे चाँद को काले बादल का
टुकड़ा टँक ले, तब वह शोभा नहीं पाता है । अर्थात् अब इस तरह मुझे
मोड़कर बैटना टीक नहीं ॥ १६ ॥

इदमङ्गदवर्तिना करैर्मणिना रुद्धमिवेरित द्विया ।

न ममथमितोपवर्तितु वदनं ते ललिताङ्गि का गति ॥ १७ ॥

हे सुन्दर शरीर वाली ! क्या वताऊँ, हाथों पर स्थित वाज्ज्वन्द पर लगे मणि को सम्मुख कर लज्जा के कारण झुके तुम्हारे मुख को मैं इधर मोड़ भी नहीं सकता ॥ १७ ॥

इदमर्धविलोकिताधरं मधुरापांगतरङ्गितेक्षणम् ।

श्रियमातनुते सितासितं सुतनु त्र्यश्रुविलोकितं तव ॥ १८ ॥

नायिका किस प्रकार देखती है, इसका वर्णन करते हैं । 'हे सुतनु, अधरोष्ठ का आधा भाग जिसमें दिखाई पड़ रहा है, तथा कटाक्ष से नेत्रों को बार-बार तरङ्गित करने वाला अतएव श्वेत तथा कृष्ण वर्ण का तुम्हारा 'देखना' अजीब शोभा धारण कर रहा है ॥ १८ ॥

मिलितस्तव गण्डलेखया मुदति स्वेदलवार्द्रपत्रया ।

किमपि स्पृहणीय एव मे मरुदसन्नदिनान्तशीतलम् ॥ १९ ॥

हे सुन्दर दाँतों वाली ! पसीने की बूंदों से आर्द्र चन्दनादि की पत्रलेखा वाले कपोल से मिला हुआ यह सायंकालीन शीतल पवन मेरे लिए अत्यन्त स्पृहणीय हो गया है ॥ १९ ॥

अयमुत्पलपत्रलोचने तव विम्बाधरपाटलच्छविः ।

अवलोक्य कर्तुमीहते पदमस्ताचलचूलके रविः ॥ २० ॥

हे कमल की पंखुड़ियों के समान नेत्रोंवाली । तुम्हारे रक्तवर्ण वाले अधर की कान्ति के समान कान्ति वाला यह रक्त वर्ण का सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ रहा है, देखो ॥ २० ॥

दुरितघ्नमिदं मुदर्शनं दधता विम्बमनूरुसारथेः ।

स्मरलक्ष्मि विहायसाऽमुना तव कृष्णेन हृते विलोचने ॥ २१ ॥

हे कामदेव की शोभास्वरूप शशिप्रभे ! अन्धकार का नाश करने वाले, सुन्दर दिखाई देनेवाले सूर्यमण्डल को धारण करने वाले इस काले आकाश ने तुम्हारे नेत्रों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है ।

विमर्श—अर्थात् आकाश की शोभा अत्यन्त मनोहर दिखाई पड़ रही है, जिससे सुन्दरी नायिका उसकी ओर देखने लगी है ॥ २१ ॥

अरविन्दकरेण लोहितं कमलिन्या धृतमातपांशुकम् ।

इदमुष्णकरेण कृष्यते वलितेनापरदिग्वधूम्रप्रति ॥ २२ ॥

सूर्यास्त के कुछ समय पहले लगभग सायंकाल में, जब कि सूर्य मध्य आकाश से पश्चिम दिशा की ओर ढलने लगता है, उस समय उसका घाम भी उसके साथ-साथ कम होता जाता है । इसी पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि उत्तर दिशालपी नायिका की ओर मुड़ा हुआ यह सूर्य अपने कमलरूपी हाथों से कमलिनी के आतपरूपी वस्त्र को पकड़कर खींचे ले जा रहा है ॥ २२ ॥

करुणार्पितलोचन मिथ क्रमविश्लेषगलद्विसाङ्करम् ।

इदमार्द्रयतीव ये मनो मिथुन मानिनि चक्रवाकयो ॥ २३ ॥

हे मानवती प्रिये ! परस्पर वियोग के दुःख से कमल के टुकड़ों को खाना भी जिन्होंने छोड़ दिया है, और अत्यन्त करुण नेत्रों से जो एक दूसरे की ओर देख रहे हैं, उन चक्रवा चकवी के जोड़े को देखकर मेरा मन पसीज रहा है ॥ २३ ॥

अवलोक्य भीरु सम्प्रति त्रितयेन त्रितय वियुज्यते ।

द्युमणि* प्रभया श्रियाम्द्युजं प्रियया साश्रुरय विहगम ॥ २४ ॥

हे भीरो ! इस समय जरा देखो तो कि तीन चीजें तीन चीजों से विलग हो रही हैं, सूर्य अपनी प्रभा में अलग हो रहा है, कमल सुरक्षाने से अपनी शोभा से मुक्त हो रहा है और रोता हुआ यह पक्षी (चक्रवा) अपनी प्रियतमा से वियुक्त हो रहा है ॥ २४ ॥

इदमम्बरपल्लवाद्रात अतिताम्रद्युतिकालदन्तिना ।

रविचारिरुह निरस्यते कनकस्निग्धमयूखकेसरम् ॥ २५ ॥

यह देखो, आकाश रूपी बावलि में स्थित अत्यन्त लाल किण्वों वाले, तपा हुनहली किरणम्पी केसर वाले सूर्य रूपी कमल को यह काला अम्बुकाद रूपी हाथी उल्लाह कर दूर फेंक रहा है ।

विमर्श—सूर्यास्त के दृश्य पर यह अत्यन्त श्रेष्ठ उत्प्रेक्षा कवि ने की है ॥ २५ ॥

परिच्युतति वारुणीं दिश पुरतो रागहृते त्रिवस्वति ।

दिग्विषयशतम युलाकिञ्चिता भवति श्याममुखी मितोदरि ॥ २६ ॥

हे इरा पेट वाली ! सूर्य के लालिमा रहित हो जाने पर, वह स्वयं वारुणी (पश्चिम) दिशा का सुम्बन कर रहा है । अर्थात् पश्चिम दिशा में अस्त हो रहा है । और इधर इन्द्र की यह दिशा (पूर्व दिशा) काली पड़ती जा रही है ।

विमर्श—प्रिय को किसी अन्य नायिका के पास जाकर उसका सुम्बन करते अगर कोई नायिका देख ले, तो इर्ष्या तथा दुःख के कारण काली पड़ जाती है, यहाँ भी कवि ने इसी के आधार पर उत्प्रेक्षा की उड़ान मारी है ॥ २६ ॥

इह भात्यतिलोहितातपस्तनका पश्य वनात्तभूमय ।

तपनानुगमोत्तमराङ्गिता दिनलक्ष्म्येव पदै सयावकै ॥ २७ ॥

यह देखो, यहाँ लाल रंग का अस्नकालीन धाम जहाँ-तहाँ छिटका हुआ है, इसीसे भूमियाँ कैसी सुन्दर लग रही हैं । मानो अलता से पैरों को रगकर सूर्यरूपी नायक के पीछे-पीछे जाने वाली दिशा रूपी लक्ष्मी अर्थात् नायिका हो ॥ २७ ॥

मदिराक्षि पुरोऽवलोक्यताम् अपरस्यामयमानतो दिशि ।

स्तिमितामवगाहते गति गुरुगोत्रस्खलिताकुलो रविः ॥ २८ ॥

हे मदभरे नयनी वाली ! इधर पश्चिम दिशा की ओर देखो, इस पर यह सूर्य कैसे झुका हुआ है और मन्द-मन्द गति से आगे बढ़ता जा रहा है, मानो कोई नायक अपनी नायिका के सामने किसी दूसरी स्त्री का नाम और गोत्र का उच्चारण करके मानो लज्जित हो कर झुका हो ॥ २८ ॥

अमुना शतपत्रवन्धुना सहसा सुन्दरि यद्यदुज्जितम् ।

सममद्रिगुहामुखस्थितैस्तिमिरैस्तत्तदितः कटाक्षितम् ॥ २९ ॥

हे सुन्दरी ! यह कमल का मित्र सूर्य अस्त होते समय जो-जो चीजें छोड़ता गया है, पर्वत की गुफा में स्थित अन्धकार ने जान-बूझकर ठीक उसी समय उन वस्तुओं को अपना लिया है अर्थात् सर्वत्र अन्धकार छा गया है । अन्धकार फैलने लगा, यह भाव है ॥ २९ ॥

विरमन्नयि पल्लवाधरे सुरवीथीपथिको विरोचनः ।

अयमस्तगिरेर्निपोदति स्वकरामृष्टशिलातले तले ॥ ३० ॥

हे रक्त वर्ण के कोमल पत्तों के समान लाल तथा कोमल अधर वाली ! आकाश-मार्ग का पथिक यह सूर्य अस्ताचल पर विराम करता हुआ अपने हाथों से साफ किये हुए शिलाखण्डों पर बिधाम करने लगा है ॥ ३० ॥

इयमश्रुतरङ्गितां दृशं द्वितये चक्रवधूविमुञ्चति ।

नवकुङ्कुमलोहिते रवौ दयिते चान्द्रवियोगविकल्बे ॥ ३१ ॥

हे प्रिये ! यह चक्रवाकवधू (चक्रवी) दो वस्तुओं पर अपनी अध्रु से परिपूर्ण दृष्टि लगा रही है, एक तो चन्द्रोदय पर आँसू बहाते हुए वियोग से व्याकुल अपने प्रियतम पर और दूसरे नवीन कुङ्कुम के समान रक्त वर्ण के वने सूर्य पर ॥ ३१ ॥

चलितोऽसि वद क्व मां विना विरहं सोढुमहं न ते क्षमा ।

कृतपङ्कजकुङ्मलाञ्जलिर्नलिनी कान्तमितीव याचते ॥ ३२ ॥

कमलिनी, कालिकारूपी हाथ जोड़ कर मानो सूर्य से प्रार्थना कर रही है कि हे प्रिय ! तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले । मैं तुम्हारा वियोग सहन न कर सकूँगी ! ॥ ३२ ॥

अनुत्पुञ्जितपिङ्गदीधिति द्रुतलाक्षारूणदर्पणोपमम् ।

परतोऽस्तगिरेरिदं गलत्यनवद्यांगि पतंगमण्डलम् ॥ ३३ ॥

हे सुन्दरी ! अपना समस्त पीली किरणों को समेटने वाला (अब एक-दम अस्ताचल पर पहुँच जाने से सूर्य-किरणें लाल से पीली हो गयी हैं) शीघ्र ही लाक्षारस से रंगे दर्पण के समान लाल यह सूर्यमण्डल अस्ताचल के उस पार देखो, अब छिप गया है ॥ ३३ ॥

सरले सह वारिजश्रिया निभृतं कापि गत स भास्कर ।

यद् तेन विनाऽन्विनी कथं क्षणदामय नतामि नेष्यति ॥ ३४ ॥

हे सर्वाङ्गसुन्दरी ! हे सरल स्वभाव वाली ! कमल-शोभा के साथ ही यह सूर्य भी चुपचाप न जाने कहाँ चला गया । बोलो, अब उसके बिना यह कमलिनी रात भर के समय को कैसे काटेगी ? ॥ ३४ ॥

स्फुटविद्रुमराजिनैकत सदृशं जातमुदञ्चता नभ ।

सुदति त्वदपागपादले पटु सान्ध्ये महसि प्रसर्पति ॥ ३५ ॥

हे सुन्दर दाँतों वाली ! यह आकाश एक तरफ तो विकसित मूँगों की पत्तियों के समान लालिमा को धारण किए हुए है । तुम्हारे नयनों के कोरों के समान रक्त सन्ध्याकालीन प्रकाश फैलने पर ॥ ३५ ॥

परिपिञ्जिताऽसिताम्बरैर्निविडै क न हरति हारिभि ।

अपि सायमिमा पयोधरैर्धृतसन्ध्यातपकुङ्कुमैर्दिश ॥ ३६ ॥

चारों तरफ धूसर आकाश को और भी वृष्ण वण का बनाने वाले, मनोहारी घने बादलों से ये सायकालीन आतपरूपी कुङ्कुम को धारण करने वाली दिशायें किसका मन हरण नहीं कर रही हैं ? अर्थात् सभी रक्तिक इन्हें देखकर आनन्दमग्न हैं ॥ ३६ ॥

क्षयवाभिमुखेन पण्डिता ननु सन्ध्या तमसा मनस्विनी ।

कुपितेव निवर्तते जवात् अतिबाचालविहङ्गनूपुरम् ॥ ३७ ॥

सूर्य रात्रिरूपी अपरा नायिका के पास जा रहा है तो यह सन्ध्या नायिका मानवती पण्डिता नायिका की भाँति क्रोध से काली बनी हुई अत्यन्त बाचाल पक्षिरूपी नूपुर को झमकाकर मानो गुम्फे में अति तेजी से भागी चली जा रही है ॥ ३७ ॥

तव चरितं विटम्बयत्यदस्तनुसन्ध्यातपल्लितमङ्गुजम् ।

मणिकुण्डलकान्तसङ्करान् इदमात्मकपोलमाननम् ॥ ३८ ॥

हे कुपित होनेवाली ! सन्ध्याकालीन आतप की शालमा से युक्त शरीर वाला यह कमल मणि-कुण्डलों का कान्ति से युक्त लाल कपालों वाले तुम्हारे मुख की ममता कर रहा है ॥ ३८ ॥

उदितानि तमासि सा च ते दयिता दैन्यमुपैति पद्मिनी ।

दिनभर्तुरितीध शसितु सदमा सुन्दरि सन्ध्या गतम् ॥ ३९ ॥

हे सुन्दरी ! अंधेरा घिर आया है, और तुम्हारी प्रियतमा पद्मिनी दुखी हो गई है । इस प्रकार सूर्य से यह कहने के लिए मानो नायिका की सखी सन्ध्यासुन्दरी भी सूर्य के साथ ही चली गई ॥ ३९ ॥

निहित बलिदीपकेषु तन् तपनेनाऽशु मह कृतोदरि ।

स्वशरम्फुरितं मनोभुवा तव सद्योऽबिलोमिषेत्पिय ॥ ४० ॥

हे क्षीण कटिवाली ! बलिदीपकों में मानों सूर्य ने अपना वह प्रचण्ड प्रकाश भर दिया है । और इधर तुम्हारे लजीले कटाक्षों को देख कर प्रतीत होता है मानो कामदेव ने अपने अपने वाण की लीला का आधान उन्हीं में कर रखा हो ॥ ४० ॥

अतसीकुसुमोपमं मुखे तदनु त्वत्कुचचूचुकद्युति ।

अथ बालतमालमांसलम् प्रसृतं सम्प्रति सर्वतस्तमः ॥ ४१ ॥

प्रारम्भ में, अलसी के पुष्प के समान होने से तुम्हारे स्तनाग्र-भाग के समान कृष्ण नील कान्ति वाला तथा बाद में छोटे-छोटे तमाल वृक्षों के समान बृहद्काय यह अन्धकार अब चारों तरफ फैल रहा है ॥ ४१ ॥

तरुकोटरमूकसारिकं निजनीडाङ्कनिलीनकोकिलम् ।

करभोरु सनिद्रवर्हिणम् प्रमदोद्यानमिदं निमीलति ॥ ४२ ॥

हे करभोरु, पेड़ के खोखलों में बैठी हुई मैनावाला, अपने-अपने घोंसलों में छिपी हुई कोकिलोंवाला, सोये हुए मोरों वाला यह नजरवाग भी अब मौन सा हो रहा है अर्थात् सायंकाल के बाद अब सभी पक्षी अपने-अपने घोंसलों में लौटकर आराम कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

प्रसूतेर्गिरिकन्दरोदरात् इदमिन्दीवरदामकान्तिभिः ।

अधुना तिमिरैर्विगाह्यते भुवनं पद्मसरश्च दन्तिभिः ॥ ४३ ॥

अब पहाड़ की गुफाओं से निकले हुये हाथी तथा उन गुफाओं में तेजी से फैला हुआ अन्धकार जिनकी कान्ति नीले कमल की तरह है—ऐसे दोनों ही अब व्याप्त हो रहे हैं । अर्थात् अन्धकार संसार में प्रवेश कर रहा है और हाथी कमल के तालाबों में क्रीडार्थ विहार करने लगे हैं ॥ ४३ ॥

तिमिराञ्जनभक्तिशोभिना धवलेनायतपद्मपङ्क्तिना ।

अमुना भवतीव चक्षुषा कुमुदेनैति रुचं कुमुद्वती ॥ ४४ ॥

अन्धकार रूपी अञ्जन के लगने से सुशोभित लम्बी-चौड़ी पलकों (परागों) की पंक्ति से सुशोभित कुमुद्वती ने कुमुद से अपनी कान्ति उसी भाँति मिला दी, जिस भाँति अञ्जन लगने से सुशोभित सुन्दर लम्बी-चौड़ी पलकों से सुशोभित तुम्हारे नेत्र की कान्ति मेरी नेत्र-कांति से मिल गई है ॥ ४४ ॥

उदरस्थितयोः कुतूहलात् अलिनोः श्रोतुमिवास्फुटं वचः ।

कमलस्य निलीय निश्चलं दलसन्धिष्ववतिप्रते तमः ॥ ४५ ॥

कमल के कोश के अन्दर बैठे हुए भ्रमर-दम्पति के प्रेमभरे अटपटे वचनों को सुनने के लिए ही मानो उत्सुकता से छिप-छिपकर अन्धेरा कमल की पंखुड़ियों के जोड़-जोड़ (सन्धिभाग) में बैठ गया है अर्थात् भ्रमर-दम्पति के

प्रेमालाप को सुनने के लिए मानो अन्धकार रूपी लम्पट कमल-कलियों के जोड़-जोड़ पर बैठा है ॥ ४५ ॥

तरलऽतिसिताऽसितद्युतौ इह दोलायितमीक्षणद्वये ।

लिप्सतागस्पत्र लेखयोस्त्वमिर मूर्च्छति ते व्योलयो ॥ ४६ ॥

तुम्हारे चञ्चल श्वेत और वृष्ण कान्ति वाले दधर उधर दौड़ती हुई दृष्टि वाले दोनों नेत्रों पर तथा अंगरु से चित्रित पल्लेखावाले तुम्हारे कपोलों पर भी अब अ-चेरा फैलने लगा ॥ ४६ ॥

बहुभि रमितस्तत क्षणान् उदिनेर्भङ्गुरेशि भात्यद ।

अतिगाढदिनोष्णज-मभि परित म्वेदलरैरिवाङ्कितम् ॥ ४७ ॥

हे दुषराले बालों वाली ! उदित हुए तारों से यह सारा आसमान उसी प्रकार सुशोभित है, मानो दिनभर अत्यधिक धूप रहने के कारण गर्मी से पसीने की बुँदें उसमें उमर आयी हैं ॥ ४७ ॥

शानल शालालान्धनत्विषा सतम पश्य महेन्द्रदिङ्मुखम् ।

अचलेन्द्रमुतास्मितच्छत्रिच्छुरित कण्ठमुमापतेरिय ॥ ४८ ॥

चन्द्रमा की कान्ति से मिश्रित अन्धकारपूर्ण पूर्वदिशा की ओर तो देखो वह ऐसी प्रतीत हो रही है, मानो पर्वतराजपुत्री पार्वती के हास्य की कान्ति से मिश्रित शिवशङ्कर का कण्ठ हो ॥ ४८ ॥

अहिरानसुते विलोक्यताम् इयमि-दो प्रथमोद्गता कला ।

अपि भाति ययेन्द्रदिङ्मुखे प्रमदेवाद्रिनप्ताङ्कुरेऽस्या ॥ ४९ ॥

हे नागराजपुत्री ! पूर्वदिशा में तुरन्त निकली हुई चन्द्रकला को देखो । इससे पूर्वदिशा ऐसी मालूम पड़ रही है, मानो प्रियङ्गुत नागवृक्ष की खरोच से युक्त होकर कोई स्त्री शोभा पा रही हो ॥ ४९ ॥

यदि त्रीतुकमायतेक्षणे न चिरादेव सुधार्द्रयाऽनया ।

अरवि-ददलद्युतौ करे मृदुलीलावलय करोमि ते ॥ ५० ॥

हे विशालनेत्रे प्रिये, अगर तुम्हारा कौतुक हो अर्थात् अगर तुम चाहो तो अमृत से भरी इस चन्द्रकला को शीघ्र ही लाकर मैं कमल की पखुडियों के समान कान्ति वाले तुम्हारे इस कोमल हाथ का कगन बना दूँ ॥ ५० ॥

अनन्यमित पुर स्थितं विदितं किं शशिना तमाननम् ।

नमस सहसाङ्गमेप यन् न कलङ्कत्रपयाधिरोहति ॥ ५१ ॥

इस चन्द्रमा ने सामने हाँ स्थित तुम्हारे इस सुन्दर मुख के विषय में जान लिया है क्या ! अर्थात् अन्यत्र ही इसने तुम्हारे मुख को यहाँ देख लिया है, तभी तो यह नम का चन्द्रमा अपने बलक की लज्जा के कारण आकाश से नीचे नहीं उतर पाता ॥ ५१ ॥

इदमुद्गतमिन्दुमण्डलम् दिगियं पश्य विभर्ति लक्ष्मवत् ।

त्वमिवाच्छक्रपोलमण्डल-स्फुटकालागरूपत्रमाननम् ॥ ५२ ॥

देखो, यह पूर्व दिशा इस काले चिह्न वाले उदित चन्द्रमण्डल को धारण किये हुए ऐसी लग रही है, जैसे तुम अगर से सुशोभित स्वच्छ कपोल वाले मुख को धारण किये हुए हो ॥ ५२ ॥

विगलत्तिमिरांशुके शनैः स्पृशति व्यक्तिमधीरतारके ।

इह पश्य निशावधूमुखे स्फुरति श्वेतमरीचिकुण्डलम् ॥ ५३ ॥

अन्धकाररूपी वस्त्र के खिसकते रहने से धीरे-धीरे स्पष्ट रूप से दिखाई पड़नेवाले तथा तारा रूपी पुतली जिस पर चंचल दिखाई दे रही है, ऐसे इस निशा के मुखपर देखो, यह स्वच्छ किरणों का कुण्डल शोभायमान हो रहा है ॥ ५३ ॥

अयमुल्लिखति ध्रुवं करैर्विधुरिन्दीवरलोचने तमः ।

कुमुदेषु तथाहि दृश्यतां निपतन्त्यस्य लवा इवालयः ॥ ५४ ॥

यह देखो, चन्द्रमा मानो अपने किरण रूपी करों से कमल रूपी नेत्र में अन्धकार रूपी काजल भर रहा है । और इधर कुमुदों पर ये अनेक भौंरे टूट पड़ रहे हैं, तो ऐसा लग रहा है कि उस अन्धकार के कण के कण ही टूट रहे हैं ॥ ५४ ॥

इदमञ्जननीलमाहतम् पिहिताशं तुहिनांशुना करैः ।

अचलेन्द्रगुहासु लीयते शनैः संकुचितं पुनस्तमः ॥ ५५ ॥

चन्द्रमा ने अपनी किरणों से ऋजुलवत् कृष्ण अन्धकार को दूर कर दिया है, जिससे निराश होकर अब यह धीरे-धीरे फिर से अर्जुदाचल की उन्हीं गुफाओं में छिपता जा रहा है, जहाँ से वह निकला था ।

विमर्श—सूर्यास्त के बाद जब तक चन्द्रोदय नहीं हुआ था, तब तक तो अन्धकार का साम्राज्य था, परन्तु चन्द्र के उदित होते ही सब अन्धकार छूट गया, पर पर्वत की गुफाओं में, जहाँ चन्द्रप्रकाश पहुँच नहीं पा रहा था, अभी अन्धकार था ॥ ५५ ॥

मसृणोल्लसदंशुमण्डलच्छलतः पश्य दिवः कृतेऽनया ।

इयमिन्दुसमुद्ग'कादितो निशया हारलतेव कृष्यते ॥ ५६ ॥

अब इधर देखो, यह रात्रि रूपी नायिका मानो आसमान के लिये चिक्ने और चमकते हुए किरण-मण्डल के वहाने चन्द्ररूपी पेटी में से हारलता निकाल रही है ॥ ५६ ॥

यदभूत्तमसा जगत्तथा पिहितं पुष्करपत्रलोचने ।

तदिदं परतः प्रकाशितं शशिना कुङ्कुमकन्दपाण्डुना ॥ ५७ ॥

हे कमल पत्र के समान नयनों वाली अन्धकार के कारण जो जगत् पहले एकदम छिप सा गया था, कुङ्कुमकन्द वर्षा के किरणों वाले चन्द्रमा ने उसे पुनः अपनी प्रभा से प्रकाशित कर दिया है ॥ ५७ ॥

प्रसृतेव विलोचनोदरे तिलके सङ्कुचितेव चान्दने ।

कलितेव नताङ्गि लक्ष्यते तत्र मुक्तामलयेषु चन्द्रिका ॥ ५८ ॥

चन्द्रमा की ज्योत्स्ना परम सुन्दरी शशिप्रभा के अंगों पर पड़ रही थी, उस पर कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है कि यह चन्द्रिका तुम्हारे दोनों नेत्रों के बीच तक फैल गयी है, और चन्दन के तिलक पर लग गयी है, और तुम्हारी मुक्ता की चूड़ियों के अंदर मानो उसे किसी ने छुट दिया है ॥ ५८ ॥

कुचयो प्रतिविम्बित सम बिधुरे कोऽपि भयत्यय द्विधा ।

विधिनेत्र विभिन्नसम्पुटस्तेन लावण्यमुधासमुद्रगङ्गा ॥ ५९ ॥

तुम्हारे दोनों कुचों पर प्रतिविम्ब (परछाई) डालने वाला यह चन्द्रमा एक होते हुए भी उसी वक्त दो भागों में बँट गया जान पड़ता है । मानो विधाता ने ही तुम्हारे सौन्दर्य-मुधा की पेटी को दो भागों में विभक्त कर दिया हो ॥ ५९ ॥

हृतमुग्धमधूकशोभयोरनयो पद्मगलोककौमुदि ।

तव चन्द्रकला कपोलयो पतिता स्पर्शकुन्दहस्तादिव ॥ ६० ॥

हे नागलोक की चाँदनी ! मधुवे की शोभा को चुराने वाले तुम्हारे इन कपोलों पर यह चाँदनी मानो उनका स्पर्श करने के लिए ही पड़ रही है ॥ ६० ॥

अयमिन्दुमुत्ति त्वया यथा समुपैति स्पृहणीयतां जन ।

अनयैष समागतस्तथा निशया पश्य कुरङ्गलाञ्छन ॥ ६१ ॥

हे चन्द्रमुखी, तुम्हारे साथ मिलकर मैं जैसे सुन्दर लग रहा हूँ, उसी प्रकार रात्रि से मिलकर यह चन्द्रमा भी अत्यन्त शोभित हो रहा है ॥ ६१ ॥

धनुषि क्रियतेऽधिरोहणं स्मरमौर्वीलतया तनूदरि ।

शशिनेरितया समुच्छिन्ने पुलिनाद्रौ च पयोविवेकतया ॥ ६२ ॥

हे तनूदरि, कामदेव के धनुष की डोर अब धनुष पर चढ़ रही है तथा चन्द्रमा को देखकर बढने वाली समुद्र की मयादा तटवना पर्वतप्रांत की ओर जा रही है । अर्थात् अब कामदेव का प्रताप नष्ट हो रहा है ॥ ६२ ॥

कृतचातुराशे परस्पर मकरन्दाद्वैरज सुगन्धिषु ।

स्थितमन्तर्गमीषु साम्प्रतं भ्रमरैः पुष्करवासवेष्मसु ॥ ६३ ॥

आपस में सैकड़ों प्रकार से चाटुकारी करने वाले ये भ्रमर इन पुष्परस से आर्द्र पराग वाले तथा सुगन्धित इन कमल-कोषों के अन्दर मस्ती से बैठ गये हैं ॥ ६३ ॥

मरुता सुहृदेव वीजितम् कुमुदामोदमुचा शनैरितः ।

स्वपिति प्रणयार्द्रयोरिदं मिथुनं मानिनि राजहंसयोः ॥ ६४ ॥

हे मानिनि ! कामोन्मत्त अनुरागी हंसों का यह जोड़ा भी यहाँ शयन कर रहा है; आस-पास कुमुदों की सुगन्ध को उड़ाती हुई यह मन्द हवा जो बह रही है, वह मानो मैत्रीभाव से हंसमिथुन पर पंखा झलने का काम कर रही हो ॥ ६४ ॥

अपि चक्रवधूरियं पुरः करुणं कूजति हा तपस्विनी ।

इह साक्षितयाऽलमावयोरुचितं गन्तुमतः कृपावति ॥ ६५ ॥

देखो, यह चक्रवे की त्नी बेचारी अपने प्रिय के वियोग में करुणध्वनि से रो रही है। यह हम दोनों के साक्षिरूप में (परस्पर समर्पण के लिए) रहेगी। अतः अब हम परस्पर अभिसरण कर सकते हैं अथवा अब हमें यहाँ से हटकर अन्यत्र चले जाना चाहिए ॥ ६५ ॥

इति भूतलवासवः स ताम् अभिधाय प्रमदां प्रियंवदः ।

प्रविवेश तथा समं किल प्रमनाः केलिनगेन्द्रवन्दरम् ॥ ६६ ॥

मधुर भाषण करने वाला धरती का इन्द्र सिन्धुराज इस प्रकार उस रमणी को कहकर प्रसन्न मन से उसके साथ एक पर्वत की गुफा में प्रविष्ट हो गया ॥ ६६ ॥

झटिति स्फुटभावसङ्करां मधुरामंगलतां दधानया ।

शशिकान्तशिलातलं ततः स किलाध्यास्त तथा युवाऽन्वितः ॥

इसके बाद नायिका ने अपने अंगों से जो चेष्टा की, उससे उसका यह भाव स्पष्ट हो गया कि वह भी अभिसरण करना चाहती है, ऐसी उस अंगलता को धारण करने वाली उस कामिनी के साथ वह युवा राजा चन्द्रकान्त मणि के शिलातल पर बैठ गया ॥ ६७ ॥

तदनु त्रपया पराङ्मुखीं पुलकालंकृतपीवरस्तनीम् ।

स किलाञ्चितचाटुरानयन् सुमुखीं तामनुकूलवृत्तिताम् ॥ ६८ ॥

तब लज्जा से झुके हुए और दूसरे तरफ मुड़े हुए मुख वाली तथा रोमाञ्चित रत्नों वाली उस शशिप्रभा को फुसला कर उसने अनुकूल अर्थात् सम्भोग याग्य बना लिया ॥ ६८ ॥

अथ मन्थरलोचनं ह्रिया विनमस्मेरमुखः स्मिताञ्चितम् ।

स ददर्श किल प्रजेश्वरः मुदशः स्विन्नकपोलमाननम् ॥ ६९ ॥

तब लज्जा के कारण अलसायी आँखों वाले मन्दस्मित से युक्त उस सुनयनी शशिप्रभा के पसीने से भीगे हुए मुख को उस नम्र तथा विकसित मुखवाल राजा ने देखा ॥ ६६ ॥

यदल किल मानवत्यभूत् ऋजवन्नेन्दुमुषी किलैकृत ।

लिरितेव किलास्त यत् परं नृपतेस्तेन मन किलाहरत् ॥ ७० ॥

इसके अनन्तर नायिका पर्याप्त रूप से मानगती हो गयी, राजा की तरफ सीधे न देखकर कटाक्षों से देखने लगी, और उसके बाद एकाएक चित्रलिखित सी स्तम्भ हो गयी (अर्थात् उसने अपने आपको मान छोड़कर राजा को अर्पण कर दिया)—यह सब देखकर राजा का चित्त उसकी तरफ और भी आकृष्ट हुआ ॥ ७० ॥

परिमृग्य मुरा विलासिना अग्रणेन्दीवररेणुनूपितम् ।

मुदरा भ्रमधारिपङ्क्तिना अलकान्तम्वितकदापास्यत ॥ ७१ ॥

उस विलासी राजा ने बतौर कनपूल के कान में धारण किये हुए उस सुन्दर नेत्रवाले शशिप्रभा के कमल की घूल से सने मुख को पीछकर पसीने से सने तिलक पर से उसके बालों को हटाया ॥ ७१ ॥

अथ ता शिथिलीकृतप्रपाम् असमप्रेमहत किलेश्वर ।

स्मरकेलिरलारसज्ञताम् अनयद्युधपतिरिशामिव ॥ ७२ ॥

आत्यधिक प्रेम से हत चित्त वाले उस नृपति ने उसकी लज्जा को दूर कर उसे काम प्रीति की कला के रसास्वादन में अनुकूल उसी भाँति बना दिया, जिस प्रकार गजराज किसी हथिनी को अपने अनुकूल बना लेता है ॥ ७२ ॥

शिथिलाकुलकेशपाशया परिमृष्टाङ्गकोलपत्रया ।

विरलाधररनरागया मुलभस्वेदमुखेदुग्निम्बया ॥ ७३ ॥

छुने हुए अतएव पैले हुए जूड़े वाली, मसले गये गालों पर की पत्र-लेखा वाली, मिटी हुई ओठों की लाली वाला, पसीने की बूँदों से सने हुए मुख-विम्ब वाली ॥ ७३ ॥

त्रुटितोज्झितहारलेपया निविडाश्लेषकृशाङ्गरागया ।

असमप्रनग्नाङ्गमण्डितस्तनविन्यस्तसम्पदस्तया ॥ ७४ ॥

टूटे हुए अतएव हार को फँकनेवाली, अच्छी तरह आलिङ्गन करने के कारण अगाराग जिसका मिट गया था ऐसी, स्तनों पर कहीं रहा नाखून के निशान हो जाने के कारण उन्हें काँपते हुए हाथ से ढँकने वाली ॥ ७४ ॥

कुलकम्

अधिकाधिकजातलज्जया मृदुभोलन्नयनत्रिभागया ।
अथ कामपि निर्वृतिं तया स किलापत् फणिराजकन्यया ॥ ७५ ॥

कुलक

अत्यन्त लज्जा से युक्त आँख मीच कर एक कोने से देखने वाली उस नागराजकन्या से उस नृपति सिन्धुराज को अवर्णनीय लोकोत्तर सुख हुआ ॥ ७५ ॥

ददता नलिनीदलानिलं विकसत्स्वेदकणे कुचद्वये ।
चतुरं किल दीर्घचक्षुपस्तदनु क्लान्तिरनेन चिच्छिदे ॥ ७६ ॥

इसके बाद उस राजा ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक, स्वेदकण जिनपर चमक रहे थे, ऐसे उस दीर्घनेत्रा रमणी के दोनों स्तनों पर कमलिनी के पत्ते से हवा करके उसकी थकान को भी मिटा दिया ॥ ७६ ॥

अथ स त्रपया धृतांशुकाम् जघनरुस्तविसूत्रमेखलाम् ।
अवतंसितलोचनोत्पलां निजमह्वं ललनां निनाय च ॥ ७७ ॥

इसके बाद लज्जा से उसने जैसे तैसे अपना वल धारण किया । कमर की करधनी गाँठ टूट जाने के कारण जघनस्थल तक लटक आयी थी, ऐसी उस कमल के समान नेत्रवाली सुन्दरी शशिप्रभा को राजा ने अपनी गोद में बैठाया ॥ ७७ ॥

मुहुरः स किलान्यतश्च्युतं स्वपदे मौलिमणिं न्यवेशयत् ।
अकरोच्च किलारुणाङ्गुलिर्ललितावर्तनकुञ्चितान् कचान् ॥ ७८ ॥

फिर उस राजा ने उस सुन्दरी के इधर-उधर गिरे हुए माथे के मणियों को यथास्थान लगाया और अपने लाल अंगुलियों वाले हाथ से उसके घुँघराले वालों को भी सुन्दर ढंग से सँवारा ॥ ७८ ॥

पश्यात्र दर्पणतले लिखिता मयेयं पत्रावली तरुणि ते वलिताननेति ।
स्वप्नान्तरप्रणयजल्पितमात्मभर्तुरश्रूयत स्मितमुखेन रमाङ्गदेन ॥ ७९ ॥

“हे तरुणि, इधर इस ऐने में देखो, तुम्हारे इस गोल मुख पर मैंने कैसी सुन्दर पत्रावलि चित्रित की है” इस तरह वह राजा सपने में ही एकाएक बोल पड़ा । अपने स्वामी के इस स्वप्नगत प्रणयवचन को रमाङ्गद ने हँसते हुए सुना ॥ ७९ ॥

अथ शुचि पठता शुकेन साम स्फुटमुटजाङ्गणपादपस्थितेन ।
विरचितदयितासमागमस्य प्रसभमभज्यत पार्थिवस्य निद्रा ॥ ८० ॥

इसके बाद सामवेद का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करने वाले कुटियों के आंगन में स्थित पेड़ पर बैठे हुए तोते ने स्वप्न में समागम करनेवाले राजा की निद्रा

को सहसा भग कर दिया अर्थात् तोते के साम-गायन से राजा की निद्रा टूटी ॥ ८० ॥

झटिति विगते स्वप्नायातप्रियानवसगमे

पुनरपि तथा तत्प्रत्याशानिमीलितलोचन ।

लिप्ति इव स दम्पालोऽभून् क्षणं ननु तादृशाम्

अपि मनसिजो धैर्यं लुम्पत्यहो बत सादसम् ॥ ८१ ॥

इति भीमगाङ्गदत्तसुनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ नव

साहसाङ्गचरिते महाकाव्ये पश्चिराजमुतास्वप्नसमा

गमो नाम द्वादश सर्गं ॥ १२ ॥

तत्काल निद्रा खुलते ही स्वप्न में होनेवाला प्रिया का नवमिलन नष्ट हो गया, तब फिर राजा उस मिलन की आशा में आँखें बन्द किए हुए लेटा रहा । थोड़ी देर तो वह राजा चिन्तित ही रह गया । ठीक ही है, ऐसे महान् लोगों के धैर्य को भी कामदेव नष्ट कर देता है, कितना साहस है ! ॥ ८१ ॥

भूगाङ्गदत्त के पुत्र पद्मगुप्तचरित नवसाहसाङ्गचरित महाकाव्य

में नागपुत्री वं साधु राजा का मिलन नामक

बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशः सर्गः

स्वप्नविजृम्भितम्

ततस्तथा पञ्चशरप्रतारितः सजृम्भमुन्मीलयति स्म लोचने ।
कृताङ्गलिश्लेषविवर्तितोल्लसत्भुजांससम्पीडितकुण्डलो नृपः ॥ १ ॥

तेरहवाँ सर्ग

स्वप्नभङ्ग

कामदेव के द्वारा इस तरह प्रतारणा पाकर राजा ने फिर जैसे-तैसे आँखें खोलीं और जम्हाई लेने लगा । उसने अपने दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर बाँधकर हाथ और कंधों को तान दिया, जिसने उसके कर्ण-कुण्डल हाथ और कंधे के बीच आने के कारण दब गये । अर्थात् जम्हाई के साथ-साथ उसने शरीर सीधा किया ॥ १ ॥

स सङ्गतं यन्मृगशावचक्षुषः श्रमाप्तनिद्रः स्फुटमन्वभूदिव ।

झटित्यभूज्जाग्रदवस्थयाऽस्य तन् पुरातनालेख्यमिवाम्फुटं हृदि ॥२॥

उस नृपति ने परिश्रम के कारण लगी घोर निद्रा में उस हरिणी के चञ्चे के समान नेत्रवाली शशिप्रभा के साथ जिस रतिमुख की अनुभूति की थी, अब जागने के कारण वह सुख किसी पुराने चित्र की भाँति उसके हृदय पर धुँधले रूप में अङ्कित हो गया ।

विमर्श—अर्थात् उस प्रसंग की अंधुक स्मृति चित्र के समान उसके हृदय में रह गयी ॥ २ ॥

कुचाङ्गरागः कुशमध्यया तथा मयि ध्रुवं सङ्क्रमितो भवेदिति ।

शनैः स निद्राकलुषेण चक्षुषा पराममर्शाङ्गमनङ्गमोहितः ॥ ३ ॥

उस क्षीण कटिवाली के कुचों पर लगा हुआ अंगराग मेरे अङ्गों पर लग गया होगा, यह सोचकर नींद की खुमारी से परिपूर्ण आँखों को मलते हुए काममोहित उस राजा ने अपने अंगों को मली भाँति देखा ।

विमर्श—अर्थात् 'उसके कुचों का अंगराग कहीं मेरे तन में तो नहीं लग गया', ऐसा सोचकर उसने अपने अंगों को मली भाँति देखा ॥ ३ ॥

अपास्य वामेतरकर्णभूषणं तथा शनैरेनमवाकिरन् स्मरः ।

यथास्य धैर्यं गलति स्म मानसान् सविक्रियं शुक्तिपुटादिवोदकम् ॥४॥

ज्यों ही उसने बायें कान का आभूषण उतार कर रख दिया, त्यों ही धीरे-

धीरे उमे कामदेव ने सुताना प्रारम्भ कर दिया । जिससे उसका धैर्य मन से उसी प्रकार टूट होने लगा, जैसे फूटी हुई सोंप से पानी बहने लगता है ॥ ४ ॥

दृशे विपादस्तिमितामुपागतो निवेदय तेनाथ निशखसे तथा ।

यथा मुहु श्यामलता जगाहिरे त्रितानमुक्ताफलमालकृतज ॥ ५ ॥

उमके पाद वह अत्यन्त रिन्न मन से सचिव रमाङ्गद की ओर देखकर इतने जोर जोर से गहरी सामें भरने लगा कि उनसे उसके मोतिया के पुञ्ज से बने हान मानो बार बार कालिमा धारण करने लगे ॥ ५ ॥

रमाङ्गदवाक्यम्

कथा तु सारङ्गदृशाऽसि कारित कपोलपत्रावलिकल्पनश्रमम् ।

तमित्यनोचत परिहासवानथो रमाङ्गद किञ्चिदिव श्लथाङ्गदम् ॥ ६ ॥

रमाङ्गद के वचन

जिसका बाजूबन्द कुछ ढीला हो गया था, ऐंसे उस राजा से हँसी करने में चतुर रमाङ्गद ने कहा कि कहिए जनार, किस हरियाली की क कपोलों पर पत्ररचना अंकित करने का आपने कष्ट किया है ? ॥ ६ ॥

तत स मुक्तासितमादधत स्मित जितप्रवालत्विपि दत्तमाससि ।

शशिस तस्मै भुजगेन्द्रकन्यकासमागमं स्वप्नजमञ्जलोचन ॥ ७ ॥

तब मूगे के समान लाल ओठों पर मातियो जैसी मुद्रा हँसी दिखेरते हुए उस कमल के समान नेत्र वाल राजा ने रमाङ्गद से शशिप्रभा के साथ अपने स्वप्न समागम की बात कही ॥ ७ ॥

तद्वाश्रयैवानुचरणं वधिता कथा मुनेवास्य ततो विलासिन ।

अभूत् पर मन्मथतापशान्तये न पद्मिनीपत्रमस्त्र चन्दनम् ॥ ८ ॥

उस शशिप्रभा से सम्बन्धित अमृततुल्य कथाप्रसंग को रमाङ्गद ने भी जारी रखा, तब वह कथा ही राजा के कामदाह को शांत करने में समर्थ हुई, न कि कमलिनी की मुग्धयुक्त हवा और न चन्दन का ॥ ८ ॥

अजायतात करणेन ताम्यता न हेमपद्माहरणाय सत्वरम् ।

भुज सदा रक्षणदीक्षित क्षितेरमदमस्पन्दत चास्य दक्षिण ॥ ९ ॥

हृदय से पीड़ित वह नृपति स्वर्ण-कमल लाने के लिए भी शीघ्रता न कर सका । फिर हमेशा घरती की रक्षा करने में निपुण उसका दाहिना हाथ बार बार पटकने लगा ॥ ९ ॥

वटकुमुनेरागमनम्

तत पिनद्धोज्ज्वलहेमवस्त्रं वहन्तमसार्धविलम्बिनीर्जटा ।

सनाथवामेतरपाणिपङ्कजम् परिस्फुरन्त्या स्फटिकाक्षमालया ॥ १० ॥

वङ्कुमुनि का आना

तब पीतवर्ण के वल्कल वल्क को लपेटे हुए और कन्धों के आघे भाग तक लटकती जटाओं से शोभित तथा चमकती हुई स्फटिक रुद्राक्ष की माला को दाहिने हस्त-कमल में लिये हुए ॥ १० ॥

विशालनेत्राभरणैरनुदुतं सदैव दर्भाङ्कुरलालितैर्मृगैः ।

सशिष्यमभ्यागतमङ्गणान्तिके विशाम्पतिर्वङ्कुमहर्षिमैक्षत ॥ ११ ॥

विशाल नेत्र ही हैं आभरण जिनके ऐसे तथा सदा कुशा खिलाकर पाले-पोसे मृग जिनके साथ-साथ दौड़ रहे थे ऐसे, अपने शिष्यों के साथ आये हुए वङ्कुमुनि को राजा ने आंगन में देखा ॥ ११ ॥

वियुक्तपर्यङ्कतलः ससम्भ्रमं निरीक्ष्य सद्यो मणिमन्दिराद्वहिः ।

किरीटिरत्नद्युतिदिप्तभूतलं प्रणाममस्मै स चकार सादरम् ॥ १२ ॥

उस मणिमय भवन के बाहर वङ्कुमहर्षि को आया देखकर राजा ने एकाएक अपना पलङ्ग छोड़कर मुकुट-रत्नों की प्रभा से भूतल को प्रकाशित करते हुए मुनि को प्रणाम किया ॥ १२ ॥

ततः कृताशीर्भणिवेदिकास्त्वृते मुनिर्न्यपीदत् स कुरङ्गचर्मणि ।

स चासनत्वं तदनुज्ञयाऽनयत् नृचन्द्रमाश्चद्रमणेः शिलातलम् ॥ १३ ॥

राजा को आशीर्वाद देकर वह मुनि मणिमय चबूतरे पर बिछे मृगचर्म के आसन पर बैठ गये । फिर मुनि की आज्ञा पाकर उस राजचन्द्र ने भी चन्द्रमणिवाली शिला का आसन बनाया अर्थात् उस पर बैठ गया ॥ १३ ॥

मुनिप्रश्नः

अपि श्रमेणायतमार्गजन्मना तनुर्महाराज तवेयमुज्झिता ।

मुनिः प्रहर्षेण कृताह्वणस्तदा स राजचूडामणिमित्यपृच्छत् ॥ १४ ॥

मुनि का प्रश्न

‘महाराज ! बहुत दूर चलने से मार्ग की जो थकान आपको हो गई थी, क्या वह थकान अब दूर हो गई है ?’ राजा के द्वारा स्वागत किये हुए मुनि ने प्रसन्नता से राजाओं में श्रेष्ठ उस राजा से यह प्रश्न किया ॥ १४ ॥

भूपतिवाक्यम्

अथादधद्वक्त्र इवांशुकाञ्चलं तुपारपाण्डुप्रसृतैर्द्विजांशुभिः ।

अकृत्रिमप्रशयपेशलं वचः स भूपतिर्वङ्कुमिति प्रचक्रमे ॥ १५ ॥

राजा का कथन

हिमकण की भाँति श्वेत एवं फैलने वाली दाँतों की श्वेत कान्ति से मुख पर किरण-समूह सा डालते हुए राजा ने मुनि से स्वाभाविक प्रेम से सने मधुर वचन कहना प्रारम्भ किया ॥ १५ ॥

अमी सहन्ते मम ताव न श्रमम् प्रणामलम्नास्तत्र पादपासत्र ।

त्रियन्त्रिचर चन्द्रमरीचिचुम्बिते पद निघत्ते कुमुदे दिनकलम ॥१६॥

हे भगवन् ! प्रणाम करते समय मेरे शरीर पर लगी हुई आपके चरणों की धूल मेरी थकान का सहन नहीं कर सकती है, अर्थात् आपकी रज को छूकर मेरी थकान दूर हो गई है । चन्द्रमा की किरणों से छू जाने पर भला कुमुदों की म्लानता किन्ती देर टिक सकती है !

निर्मश—जैसे चन्द्र किरणों के छून से कुमुदों की सुरभाइट शीघ्र दूर हो जाती है, उसी भाँति आपका चरण रज छूकर मेरी थकान भी शीघ्र दूर हो गई ॥ १६ ॥

कपिदर्शनम्

नृलोकपातालतललाश्रये भिन्न क्यानुबधे शिथिलीभवत्प्रयय ।

प्रयासपयुष्मुकमानसो मुनि स याचदाप्रष्टुमियेष पार्थिव ॥ १७ ॥

बन्दर २१ देखना

इसके बाद भूलोक और पाताललोक सम्बन्धी कई बातें उनमें हुई, जब वह बातें समाप्त हो गयीं और जब जान क लिए उत्सुक बने हुए मुनि ने राजा से विदा होने के लिए प्रयास किया ॥ १७ ॥

अनेन तावद्दृष्टो पुर स्थितो विशाललागूलततो बल्लीमुप ।

अघस्थलीनिर्गतचहुकचको हिमोच्चल पादं द्रवाम्बिकागुरो ॥ १८ ॥

कि इतन में उसने सामने गढ़े हुए भारी लम्बी पूछ कपी लता वाले हुए हुए एक बन्दर को देखा, वह ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो जिसकी गुफाओं से जादूवी बह रही हो, ऐसा हिमालय का एक प्रत्यतमाग हो ॥ १८ ॥

करेण निम्नमधुमत्तकेरलीकपोलवत्पाटलकान्ति दाढिमम ।

अहर्मुग्धाष्टपतङ्गमण्डल फलाराया बाल इनाञ्जनीमुत ॥ १९ ॥

मधुपान करने के कारण रक्तवर्ण के केरलवाँसनी स्त्री के कपोल के समान कान्ति वाले अनार की हाथ में धारण किया हुआ वह वानर ऐसा दिखाने दे रहा था, माना प्रमातकालीन रक्तवर्ण के स्येमण्डल को फल समझ कर हनुमान ने अपने हाथ में लिया हो ॥ १९ ॥

फलार्पणम्

द्वयोरितार्थं गलु धर्मकामयोस्तयोस्त्रिलोकस्पृहणीययो कपि ।

मुनीन्द्रभूचन्द्रमसो स्थितोऽन्तरे तपस्विभि स्मेरमुखैरदृश्यत २० ॥

फल देना

धर्म और काम के मध्य जैसे अर्थ शोभा पाता है, उसी भाँति तीनों लोकों के प्रिय वङ्कुमुनि और सिन्धुराज के बीच वह वानर शोभा पा रहा था । इस दृश्य को देखते हुए सभी तपस्वियों ने देखा ॥ २० ॥

अथापितं तेन फलं तदाददे स विस्मितो मध्यमलोकवासवः ।

जपारुणं मारुतिनेव मैथिली-शिखण्डरत्नं दशकण्ठशासनः ॥ २१ ॥

विस्मय से युक्त धरती के इन्द्र उस राजा ने वानर के दिये हुए फल को उसी भाँति स्वीकार किया, जिस प्रकार जवाकुसुम के समान रक्तवर्णवाले सीतादेवी के चूड़ामणि को राम ने ग्रहण किया था ॥ २१ ॥

अकृत्रिमश्रीनिलयेन रागिणा नरेन्द्रविहङ्गितहस्तशोभिना ।

सुवृत्ततामुद्रहता स्वभावतः स तेन रेजे भृशमात्मना यथा ॥ २२ ॥

स्वाभाविक शोभा का निधान, राज-लक्ष्णों से युक्त राजा के हाथ पर शोभा पानेवाले स्वभाव से ही गोलाई धारण करने वाले उस फल से राजा उसी प्रकार सुशोभित हुआ, जैसे सुवृत्त तथा सदाचारसम्पन्न आत्मा से मनुष्य शोभा पाता है ॥ २२ ॥

अजातपाकस्य नवातपाधिकां पुनः पुनस्तस्य विलोक्य शोणताम् ।

नवप्रवालोपममेणचक्षुषः स्मरन् स विम्बोष्ठमवाप शून्यताम् ॥ २३ ॥

जो ठीक से पका नहीं था, अतएव प्रभातकालीन लालिमा से युक्त था, ऐसे उस फल की लाली को देखकर नवीन मूंगे की लाली वाले, उस हरिणी की-सी आँखों वाली शशिप्रभा के अधर (ओष्ठ) का स्मरण करता हुआ सिन्धुराज शून्य-सा हो गया ॥ २३ ॥

अथास्य सीदन्मणिवन्धनान् करान् अवाञ्चतः कम्पिविसूत्रिताङ्गलेः ।

पपात पश्चादिव हेमकुट्टिमे तदस्फुटद्रागिव दाडिमीफलम् ॥ २४ ॥

जिसकी हथेली काँप रही थी, तथा कांपती हुई असमान भङ्गुलियों वाले उस राजा के हाथ से वह अनार का फल शीघ्र ही स्वर्णमय जमीन पर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

तदन्तरान् किंशुककान्तितस्करः स्फुरन्मणीनां निकरोऽथ निर्ययौ ।

उर्ध्वचिपः पुष्पशरासनक्रुधा कणोत्करस्त्र्यम्बकलोचनादिव ॥ २५ ॥

उसके गिरने पर उसमे पलाश की कान्ति को चुरानेवाला अर्थात् तत्सदृश दैदीप्यमान मणि-किरणों का समूह मानो निकल पड़ा । अर्थात् उसके अन्दर के लाल दाने बिखर गये । ऐसा मालूम पड़ा, जैसे कामदेव पर क्रोध के कारण

शिव के आग की लपट से युक्त नेत्रों से मयकर अग्निकण निकल रहे हो ॥ २५ ॥

अथ द्वयेनावनिपाकशासन स विस्मयम्याममहीमनीयत ।

वनौकसा तेन निनीतवृत्तिना विकर्णभासा भणिदाहिमेन च ॥ २६ ॥

तब विनम्र भाव वाले उस वानर ने और उज्ज्वल आभा फैलाने वाले उस अनार के फल ने—दोनों ने ही उस घरती के इन्द्र (राजा) का आश्चर्य की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया अर्थात् उन दोनों की देखकर राजा को अत्यन्त विस्मय हुआ ॥ २६ ॥

स चान्मृतप्राभृततोपित करे चकार रेखामणिकङ्कण कपे ।

घनात्ययतो निजमिन्दुपाण्डुरे पयोदपण्डे हरिवाडयायुधम् ॥ २७ ॥

वानर क द्वारा दी हुई उस मँट से अत्यन्त समृद्ध राजा ने नर्मदा के दिये हुए मणिकङ्कण को उस वानर के हाथ में पहना दिया । वह उसे धारण कर ऐसा लग रहा था, जैसे शरद्काल में चन्द्र के समान श्वेत आवल के टुकड़े में इन्द्र अपने धनुष को पहना देता है ॥ २७ ॥

तत सुधासूतिमिरोष्णितावृतिर्नवाञ्जनश्यामलयाङ्गलोत्पया ।

नृप क्षणादेव विचित्रभूषणम् पुमाममग्रे न हरि तमैक्षत ॥ २८ ॥

तब कृष्णपद्म के बाद अपनी कृष्णावृति का त्याग करनेवाले, नवीन अञ्जन के समान कृष्णवर्ण स्वरूप के उदले हुए विचित्र भूषणों में युक्त एक पुरुष को राजा ने सामने खड़ा देखा, कि वानर का, अर्थात् वानर ने मनुष्य आकृति धारण कर ली ॥ २८ ॥

कृतानतिविस्मितमानसे मुनौ रमाङ्गदे मादरमुत्तलोचन ।

व्यधान प्रणाम स कृताञ्जलिर्नृपे कपोलनेस्लनृकलधोतमुण्डल ॥ २९ ॥

आश्चर्य से चकित मुने की प्रणाम करके और रमाङ्गद की ओर भी सादर दृष्टि डालकर, यानों पर स्वर्णमुखहली को चमकाते हुए उसने राजा की हाथ जोड़ कर प्रणाम किया ॥ २९ ॥

मुनिभूत प्रश्न.

अलङ्कृत कस्य वदान्वयस्त्वया पदं क्व ते किञ्च कपिभवानभूत् ।

तमेवमाह स्म सविस्मयोमिणा नृपेण साकूतत्रिलोकितो मुनि ॥ ३० ॥

मुनि का प्रश्न

इसके बाद जब राजा ने विस्मय तरंग में युक्त दृष्टि से मुनि की ओर देखा, मुनि ने उस पुरुष से प्रश्न किया कि कहो, तुमने अपने जन्म से किस वंश को विभूषित किया है ? तुम कौन हो ? और वानर कैसे बन गये ? ॥ ३० ॥

शशिखण्डवाक्यम्

ततः स मुग्धेन्दुमयूखवन्धुभिः प्रसादयन् दन्तमरीचिभिर्दिशः ।

नवाम्बुभारालसनीरदावलीनिनादधीरामिति वाचमाददे ॥ ३१ ॥

तब वह सुन्दर चन्द्र-किरणों के समान दांतों की चमक से दिशाओं को जगमगाता हुआ, नवीन तथा जलपूर्ण अतएव अलसाये हुए मेघों की पंक्ति की ध्वनि के समान गम्भीर वाणी में बोला ॥ ३१ ॥

शिखण्डकेतोः शशिखण्ड इत्यहं मुनीन्द्र विद्याधरशासितुः सुतः ।

सुराङ्गनाध्यासितरत्नकन्धरे ममाधिवासः शशिकान्तपर्वते ॥ ३२ ॥

हे मुनीन्द्र ! मैं विद्याधरों के राजा शिखण्डकेतु का शशिखण्ड नामक पुत्र हूँ । देवस्त्रियाँ जिस रत्नमय गुफाओं वाले शशिकान्त पर्वत पर रहती हैं, वही मेरा निवास-स्थान है ॥ ३२ ॥

रथाङ्गपाणेः प्रतिमा समुद्रतः स्वयं महानीलमयी विनिर्गता ।

इति प्रवादः परमीक्षितुं च तां गता मणिद्वीपमितः पुरस्त्रियः ॥ ३३ ॥

“अति नीलवर्ण की भगवान् विष्णु की मूर्ति स्वयं ही समुद्र से निकली है” यह प्रवाद जब चारों ओर फैला तो उसे देखने के लिए नगर की सभी स्त्रियाँ मणिद्वीप की ओर चली गयीं ॥ ३३ ॥

ममापि तस्यामधिकं कुतूहलं तदेहि यावः कृत एष तेऽञ्जलिः ।

कदाचिदेवं सहस्रोपसृत्य मां प्रिया ययाचे प्रणिपत्य मालती ॥ ३४ ॥

तब एकवार मेरी पत्नी मालती ने भी सहसा मेरे पास आकर हाथ जोड़कर प्रार्थना की ‘हे प्रिय, मेरी भी उस मूर्ति को देखने की प्रबल इच्छा हो रही है, हाथ जोड़ती हूँ, चलो, हम भी उसे देखने चलें’ ॥ ३४ ॥

ततः खमिन्दीवरनीलमेकतस्तया सहोत्पत्य जवेन गच्छतः ।

स तात शैलेन्द्रभरक्षमः क्षणान् पपात मे लोचनगोचरेऽर्णवः ॥ ३५ ॥

महाराज ! तब कमल के समान नीले आसमान में जब मैं एक ओर से तेजी के साथ शीघ्रता से जा रहा था तो थोड़ी ही देर में पर्वतों के भार को उटाने में समर्थ समुद्र की आर मेरी दृष्टि गई ॥ ३५ ॥

उपोढनानामणिमोक्तिकोत्करैः करैरिवोर्ध्व प्रसरद्भिरुमिभिः ।

अनर्व्यमर्ध्य जगदंकचक्षुषे समुद्यतो दातुमिवांशुमालिने ॥ ३६ ॥

नाना प्रकार के अनगिनत मणि एवं मोतियों के ढेर को लिये हुए ऊपर उठनेवाली तरंगरूपी हाथों से जगत को प्रकाश देनेवाले सूर्य को अर्ध्य देने के लिए समुद्यत ॥ ३६ ॥

नवप्रवालद्युतिपाटलोदरः करो मुरारेरिव शार्ङ्गलान्छितः ।

अलङ्कृतो जलमहर्षिकन्यया पृथुर्जेटाजूट इवान्वकद्विपः ॥ ३७ ॥

नवीन मूँगा की कान्ति के कारण जिसका अन्तर माग अरुण हो रहा था, ऐसा समुद्र शास्त्र घाघ्र लिये हुए मगवान विष्णु के हाथ के समान तथा जाह्नवी गंगा ने सने मगवान् शकर के विशाल जटाभार की तरह मालूम पड़ रहा था ॥ ३७ ॥

उदप्रकल्लोलभदयितप्रहैरगाघपातालतलाभगाहिमि ।

दिशो निरुधन् नवमेघनादिभिनिमग्नदिङ्नाममदाविलैर्जलैः ॥३८॥

वह समुद्र ऐसा था, जिसमें बनी-बड़ी लहरें घटियालों को पीकित कर रही थीं जिसमें जन अगाध पाताल तक व्याप्त था, नवीन मेघों की गर्जना की भाँति नादनामा तथा दिग्गजों के अवगाहन करने के कारण जो गँदला बन गया था, ऐसा उस समुद्र का वह जल दिशाओं को व्याप्त कर रहा था ॥ ३८ ॥

ममेधितश्रीरमितम्सलोदयितै स्फुर मणिस्तोममयूखदामभि ।

युगातनामृतशतोदयापितै पुलोमक यापतिशामुंफैरिष ॥ ३९ ॥

वह समुद्र चारों ओर में नीचे तल से उठने वाली तथा सैकड़ों प्रलय-कालीन मेघों के द्वारा अर्पित इन्द्राणी के पति (इन्द्र) के धनुष की सी शोभा-वाली दैदीप्यमान मणियों के समूह की किरणरूपी झोरियों से अत्यन्त शोभा वाली था ॥ ३९ ॥

उपातविश्रान्तपयोदमण्डलैर्जलद्विपप्रन्तुनप्रकेलिभि ।

चिरोल्लसद्द्वीपधिथा समीक्षितैरिशालनेत्रैर्मितमिमि वृताद्भुत ॥४०॥

समीप में ही विभाम करने के लिए बैठे हुए अनेक बादलों में जहाँ जल-हस्ती बपन्नीका कर रहे थे, तथा विशाल नेत्रों जाल जन्मस्थ अन्हें बड़े-बड़े द्वीप समझकर देख रहे थे, जिससे वह समुद्र अद्भुत मालूम पड़ रहा था ॥ ४० ॥

मुजातकाठिन्यपयोधरा स्पृहाम् उपाहर ती पथि तादृशा पथि ।

क्वचिद्धान शरदिदुपेशता शिलासु शुक्तीर्जलमानुपीरिष ॥ ४१ ॥

कई स्तनोंवाली (शुक्तिपद्म में-बादलों ने जिनमें काठिन्य उत्पन्न कर दिया था) तथा मार्ग में इधर उधर घूमने की इच्छावाली (शुक्तिपद्म में-रास्ते में इधर उधर बिलरी हुई) शरदकालीन चन्द्र की भाँति कोमल शुक्तियों की जल-मुन्दरिया की तरह वह समुद्र धारण कर रहा था ॥ ४१ ॥

निजौघसीमत्तिसानुकदंमैर्बृहदपेपुञ्जितरत्नराशिभि ।

अथ प्रविष्टोद्धतकच्छपोद्धतैर्महाचलैरुल्लिखिताम्बर कचित् ॥४२॥

अपने वेग से पानी का बहाव रोकने के कारण जिनके कद मागा में चीचड़ एकत्र हो गया था तथा जिनकी बनी बनी गुफाओं में अनगिनत रत्न-माणिक्य भी इकट्ठा हो गये थे, ऐसे बड़े-बड़े विशाल पर्वत उस समुद्र में नीचे तल तक

थेसे हुए थे, उन्हें कच्छपावतार भगवान् धारण किये हुए थे, जिससे वे ऊपर उठ आये थे और गगनचुम्बी हो गये थे ॥ ४२ ॥

सवेगधेलानिलवेल्लिताः क्वचित् नवोद्गता विद्रुमकन्दलीर्दधन् ।

शिखा इवोर्ध्व तरुणार्कलोहिताः विनिर्गता वाडवजातवेदसः ॥ ४३ ॥

कहीं-कहीं पर तीर के वेगवायु से हिलाये गये नये-नये मूंगों के अङ्कुर को धारण करने वाला वह समुद्र ऐसा दिखाई दे रहा था, मानो प्रभातकालीन सूर्य की भाँति रक्तवर्ण की ऊपर उठती हुई वडवाग्नि की लपटें हों ॥ ४३ ॥

क्वचित् सुधापाण्डुनि फेनमण्डले निलीनदुर्वादलनीलनीरदः ।

सनाथतां नीत इवोपरि स्फुटम् फणीन्द्रपर्यङ्कशयेन शार्ङ्गिणा ॥ ४४ ॥

कहीं-कहीं पर अमृत की भाँति श्वेत फेन के समूह के ऊपर आसमान से लटके हुए दूध को भाँति नीले बादल ऐसे लग रहे थे, मानो शेषनाग की शैया पर सोने वाले भगवान् विष्णु ने उसको सनाथ कर दिया हो ।

विमर्श—भगवान् विष्णु नीलवर्ण, शेषनाग श्वेत, इसी तरह फेन-मण्डल श्वेत और मेघमण्डल नील—इसी तरह यह उपमानोपमेयभाव है ॥ ४४ ॥

क्वचित् मणीनां कुमुदोदरत्विपः सितेतरेन्दीवरमेचकाः क्वचित् ।

क्वचिद्धानः शुकचञ्चुपाटलास्तटेषु मुक्ताशवल्लोदराः शिलाः ॥ ४५ ॥

उस समुद्र के तटपर कहीं-कहीं कुमुद के अन्तर्भाग के समान श्वेत कान्तिवाली कहीं-कहीं नीलकमल की भाँति नीले रंग की तथा कहीं पर तोते की चोंच की भाँति रक्तवर्ण की मोतियों से भरी शिलायें थीं ॥ ४५ ॥

तथैव तस्योपरि गत्वरस्य मे तमालनीलेन पथा पयोमुचाम् ।

त्वाविशीर्णहलथवन्धनाच्चितः पपात सीमन्तमणिर्मृगीदृशः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार तमाल की भाँति नीले बादलों के मार्ग (आकाशमार्ग) से जब मैं उस समुद्र के ऊपर से सफ़लीक जा रहा था, तब जल्दी-जल्दी चलने के कारण ढीला होकर मेरी स्त्री का चूड़ामणि (शिरोभूषण) उस समुद्र में गिर पड़ा ॥ ४६ ॥

प्रधावमानेन मयान्तरान्तरा नखाग्रनित्त्नमयूखपह्वः ।

स चान्तरम् दीधितिमानिवोदधेर्विवेश कोशाम्रतरुच्छटारुपः ॥ ४७ ॥

दौड़ते हुए मैंने जब बीच-बीच में नाखूनों के अग्रभाग से उसकी किरणों को पकड़ना चाहा, तब वह कान्तिमान्, आम्रतरु के रक्त पत्तों की-सी कान्ति-वाला चूड़ामणि उस समुद्र के अन्दर उसी तरह चला गया, जिस तरह प्रकाश-मान सूर्य अस्त के समय समुद्र में समा जाता है ॥ ४७ ॥

निर्वर्तमानं तु हठात् विकृप्यता तुरङ्गहस्तेन निरुन्धता नभः ।

क्षणादिव क्वापि रसातलोदरे करीव चिक्षेप कृतारवोऽर्णवः ॥ ४८ ॥

उस चूड़ामणि को न पाकर जब मैं निराश होकर लौटने लगा कि रतने में अपने आकाश को व्याप्त करनेवाली उत्ताल तरङ्गरूपी हाथ से मुझे खींचकर समुद्र ने हाथी की तरह मयकर गर्बना कर क्षण भर में रसातल में जा पटका ॥ ४८ ॥

स्त्रीदर्शनम्

मयाऽयं तत्र भ्रमता सविस्मयम् तमुद्बहन्ती मणिमुत्पन्न करे ।

अदृश्यतैका विशती तपोवनं म्मरस्य मूर्ता ममतेव कन्यका ॥ ४९ ॥

स्त्री का दर्शन

जब मैं नीचे गया तो वहाँ विस्मय के साथ घूमते हुए मैंने साक्षात् शरीर-धारिणी काम की ममता के समान एक सुन्दर कन्या को देखा, जो उस चमकीले मणि को हाथ में लेकर तपोवन में प्रविष्ट हो रही थी ॥ ४९ ॥

ततः प्रियामौलिमणिर्न मेऽपि पुनः पुनः प्राथितयाऽपि यन् तथा ।

अहं तदस्या भक्तराङ्गिने बलान् अपाहर मन्मथरत्नपादुके ॥ ५० ॥

जब बार बार प्रार्थना करने पर भी उसने मेरी प्रिया व उस चूड़ामणि (शिर के आभूषण को) नहीं लौटाया, तब मैंने भी जबर्दस्ती उसके मङ्गली की आकृतिवाले कामरत्नजटित खड़ाक को छीन लिया ॥ ५० ॥

किमाश्रम शून्यमिदं तपोधनैरनेन हा धिक्कुमुषितास्मि दस्युना ।

अथेति धापोद्गमगद्गदं पदैर्मुहुर्वदन्ती करुण रुरोद सा ॥ ५१ ॥

‘हाय ! क्या यह आश्रम तपस्वियों से शून्य हो गया । अर्थात् यहाँ कोई तपस्वी नहीं रह गया, जो इस लुटेरे चोर ने भके लुट लिया ।’ आँसु निकल आने के कारण रूधे हुए कण्ठ से इस प्रकार बार-बार चिन्हाती हुई वह आत्यन्त करुण स्वर में जोर-जोर से रोने लगी ॥ ५१ ॥

मुनिदर्शनम्

तत्तस्तदीये रुदितध्वनौ श्रुते ससम्भ्रम कोऽपि महातपा मुनिः ।

विनिर्ययो रत्नशिलागृहाद्बहिस्तमालभासस्तरजिर्पनादिव ॥ ५२ ॥

मुनि का दर्शन

तब उसका रोने घोने के शब्द को सुनकर कोई महातपस्वी मुनि तमाल के समान नीली रत्नशिलाओं के बने हुए घर से उगी प्रकार बाहर आया, जैसे नीले गददले के बीच से सूर्य बाहर आता है ॥ ५२ ॥

अनेन तेनापि तयाश्रमे प्लान् इदं हि तातामरणं न मम ।

इति क्रुधं तद्वचसा स आददे हविर्निषेवेण शिर्यामिवानल ॥ ५३ ॥

‘हे महाराज ! जाने यह कौन है ! इसने आपका दस आश्रम में बरबस

“मेरा आभूषण छीन लिया है” इस प्रकार उस स्त्री के वचनों को सुनकर उस मुनिजी का क्रोध उसी प्रकार बढ़ गया, जैसे हवन-सामग्री पाकर आग की ज्वाला बढ़ती है ॥ ५३ ॥

शापवर्णनम्

निवद्धभीमभ्रुकुटिर्विलोकयन् दृशा तदोत्काकपिशोम्रतारया ।

स तीव्रकोपस्फुरिताधरोऽवदन् वचो ममाक्षिप्य कृतानतेरिति ॥ ५४ ॥

शापवर्णन

तब वह उत्का की भाँति जलती हुई लाल-पीली पुतलियों वाली दृष्टि से अपनी भयंकर भौंहें चढ़ाकर मुझे देखता हुआ, क्रोध के मारे काँपते हुए ओठों से विनम्र बने हुए मुझे बीच में कुछ न बोलने देकर बोला ॥ ५४ ॥

प्रसूनमप्यत्र न जातु वीरुधां हरत्ययं नः पवनस्तपोवने ।

त्वया तु सम्प्रत्यवलाविभूषणे शठात्मनाशाय करः प्रसारितः ॥ ५५ ॥

हे धूर्त ! हमारे इस आश्रम में तो वायु तक लताओं से एक पुष्प लेने का साहस नहीं करता, फिर तूने जो इस समय एक अश्वला के आभूषण को बरबस छीनने की चेष्टा की है, तो मानो तूने अपने नाश के लिए खुद आगे हाथ बढ़ाया है ॥ ५५ ॥

अकारि कापेयमिदं त्वयेदृशं यदद्य सद्यः कपिरेव तद्भव ।

ततः स मामित्यशपन् कमण्डलोरपः समादाय दवानलोपनः ॥ ५६ ॥

“आज जो तुमने इस प्रकार का वन्दर की भाँति अनुचित कार्य किया है तो तुम शीघ्र ही वन्दर बन जाओ ।” इस तरह उस दावानल के समान मुनि ने कहकर कमण्डलु से पानी लेकर मुझे शाप दे दिया ॥ ५६ ॥

कोपशान्तिः

अथास्य कोपः प्रशशाम मानसे शनैः कृपासानुशये प्रसीदति ।

अपां कणस्तिष्ठति वीचिकाम्पते न पद्मिनीपत्रपुटोदरे चिरम् ॥ ५७ ॥

फिर दयार्द्र चित्त वाले उस मुनि के प्रसन्न होने पर उनका क्रोध शान्त हो गया । ठीक ही है, जलतरंगों से कम्पित कमलिनी के पत्रों पर भला चिरकाल तक कहीं पानी की बूँद टिक सकती है ? ॥ ५७ ॥

इहानुतापो भगवन् विमुच्यताम् इयं मदीया भवितव्यतेदृशी ।

तदुच्यतां शापनिशामुखोद्गतं कदा ममेदं तिमिरं व्यरंस्यति ॥ ५८ ॥

फिर मैंने प्रार्थना की कि “भगवन् अब इस क्रोध को दूर कीजिए ।

मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा था, जो ऐसा हुआ । अब यह बताइये, मेरी इस शाप-रूपी रात्रि का यह अन्धकार कब मिटेगा, मेरा शाप कब छूटेगा ? ॥ ५८ ॥

मयैवमुक्तं ॥ तदैवमूचिवा ॥ यदा पुरो बह्मुनेरिहाग ॥

करे तवाधास्यति वत्स कंकण ॥ नार्मदं सीयकराजनन्दन ॥ ५६ ॥

मेरे ऐसा कहने पर उसने यह कहा—हे प्रिय, बह्मुनि के यहाँ आकर उसके सामने जब सीयकराजा का पुत्र सिधुराज नर्मदा के दिने हुए कंकण को तुम्हारे हाथ में पहनायेगा, तब तेरा शाप समाप्त होगा ॥ ५६ ॥

तत प्रभृत्येव वलीमुग्गाहृतं समा सहस्रं वसतो रसातले ।

अनेन मे सम्प्रति पायिवेन्दुना तत्रागमे शापतमस्तिरस्कृतम् ॥ ६० ॥

हे महामुने ! तबसे आज तक एक सहस्र वर्ष तक मैं वानरमुग धारण कर रसातल में रहता आया और आज इस राजचन्द्र ने आपके आश्रम में मुझे शाप से मुक्त कर दिया है ॥ ६० ॥

प्रत्युपकारकरुणच्छा

कृतं यदेतेन मुनीन्द्र लीलया प्रतिक्रिया तत्र न कर्तुमम्यलम् ।

हिमत्विपः प्रत्युपकारगोचरो मरीचिलीढकशिमा किमशुमान् ॥ ६१ ॥

उपकार करने की इच्छा

हे मुनीन्द्र ! इस राजा ने जो खेल-खेल में यह सब कर डाला है, मैं तो इस उपकार का बदला चुकाने में अपने को अत्यन्त असमर्थ पा रहा हूँ । अपनी प्रखर किरणों से जिसने चन्द्रमा की कृशता को भी लिया हो, ऐसे स्वयं का प्रत्युपकार चन्द्रमा क्या कर सकता है ? ॥ ६१ ॥

तथाप्ययं देश निजप्रयोजने लज्जीयसि क्यापि नियोज्यता जन ।

अनृसुर्वातलरत्नदीपकः किमर्थमा नाधित सूतकर्मणि ॥ ६२ ॥

फिर भी हे देव ! किसी छोटे मोटे काम को करने के लिए मुझे भी निमुक्त कर लीजिए । सारी धरतों का रत्नदीपक बना हुआ सर्व प्रकारे बहु अदृश्य को सूतकार्य के लिए क्या अपने पास नहीं रखता ? ॥ ६२ ॥

तेनैवमुक्तं प्रणयोन्मुखेन नृपस्त्रपानम्रमुखो धमूव ।

अतादृशानां स्तुतेय प्रकृत्या मदं यदुदीपयितुं यतते ॥ ६३ ॥

राजा के प्रति प्रेम रखनेवाला उसके ऐसा कहने पर राजा लज्जा से कुछ नतमुग्न हो गया । क्योंकि जुरे लोगों की की गयी तारीफ़ उनके गर्व को स्वभावतः और बढ़ाने का कार्य करती है, परन्तु मले लोग तो अपनी स्तुति सुन कर और भी नम्र हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

निजकथनम्

एवं सुधारससमृद्धिमनोदरेण श्लाघ्येन तेन शशिखण्डसमागमेन ।

नामप्यबापदुमया धटितम्यलक्ष्मीं स ह्यापतिर्क्षिति जूट्वाष्टमूर्ते ॥ ६४ ॥

अपनी दशा का वर्णन

इस प्रकार अमृतरस की शोभा के समान मनोहर एवं प्रशंसनीय उस शशिखण्ड के साथ समागम से वह राजा उसी प्रकार सुशोभित हुआ, जैसे उमा के संसर्ग से भगवान शंकर का जटाजूट शोभित होता है ॥ ६४ ॥

तेनाथ सूनृतवचःश्रुतये स पृष्टः पृथ्वीतलागमनहेतुमजानतेव ।

आख्यातवान् स्मितमुधास्नपितोष्ठविम्बस्तस्मै निजव्यतिकरं नरलोकपालः ॥

उस शशिखण्ड ने श्रुतिमधुर शब्दों को सुनने के लिए जब अज्ञानी की भाँति धरातल पर राजा के आगमन का कारण पूछा तो मधुर हंसीरूपी अमृत से ओठों को नहलाते हुए उस राजा ने उसको अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ६५ ॥

विद्याधरस्तदनु स प्रहितोऽपि राज्ञा नैव स्वधामगमनाभिमुखो बभूव ।

पूर्वोपकारिणि जनेऽनुपकृत्य किञ्चिन् यान्तो यदुन्नतधियः किमपि त्रपन्ते ॥ ६६ ॥

फिर सिन्धुराज के विदा करने पर भी वह विद्याधरपुत्र शशिखण्ड अपने घर जाने के लिए उत्सुक नहीं रहा, क्योंकि अपना उपकार करने वाले के प्रति बिना कुछ प्रत्युपकार किये यों ही चले जाने में उच्च कोटि के लोग कुछ हिचकिचाते हैं ॥ ६६ ॥

देव प्रसीद समितिः क्रियतामिदानीं भृत्यः स्वपादरजसामयमग्रयायी ।

तस्येति वल्गु वचनं वचसा महर्षेः सम्राट् ततः स कथमप्युरीचकार ॥ ६७ ॥

शशिखण्ड बोला—“हे राजन्, आप मुझ पर प्रसन्न होइये और कृपया हमेशा आपके आगे-आगे चलनेवाले मुझ दास को अपनी चरण-कमल की धूलि का साथी बना लीजिये” उसके इन यथार्थ वचनों को राजा ने महर्षि वंशु के कहने पर मान लिया ॥ ६७ ॥

आमन्द्रशङ्खपटहस्वनसूचितं प्राक् सैन्यं क्षणात् निजमथ स्मृतमात्रमेव ।

धौतासिपत्रबहुलांशुलतोपगूढं पातालसन्तमसमस्य पुरो बभूव ॥ ६८ ॥

इसके बाद शशिखण्ड के स्मरण करते ही उसका सारा विशाल विद्याधरों का सैन्य उसके सामने समुपस्थित हुआ । उसमें चमकीली तलवारों की किरणें लताओं के समान शोभायमान थीं और जो पाताल के अन्धकार की तरह मालूम पड़ रहा था ॥ ६८ ॥

प्रस्थानम्

तेनोपपादितमथो रथमुत्पताकम् अध्यास्य कार्मुकसनाथकरो नरेन्द्रः ।

वज्राङ्कशम्प्रति स बद्धमुनिप्रयुक्तः प्रस्थानमङ्गलविधिर्मत्सृणं प्रतस्थे ॥ ६९ ॥

सेना सहित प्रस्थान

शशिखण्ड के द्वारा सामने लाये हुए रथ पर जिस पर झण्डा फहरा

रहा था, धनुष को लेकर वह राजा बैठा । और जब विधि विधानपूर्वक वटकु-
मुनि ने प्रस्थान योग्य सुन्दर भगलपाठ इत्यादि कर दिया, तब वह वज्रास्त्रकुश
पर आक्रमण करने के लिये चल पड़ा ॥ ६६ ॥

सन्नेनाङ्गे युगपदुदजद्वादेशाददूरे

पश्यन्तीना मुनिमृगदृशा लोचनाशूकरेण ।

सद्दामाजिकृतुमरमहादीक्षया स क्षितीशो

मेध्यामेणुत्वचमिव दधन् सक्षणा क्षदयते मम ॥ ७० ॥

कुटियों के दरवाजे के समीप ही चले जाते हुए उस राजा पर उसकी और
देखती हुई मृग के समान नेत्रवाली मुनिस्त्रियों की दृष्टियों की जो किरणें
पड़ रही थीं, उससे वह ऐसे सुशोभित हो रहा था, मानो भयकर युद्धरूपी यश
के लिए दीक्षा ग्रहण करने वाले उसने पवित्र हरिण के लाल चर्म को धारण
कर लिया हो ॥ ७० ॥

चलितयतिसमाधिप्रस्तसारगशाधं

निमृत्तशुभृतोच्चैर्नाडमुद्धीनग्रहि ।

हरिणमिधुनमुत्तान्योयकण्डूयम तत्

मुनिवनमभितोऽभून् सैन्यकोलाहलेन ॥ ७१ ॥

तब समस्त मुनिवन में सेना का कोलाहल होने लगा, जिसके कारण
यतियों की समाधि टूट गई, हिरन के बच्चे डर गये, तोते-मैना सक्पका गये,
मोर घोंसलों से उड़कर भागने लगे, हरिणों के जोड़े ने एक-दूसरे को सींग से
खुललाना बंद कर दिया ॥ ७१ ॥

अथ पथि नवसाहसाङ्गं स विद्याधरैर्वन्दित

प्रमुदितमुनिरुयकामुक्तनीवारलाजाञ्जलि ।

अग्रिमधित रमाङ्गदेनान्वितस्तूर्यधोपोमिभि

हुसगिरिबुद्धरप्रतिष्थानं दीर्घैर्नरुधन् दिश ॥ ७२ ॥

इति श्रीमृगाङ्कदत्तसुनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतो नवसाहसाङ्कचरिते
महाकाव्ये विद्याधराधिपसमागमो नाम त्रयोदश सर्ग ॥ १३ ॥

रास्ते में विद्याधर उसकी वन्दना कर रहे थे । प्रसन्न हुई मुनिकन्यायें उस
सिन्धुराज के ऊपर घान की लाजाञ्जलि बिखेर रही थीं । शोभासम्पन्न, तुरही की
ध्वनि द्वारा पर्वत-गुहाओं को प्रतिष्थानित करता हुआ और दसों दिशाओं को
व्याप्त करता हुआ वह रमाङ्गद के साथ युद्ध के लिए चल पड़ा ॥ ७२ ॥

मृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमल उपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्कचरित में
७८ विद्याधर से राजा का समागम नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः सर्गः

चौदहवाँ सर्ग

आकाशारोहणम्

अथाश्रमोपान्तमर्ही विहाय नेमिस्वनोत्कण्ठितनीलकण्ठाम् ।
रथोऽस्य विद्याधरमंत्रशक्त्या रथाङ्गपाणेः पदमारुरोह ॥ १ ॥

आकाश में आरोहण

चक्र की ध्वनि से मयूरी को उरसुक बनानेवाली धरती के समीपवर्ती
भागों को त्यागकर विद्याधरों की मंत्रशक्ति के बल पर सिन्धुराज का रथ
आकाश में चढ़ गया ॥ १ ॥

स सम्भ्रमोत्तम्भितकर्णतालम् आकर्णितो दिक्करिभिः सकम्पैः ।
आध्मातशङ्खस्वनमांसलोऽग्रे तस्योदगान्मद्गलतूर्यघोषः ॥ २ ॥
सेना के आगे-आगे मद्गलवाद्यों का घोष और जोर से बजाये हुए शङ्ख
के गम्भीर शब्द को भय के साथ कान खड़े किये हुए कांपते हुए दिशाओं
के हाथियों (दिग्गजों) ने सुना ॥ २ ॥

उदस्य वक्रत्राणि नभस्थलेन यान्तं तमैक्षन्त तपस्विकन्याः ।
आकर्णविस्तारितमुग्धनेत्राः पत्रान्तरैराश्रमपादपानाम् ॥ ३ ॥
कान तक फैली हुई बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों वाली तपस्विकन्याओं ने
आश्रम के पेड़ों के पत्तों के बीच के झरोखों से मुख आगे बढ़ाकर आकाश-
मार्ग से जाते हुए उसे देखा ॥ ३ ॥

व्रजन् स विद्याधरवाहिनीनां मध्ये बभौ मध्यमलोकपालः ।
अनल्पसौन्दर्यसुर्धकसूतिः शशीव नक्षत्रपरम्पराणाम् ॥ ४ ॥
विद्याधर की सेनाओं के मध्य में वह धरती का राजा उसी प्रकार सुशो-
भित हुआ, जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच अत्यन्त सौन्दर्यशाली अमृत को एक-
मात्र उत्पन्न करनेवाला चन्द्रमा ॥ ४ ॥

कुतूहलोत्त्लासितपद्मलेखान्याकृष्टकर्णोत्पलविभ्रमाणि ।
तस्मिन्मुच्यन्त नितम्बिनीभिरपाङ्गवल्ग्वीनि विलोचनानि ॥ ५ ॥
कुतूहल के कारण जिनकी बलकें उल्लसित हो गयी थीं, जिन्होंने अपने
कर्णभूषण रूप कमलों को हटा लिया था, ऐसी उन नारियों के नेत्रों के मधुर
कटाक्ष उस राजा पर पड़ने लगे ॥ ५ ॥

रमाङ्गदकृतवर्णनम्

अथान्तिकस्थेन स चाऽभ्यधायि रमाङ्गदेनेत्यभवन्तिनाथ ।

सहस्रशः से चलितानि पश्यन् विद्याधराणां पुरतो बलानि ॥ ६ ॥

रमाङ्गदकृत वर्णन

सहस्रो की सरया में आकाश में चलती हुं विद्याधरों की सेना को देख कर उस समीपवर्ती रमाङ्गद ने उस अवन्तिनाथ से इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

हैम नृप स्यन्दनमुत्पताकम् आकम्पिरन्नाङ्कितकेतुमेते ।

सहस्रशमेरिष बालाखिल्याः शिन्धरास्ते परिचारयन्ति ॥ ७ ॥

हे राजन् ! लहराते हुए भएबेवाले एव काँपती हुईं रत्न पताकाओं वाले आपके स्वर्णमण्डित रथ को घेरे हुए ये विद्याधर लोग ऐसे लग रहे हैं, मानो घेरा बनाकर स्य को प्रणाम करनेवाले बालाखिल्य मुनि हों ॥ ७ ॥

व्रजव्रतमर्त्यप्रमदाभिमुक्तमन्दारमालाजटिलासकूट ।

कुन्दच्छटापाण्डुसटाकलाप कात्यायनीसिंह इवावभासि ॥ ८ ॥

आपकी इस यात्रा में विद्याधर एवं देवस्त्रियों द्वारा समर्पित मन्दार- (पारिजात) मालाओं से लदे हुए कन्धों वाले आप ऐसे दिखाई दे रहे हैं, जैसे कुन्द के पुष्पों की कान्तिवाली छटाओं (आयाल) से युक्त भगवती चण्डी का सिंह हो ॥ ८ ॥

प्रयाणतूर्यध्वनिरेप किं ते पातालकुक्षिप्रतिनादसाद्र ।

रथं प्रसपत्युत भैरवोऽयम् अकालकल्पान्तपयोधराणाम् ॥ ९ ॥

जरा सुनिये तो, युद्ध के समय बजने वाली तुरहों का शब्द पाताल तक पहुँच कर दूनी आवाज में सुनाई दे रहा है । क्या यह आपकी सेना का प्रयाणकालीन भैरवी का शब्द है या अकाल में ही प्रलयकालीन मेघों की मयकर गर्जना है ? ॥ ९ ॥

मूले भुव कञ्जलधूलिकल्पम् आलक्ष्यते पश्य निलीनमेतत् ।

नीरन्ध्रविद्याधरमौलिरत्नप्रभाङ्कुराशितमन्धकारम् ॥ १० ॥

धरती के नीचे वाले भाग में काजल की धूलि के समान जो अन्धकार है, वह विद्याधर लोगों के घने मुकुटों की मणियों के प्रकाश से दूर हटाया जा रहा है और वह छिपता हुआ सा मालूम हो रहा है ॥ १० ॥

आयामिमालामणिकातिदण्डैरुत्सारयन्त परितस्तमासि ।

अमो मरुनतितचामरास्ते समुत्तिखन्तीव सुरैस्तुरङ्गा ॥ ११ ॥

लम्बी-चौड़ी मालाओं में लगे मणियों की कान्ति रूपी दण्ड से चारों ओर के अन्धकार को हटाते हुए, हवा से जिनके ऊपर के चोंचर नाच रहे हैं,

ऐसे आपके ये घोड़े तो मानो अपने खुरों से आसमान को ही कुरंदना चाहते हैं ॥ ११ ॥

विहस्य विद्याधरवालिकाभिः समं विमुक्ता नयनत्रिभागैः ।

प्रस्थानलाजाञ्जलयस्तवैते रथे पताकास्खलिता पतन्ति ॥ १२ ॥

विद्याधर-वालिकाओं ने हँसकर अपने नयन-फटाक्षों के साथ जो प्रस्थान के लिए शुभ लाजा बिखेरे हैं, वे रथ की पताकाओं से टकराकर आपके ऊपर गिर रहे हैं ॥ १२ ॥

नरेन्द्र विद्याधरपुङ्गवानाम् एते पुरः पश्य कृपाणपट्टाः ।

कालाञ्जनश्यामतयाऽऽश्रयन्ते तरङ्गतां व्योममहार्णवस्य ॥ १३ ॥

हे राजन् ! श्रेष्ठ-श्रेष्ठ विद्याधरों के ये कृपाणपट्ट सामने ही शोभायमान हैं, जो काले अञ्जन की भाँति श्याम रंग के रूप में ऐसे दिखाई दे रहे हैं, मानो आकाशरूपी महासमुद्र की लहरें लहरा रही हैं ॥ १३ ॥

वाचालयन्त्यः ककुभां मुखानि नादेन जान्वूनदकिङ्किणीनाम् ।

इमाः विमानावलयः कथञ्चित् अन्योन्यरुद्धप्रसराः प्रयान्ति ॥ १४ ॥

दिशाओं को स्वर्णनिर्मित घण्टिकाओं की ध्वनि से मुखरित करती हुई, एक-दूसरे के मार्ग को रोकती हुई ये विमानों की पंक्तियाँ भागे बढ़ रही हैं ॥ १४ ॥

वातवर्णनम्

आधृतकार्तस्वरकेतुयष्टिरेतान्यशोकस्तवकारुणानि ।

आनतयत्येप पताकिनीनां वातः पताकांशुकपल्लवानि ॥ १५ ॥

वायु का वर्णन

भण्डों में लगे स्वर्णदण्डों को बँपाती हुई और इन अशोक वृक्षों पर लगे रक्तवर्ण के पुष्पगुच्छों के समान सेनाओं के ध्वजवस्त्रों को नचाती हुई यह हवा चल रही है ॥ १५ ॥

नभश्चराणां व्रजतामसीपाम् अन्योन्यपीनांसविघर्षणेन ।

उल्लासितः कुङ्कुमपांसुपूरः पिशङ्गयत्येप दिशां मुखानि ॥ १६ ॥

आकाशमार्ग में चलने वाले इन लोगों के एक-दूसरे के पुष्ट कंधों की रगड़ से उठी हुई कुङ्कुम-धूलि का पुंज दिशाओं के मुखों को भी मानो धूसर बना रही है ॥ १६ ॥

प्रेक्षकस्त्रीवर्णनम्

सरत्नकाञ्चीवल्यैर्विलाससिंहासनैर्मन्मथपार्थिवस्य ।

इतो नितम्बैरसितेक्षणानां व्याप्तान्तरं व्योम समाप्तिमेति ॥ १७ ॥

प्रेक्षक स्त्रियों का वर्णन

कृष्ण वर्ण के नेत्रों वाली स्त्रियों की रत्नजटित मेखलाओं से सुवाजन, कामदेव रूसी राजा के प्रियास की चौकियों जैसे नितम्बों से भरा हुआ सारा नय ऐसा दिखाई दे रहा है, मानो उसकी लम्बाई-चौड़ाई समाप्त हो गई हो ॥ १७ ॥

अन्योन्यसंघट्टिसूत्रितानि कुमुद्वतीकान्तकरोपमाणि ।

एतानि पर्याम्बरत पतन्ति विमानमुक्ताफलनालकानि ॥ १८ ॥

आपस में टकराने से विमानों के मोती टूट रहे थे, चन्द्रमा की किरणों के समान तेजस्वी ये मोती देखो, आकाश से नीचे गिरे जा रहे हैं ॥ १८ ॥

एता प्रयान्त्य पुरतो विमानैर्विशर्त्य घाला मरुपङ्कजानि ।

अपाङ्गविभ्रान्तरिलोलतारैस्त्वा नाथ नेत्राञ्जलिभि पिबन्ति ॥ १९ ॥

ये विमानों पर जाने वाली तरुणियाँ अपने मुखकमलों को इधर धुमाकर नेत्र के कोनों में चञ्चल पुतलियों को स्थिर कर अर्थात् कटाक्षपात करती हुई एक एक आपके रूप का पान कर रही हैं ॥ १९ ॥

आसामित सत्वरगामिनीना गतागताभ्या मणिकुण्डलानि ।

निन्दन्ति त्रिधाधरकामिनीना कपोलकालागरूपत्रकाणि ॥ २० ॥

यहाँ देखिये, जल्दी जल्दी चलनेवाली, इधर उधर आने जानेवाली त्रिधाधर-स्त्रियों के मणिकुण्डल उनके गालों पर बने हुए कालागरु की पंजरचना (बनाकट) को रगड़कर मिटा रहे हैं ॥ २० ॥

इतो मिथ पार्श्वत्रिघट्टितेषु जवाद् विमानेषु समापतत्सु ।

आसामित प्रेक्षितमभ्यरत्नसूत्रिता हारतना स्फुटति ॥ २१ ॥

इधर शीघ्रता से विमानों के आने-जाने के कारण आपस की टक्कर लगने से इन स्त्रियों के झिलते हुए हारों के रत्नजटित मध्यभाग भी टूट रहे हैं ॥ २१ ॥

एते गतिर्भोगशान् वधूना पश्योन्मयूरा मणिकर्णपूरा ।

इतस्तले सञ्चरतामहीना निपत्य चूडामणिषु स्वनन्ति ॥ २२ ॥

इधर देखो, चलने से जो हचका लग रहा था, उसके कारण किरणें क्षिप्त से निकल रही थीं, ऐसे इन स्त्रियों के मणिजटित कनपूल, तल पर इधर उधर विचरण करनेवाले सर्पों के मस्तकस्थित मणियों के ऊपर गिरकर शब्द कर रहे हैं ॥ २२ ॥

पातालमेतन्नयनोत्सरेण विचिन्त्य शून्यं शशलाञ्छनेन ।

इहाङ्गनाभि म्वमुखच्छलेन मृताम्बरे चन्द्रमयीव सृष्टि ॥ २३ ॥

नयनों को आनन्द देनेवाले चन्द्रमा से पाताललोक को रहित आन

कर ही मानो यहाँ पर इन स्त्रियों ने अपने मुखचन्द्रों के बहाने से सारे आकाश में चन्द्रमाओं की नई सृष्टि ही कर दी है ॥ २३ ॥

इतो रसं पल्लवयन्ति वीरं विद्याधराणां करवालवल्लयः ।

एताश्च शृङ्गारमितोऽङ्गनानां दृशो नवेन्दीवरदामदीर्घाः ॥ २४ ॥

एक ओर तो वीर विद्याधर लोगों की तलवारें वीररस को पुष्ट कर रही हैं और इधर दूसरी ओर नवकमल की पंखुड़ियों के समान दीर्घ नेत्रोंवाली स्त्रियों की दृष्टियाँ शृङ्गार-रस का आधान कर रही हैं ॥ २४ ॥

झटित्यवाप्तप्रतिविम्बमेतत् सैन्यं विलोक्य स्फटिकाङ्गणेपु ।

स विस्मयं नागपुराङ्गनाभिरितो क्रियन्ते नयनोत्पलानि ॥ २५ ॥

शीघ्र ही स्फटिक-निमित्त अंगनों में विमानों की परछाईं और सेना की परछाईं देखकर आश्चर्य के साथ नागपुर (पातालपुर) की स्त्रियाँ अपने कमल नयनों को उठाकर इस ओर देखने लगी हैं ।

विमर्श—अर्थात् नीचे हमारे सैन्य की परछाईं देखकर कौतूहलवश सभी सुन्दरियों के नेत्र इस तरफ उठ गये हैं ॥ २५ ॥

नरेन्द्र तस्माद् गगनावगाहित्वदर्शनव्यग्रतपस्विपङ्क्तैः ।

दूरं हविर्धूमसुगन्धिस्तीम्नः स्थानात् वयं वङ्कमुनेः प्रवृत्ताः ॥ २६ ॥

हे राजन् ! आकाशमार्ग से जाने वाले आपके दर्शनों के लिये उत्सुक तपस्वियों की पंक्तिवाली, तथा हवन की धूम की सुगन्धि वाली वङ्कमुनि की आश्रम की सीमा से बाहर अब हम आगे चले आये हैं ॥ २६ ॥

वनवर्णनम्

यथाऽयमभ्येति पुरो नभस्वान् आकृष्टनानाविधपुष्पगन्धः ।

अग्रे तथाऽभ्रंलिहभूरुहं नः शङ्के वनं दृक्पथमेप्यतीति ॥ २७ ॥

वन का वर्णन

नाना प्रकार के फूलों की गन्ध की धारण करनेवाली यह हवा जैसे-जैसे हमारे पास आ रही है, और आगे गगनचुम्बी ऊँचे-ऊँचे पेड़ दिखाई पड़ रहे हैं, अतः इससे यही जान पड़ता है कि सामने ही वन आने वाला है ॥ २७ ॥

एभिर्महीपाल विमानरत्नैरग्रेसरैः सम्भ्रममुक्तमार्गः ।

निष्कम्पकेतुर्महताऽस्पदेन रथस्तवायं वियति प्रयाति ॥ २८ ॥

इन आगे चलते हुए श्रेष्ठ विमानों द्वारा मानो आप के रथ के लिए डरकर मार्ग खाली कर दिया गया है और तब खाली मार्ग पर जिसका झण्डा भी हिलता हुआ नहीं प्रतीत हो रहा है, ऐसा तुम्हारा यह रथ अतिशीघ्रता से आकाशमार्ग से चल रहा है ॥ २८ ॥

सितप्रसूनस्तम्बैस्त्वरूपाम् एषा पुरस्तारकिना तरिता ।

झटित्यशेषैव निमेषमात्रादुन्मीलिता पश्य वनात्तलेता ॥ २६ ॥

बृक्षों के श्वेत फूलों के गुच्छों से जिसने आकाश में मानो तारे लगा दिये हैं, ऐसी यह वनभाग की भूमि क्षण भर में ही साफ-साफ दिखाई देने लगी है, जरा आप भी उसे देखें ॥ २६ ॥

यदीश विद्याधरवाहिनीयम् आकाशत किञ्चिदध प्रवृत्ता ।

अवैमि चित्ते निहित सदस्या पदं वनालोकनकौतुकेन ॥ ३० ॥

हे स्वामी ! विद्याधर लोगों की यह सेना आकाश से कुछ नीचे की ओर जा रही है, इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि वन देखने की उत्सुकता ने इसके चित्त में अपना घर बना लिया है ।

विमर्श—अर्थात् वनशोभा की नयनमनोहारिता को पास से देखने के लिए ही यह हमारी सेना अब कुछ नीचे से जा रही है ॥ ३० ॥

एषा तमालावलिनीलकान्तेस्फोटरामामुखहेमपद्मा ।

सेना वनस्याभिमुख प्रयाति पर्याम्नराशेरिव जह्नुकन्या ॥ ३१ ॥

सुन्दरी स्त्रियों के विकसित मुखों के समान पीत-कमल जिसमें खिले हुए हैं, ऐसी जाह्नवी गंगा जिस तरह समुद्र की ओर बौझती है, उसी तरह हमारी यह सेना तमाल वृक्षों की पत्तियों के कारण नील कान्ति वाले इस वन की ओर जा रही है ॥ ३१ ॥

अस्याः क्षमापाल वनान्तराजेविमानपङ्क्तिं पुरतः स्थितेयम् ।

आलम्ब्यते रत्नकिरीटलक्ष्मीं मणिप्रभोद्गगीर्णमहेन्द्रचापा ॥ ३२ ॥

हे पृथ्वीपाल ! इस वनपङ्क्ति के ऊपर विराजमान मणिप्रभा से स्फुट इन्द्रधनुष की-सी शोभा धारण करनेवाली यह विमानों की पङ्क्ति, रत्न-जटित मुकुटों का शोभा धारण कर रही है ।

विमर्श—अर्थात् वन के चिर पर स्थित ये विमान, जिनमें रत्नादि जड़े हुए हैं, उनके मुकुट का काम कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

एते रत्नलीनक्षतशोणितक्ताः पश्येद्गोपत्रियमुद्वहन्तः ।

तुरङ्गलालाचलविदबस्ते लुठन्ति हेमदुमपत्तवेपु ॥ ३३ ॥

लगाम के लीचन व कारण घाव से जिनके मुख रक्तराज्जल हो रहे हैं, ऐसे उन घोड़ों की रक्तमिश्रित लार की बूँदें लालमणि की भांति स्वर्ण सदृश वृक्षों के पत्तों के ऊपर पड़ रही हैं ॥ ३३ ॥

मन्दानिला दोलितपल्लवाग्रा समस्तपुष्पाहरणोद्यताभ्यः ।

इतो लता पार्थिव सरमत्ते लावण्यमादातुमिवाङ्गनाभ्यः ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! ये हवा के हलके झोंकों से हिलते हुए पत्तों वाली लताएँ अपने

पुष्पों को चुनने वाली इन स्त्रियों से उनका सौन्दर्य ग्रहण करने की इच्छा कर रही हैं ।

विमर्श—सुन्दरियाँ सब पुष्पों को चुनती थीं, उसके बदले में लताएँ उनके सौन्दर्य को ग्रहण करना चाहती थीं ॥ ३४ ॥

अमूनि पुष्पाणि महीरुहाणाम् आभान्ति लीनभ्रमरोदराणि ।

विद्याधरी-विभ्रमदर्शनार्थम् उत्तानितानीव विलोचनानि ॥ ३५ ॥

जिनके ऊपर भौरे बैठे हुए हैं, ऐसे इन वृक्षों के पुष्प ऐसे मालूम होते हैं, मानो विद्याधर-सुन्दरियों के शृंगारी हाव-भावों को देखने के लिए वृक्षों ने अपनी आँखें खोली हों ॥ ३५ ॥

पश्याम्र वातायनमेतदेत्य लताग्रपुष्पाण्यवचिन्वतीनाम् ।

नृपातिभारेण नितम्बिनीनां विमानरत्नानि पुरा नमन्ति ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! आगे के झरोखों में आकर लताओं से फूल चुनने वाली स्त्रियों को तो देखो, जिनके नितम्ब के अत्यधिक भार से (वजन से) विमानों के अग्रभाग के मणि भी झुके जा रहे हैं ॥ ३६ ॥

शाखाग्रलग्नासु महीतरुणां विटङ्करत्नद्युतिशृङ्खलासु ।

विलम्बमानैरिव चुम्बितेयम् इतो विमानैर्मणिपञ्जरश्रीः ॥ ३७ ॥

विमानों के नीचे की चौखटों में लगी ये रत्नजटित जजीरें पेड़ की शाखाओं का स्पर्श कर रही हैं और उन पर लटकते हुए ये विमान ऐसे लग रहे हैं, मानो मणिनिर्मित पिंजड़े हों ॥ ३७ ॥

इमाः समं प्राणसमैर्वनेऽस्मिन् सर्वतुल्यमीशिविडोपगृहे ।

नभःस्थिता एव नरेन्द्र पश्य पुष्पोच्चये लोलदृशः प्रवृत्ताः ॥ ३८ ॥

हे नरेन्द्र ! जरा इधर तो देखिये, सब श्रुतुओं में एक सी शोभा धारण करने वाले इस वन में अपने प्राणों की वाजी लगाकर ये कोई चञ्चल नेत्रों वाली नारियाँ आकाश से ही फूल चुनना चाहती हैं ॥ ३८ ॥

एताः करैः काञ्चनपद्मगौरेर्विलासवत्यः सनिवन्धनानि ।

हरन्ति पुष्पाणि महीरुहाणां मृदूनि यूनामिव मानसानि ॥ ३९ ॥

इधर ये विलासिनी स्त्रियाँ पीतकमल के समान गौर वर्ण के हाथों से डण्डल सहित पुष्पों का उसी तरह आहरण कर रही हैं, जैसे युवकों के कोमल प्रेमवद्ध मन को हरती हैं ॥ ३९ ॥

आसां लताग्रस्तवकोत्थितानि शिखण्डरत्नद्युतचुम्बितानि ।

पश्योपरिष्ठादलिमण्डलानि नीलातपत्रभ्रममारभन्ते ॥ ४० ॥

इन लताओं के अग्रगुच्छों के साथ आगे उठा हुआ नीलरत्न की कान्ति

भारण करने वाला यह भ्रमरों का समूह ऊपर से देखने पर नीले छत्र का भ्रम उत्पन्न कर रहा है

विमर्श—अर्थात् इसे देखकर ऐसे लगता है, जैसे किसी ने नीला छत्रा लगा रखा हो ॥ ४० ॥

मुञ्चत्यलि पुष्पलतामितोऽयम् आघ्रातरामामुत्पन्नगन्धः ।

गुणप्रकर्षे हि सदा मनासि गुणात्तरत्नानवता रमन्ते ॥ ४१ ॥

सुन्दर नारियो के मुखकमल की गंध को पाकर यह भ्रमर इस पुष्पलता को त्याग रहा है, ठीक ही है, विभिन्न गुणों के शानी लोगों के मन सदैव उत्कृष्ट गुणों पर रम जाते हैं ॥ ४१ ॥

लतैतया चूततरो सलीलम् आनीयमाना नतिमानताङ्ग्या ।

पश्योत्पत्तपुष्पशिलीमुरजेयम् आभाति कन्दर्पघनुर्लतेष ॥ ४२ ॥

इधर देखो, यह सुन्दरी इस आम्रवृक्ष की लता को खेल खेल में ही मुका रही है। मुकाने के कारण फूलों पर से उठने हुए मौरों वाली यह लता ऐसी मालूम पड़ रही है, मानो कामदेव के घनुष की डोरी हो ॥ ४२ ॥

भ्रमद्विरेफावलिलोलदृष्टिर्लीलावतसक्रिययोग्मुत्तानि ।

विचेतुमेपा कुमुभानि नाल तरो स्तनालिङ्गनदोहदस्य ॥ ४३ ॥

घूमनेवाले भ्रमरों की पंक्ति के कारण मयभीत दृष्टि वाली यह स्त्री देखो, उसके स्तनों के आनिगन की छाया वाले वृक्ष इसके स्न कर्णामूषणों का काम करने के लिए सन्नद्ध फूलों को नहीं तोड़ पा रही है ॥ ४३ ॥

प्रियापित कावनिपीतमुत्तपूरध्रिग्निवाधरकातिचौर ।

अस्या सरस्नत्विपि कर्णपाशे किमप्यशोकस्तनकदम्बकास्ति ॥ ४४ ॥

प्रिया के द्वारा समपित और प्रिय के द्वारा पीकर छोड़ दिये गये रमणी के त्रिम्ब समान ओठों की कान्ति को चुराने वाला (कान्ति वाला) यह अशोक के फूलों का गुच्छ इसके स्न किरणों से चमकीले कान पर शोभा पा रहा है ॥ ४४ ॥

अस्या लताक्षेपविसृजितम्य हारम्य लग्नस्तनकुङ्कुमस्य ।

मृष्टा क्षिती दाडिमग्रीवमोहान् आक्षिप्य मुक्ता कषय निपति ॥ ४५ ॥

लता में उलझने से दूटे हुए स्तनों के कुकुम से सने इस सुन्दरी के हार के दूटे हुए और धरती पर बिखरे हुए मोतियों को अनार के दाने समझ कर बदर उठाते और फिर उन्हें दूर पक देते हैं ॥ ४५ ॥

निदायलक्ष्मीहसितच्छदेय पर्याप्तपृष्ठागरुधूमगन्धे ।

बधे कचना नरमल्लिकाऽस्या पर्यालिनीले परिभागमेति ॥ ४६ ॥

ग्रीष्मकालीन शोभा की भाँति श्वेत कान्ति वाली यह नवमल्लिका की माला पर्याप्त कृष्णागर धूप से सुगन्धित इस स्त्री के काले वालों के जूड़े के चारों ओर बँधी है ॥ ४६ ॥

असावितः पार्थिव दन्तपत्रम् अपास्य हंसच्छदपाण्डु वाला ।

करोति कर्णे नवकर्णिकारम् उत्तापितापटापदरत्नशोभि ॥ ४७ ॥

हे राजन् ! हंस के पंख के समान गौर वर्ण वाली यह सुन्दरी कर्णी-भरण को हटाकर तपे हुए सोने में जड़े हुए रत्नों की सी शोभा को धारण करनेवाले इस नये कनेल के फूल को कान पर लगा रही है ॥ ४७ ॥

स्थितोयमन्तर्नवपल्लवानां प्रवालताम्राङ्गुलिरायताच्याः ।

व्यक्ति शरच्चन्द्रकरोज्ज्वलाभिर्नखाङ्गुरेखाभिरितः प्रयाति ॥ ४८ ॥

इस विशाल नेत्रवाली स्त्री की नये पत्तों के भीतर छिपी हुई, मूँगे के समान लाल रंग की अंगुलि अपने नाखून की किरणों को फैलाती हुई ऐसी जान पड़ रही है, जैसे (नीले आसमान में) शरदकालीन चन्द्रमा की किरणें फैल रही हों ॥ ४८ ॥

धावत्कराकर्णेशिरीपलोभात् इतस्ततः सम्पतति द्विरेफे ।

क्रीडामिव व्याकुलदृष्टिपाता वालेयमभ्यस्यति कन्दुकस्य ॥ ४९ ॥

कान पर लगे हुए शिरीष (हरसिद्धार) के फूल पर मँडराते हुए भौंरे को हटाने के लिए इधर-उधर हाथ नचाती हुई यह व्याकुल दृष्टि वाली नारी ऐसी जान पड़ती है, मानो गेंद खेलने का अभ्यास कर रही हो ॥ ४९ ॥

प्रावृङ्खिलासस्मितमुद्वहन्ती कर्णे नवं केतकवर्हमेपा ।

प्रियावतंसीकृतचन्द्रलेखा चकास्ति कन्येव हिमाचलस्य ॥ ५० ॥

यह एक और स्त्री वर्षों के विलास की भाँति श्वेत हास्य वाली नवीन केवड़े के पत्ते को कान में लगाती हुई ऐसी दिखाई दे रही है, मानो शिव के द्वारा कान पर पहनायी हुई चन्द्रलेखा से विराजमान पार्वती हो ॥ ५० ॥

विलोकितालेख्यकपोलभागात् प्लवङ्गशावेऽधिगते विमानम् ।

इतः कदम्बादनिवृत्तहस्तम् अस्ति भयादालिखितेव तन्वी ॥ ५१ ॥

कपोलभाग के समीप से ही उस पर चित्रकारी देख कर जब वानर का वच्चा भागकर विमान पर कूद आया तो एक रमणी बेचारी, जिसने फूल चुनने के लिए कदम्ब वृक्ष पर हाथ रखा था, उस हाथ को बिना हटाये ही चित्रलिखी सी डरी हुई खड़ी की खड़ी रह गई ॥ ५१ ॥

पुष्पाणि चिन्वत्यतिमुक्तकस्य पश्य श्लथं केशकलापमेपा ।

अंसे विभर्तीव तमालनीलं विलासवालव्यजनं स्मरस्य ॥ ५२ ॥

अतिमुक्तक (वृक्ष) के पुष्पों को चुनते हुए इस स्त्री का खुला

हुआ तमाल के वर्ण का नैशमार कधों पर लटकता हुआ ऐसा लग रहा है, मानो कामदेव की विनासलीला के समय हिलाया जाता हुआ उसका चँवर हो ॥ ५२ ॥

विमुञ्चती चक्षुषि पुष्पधूलिम् एषा गते तन्प्रति वल्लभस्य ।

चित्र इदित्यश्रुतवागकीर्णं दृशौ सपत्न्याः क्लुपीकरोति ॥ ५३ ॥

कितनी विचित्र बात है कि पति के पास जाने पर वह स्त्री पराग तो पति की आँखों पर डालती है, परन्तु रोते-रोते उसकी सौत की आँखें दुख जाती हैं ॥

विमर्श—अर्थात् सौत को उसके पतिप्रेम पर ईर्ष्या हा आती है, अतः वह रोने लगती है ॥ ५३ ॥

मध्यच्युते मिश्रति किङ्कुकेऽस्मिन् अस्त्राकणाम्याकृतिमङ्गुलस्य ।

अस्या स्तनाभ्यामधुना धृत्यम् अनङ्गमत्तद्विपकुम्भलक्ष्मी ॥ ५४ ॥

मध्यभाग से तोड़े हुए इस पलाशपुष्प को अपने स्तनों के मध्य में इस मारी ने धारण कर लिया है । उससे यह ऐसी दिगार्द दे रही है, मानो उसके दोनों स्तन कामदेव के मदोन्मत्त हाथी के गण्डस्थल हो और वह पुष्प उन पर घरा हुआ रक्तवर्ण का अङ्गुर हो ॥ ५४ ॥

अभ्यागताया सहसाऽमुनास्या कन्दर्पसान्नाज्यधुरोद्भवेन ।

मुगन्धिभि पाटलिपादपेन पुष्पैरित कल्पितमातिथेयम् ॥ ५५ ॥

कामदेव के राज्य की धुरी धारण करनेवाले इस पाटलिबृक्ष ने (पल्लव का वृक्ष) मुगन्धित पुष्पों को झिलेर कर अपने घर में आयी हुई इस स्त्री का मानो अतिथि सत्कार किया हो ॥ ५५ ॥

आर्द्रागसेय गमिता प्रसादं कृतप्रणामाञ्जलिना प्रियेण ।

प्रभृष्टमाप्ता सुमुखी नराभ्या धूताङ्कुर मानमिवोच्छिनत्ति ॥ ५६ ॥

अभी अभी यह स्त्री जो क्रुद्ध हो गई थी, पति ने हाथ जोड़कर प्रणाम करके उसे मना लिया है, तो वह मान गई । और अब आँखें पोंछकर वह सुन्दरी नाखूनों से आग के बौरों को तोड़ कर उणी मोति दूर फेंक रही है, जैसे वह हृदय से मान को निकाल कर फेंक रही हो ॥ ५६ ॥

अध्यासते कामपि कान्तिमासाम् एते सङ्कुदा कचरीरुत्ताया ।

कुमुद्वतीरान्तकरानुविद्धास्तम प्रताना इव यामिनीनाम् ॥ ५७ ॥

कुन्द के फूलों से सजी हुई इन नारियों की चणियाँ इस प्रकार की एक विचित्र कान्ति (शोभा) को धारण किये हुए हैं, मानो चन्द्रमा की किरणों से युक्त रात्रि के अन्धकार का समूह हो ॥ ५७ ॥

पुष्पाणि नानाविधवर्णभाञ्जि विमानवातायनतो विचित्य ।

युवायमिन्द्रायुधवर्णकान्तम् उत्तंसमस्याः सुदृशः करोति ॥ ५८ ॥

यह युवक विमान के भरोखे से ही नानावर्ण के पुष्पों को चुन-चुन कर उस सुन्दर नेत्र वाली रमणी को ऐसे सजा रहा है, मानो इन्द्रधनुष के सभी रंग उसमें भर रहा हो ॥ ५८ ॥

पश्येयमुद्गाहुलताऽहितश्रीर्मध्येन नश्यन्त्रिवली लतेव ।

विमानतः कोमलमुच्चिनोति वधूर्मधूकं स्वकपोलकान्ति ॥ ५९ ॥

जरा इधर देखिए ! हाथों को ऊपर उठाने से जिसके उदर पर त्रिवली भी नहीं दिखाई दे रही है, ऐसे कटिभाग वाली यह रमणी विमान पर से ही अपने गालों की सी कान्तिवाले महुओं को चुन रही है ॥ ५९ ॥

अदः सुगन्धीकुरु मत्प्रसूनं मुखान्जसौगन्धकर्णार्पणेन ।

इत्यञ्जलासक्तलतो न याञ्जाम् अस्याः करोतीव स कर्णिकारः ॥ ६० ॥

‘जरा अपने मुखकमल की सुगन्धि का एकाध कण मुझे देकर मेरे इस पुष्प की भी सुगन्धित कर दो न’ इस प्रकार उस नारी के आंचल से सटा हुआ वह कनैल का वृक्ष क्या उससे प्रार्थना नहीं कर रहा है ?

विमर्श—सुन्दरियों के मुख की सुगन्धि से कनैल का पुष्प खिलता है, यह कविसमयप्रसिद्ध है ॥ ६० ॥

तथा न चूते नवमञ्जरीयम् अवाप्तवत्यात्मगुणप्रकर्षम् ।

अस्याः सकालागरूपत्रलेखे यथा कपोले कमलेक्षणायाः ॥ ६१ ॥

आम्र की यह नवीन मंजरी पेड़ पर अपने गुणों के उत्कर्ष को उतना नहीं प्राप्त कर रही थी, जितना इस सुन्दरी कमलनेत्रा के कालागर से चित्रित कपोल पर प्राप्त कर रही है ।

विमर्श—अर्थात् सुन्दरी ने इस गौर को पेड़ से तोड़कर अपने गालों पर धारण कर लिया है, जिससे वह सार्थक हो गया है । पेड़ पर रहने से जितनी उसकी शोभा थी, अब वह कहीं अधिक है ॥ ६१ ॥

वहत्यशोकोऽयममर्त्यकान्तापादाहताः कान्तमलक्तकाङ्कम् ।

कृत्वा जगत्यस्खलितां निजाज्ञां स्कन्धेऽर्पितं तूणमिव स्मरेण ॥ ६२ ॥

विधाधर सुन्दरियों के पैर के आघात से सुन्दर यह अशोकवृक्ष अलते का विह्व धारण कर रहा है । मानो कामदेव ने सारी दुनिया में अपनी अलङ्घ्य आज्ञा फैलाकर अपने कन्धे पर तूणीर धारण कर लिया हो ।

विमर्श—अर्थात् वह अशोक वृक्ष कामदेव के भाते का काम भली-भाँति कर रहा था ॥ ६२ ॥

चिरेण मन्ये वल्लभमोऽयं अवाप्तपार स्पृहणीयताया ।

अर्थी करोऽस्या मुमन मु यस्य जातो जितामर्त्यतरुप्रवाल ॥ ६३ ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि मौलसरी के वृक्ष ने तो अतिविलम्ब से ही सड़ो, पर सुन्दरता तथा स्पृहणीयता की परम सीमा गाँठ ली है। क्योंकि यह देववृक्षों के मूँगों के समान लाल कान्तिवाली इस सुन्दरी का हाथ उसके पुष्पों के लिए याचक जो बन गया है ! ॥ ६३ ॥

फल शिरीषेण चिरादवाप्तम् अस्या समम सुकुमारताया ।

निरस्य गीर्वाणतरुप्रसूनम् यदेतदुत्तसितमायताद्या ॥ ६४ ॥

इसकी समस्त सुकुमारता का फल शिरोष ने भी मानो विलम्ब से पा लिया। क्योंकि इस विशाल नेत्रवाली ने देववृक्षों के पुष्प को बालों से निकाल कर इस शिरीषपुष्प को कर्णामरण जो बनाया है ! ॥ ६४ ॥

अस्या श्रुतौ चम्पकमाधृत्या करेण मुक्तावलयोद्धृतेन ।

एष द्विज स्वस्थयन विराचैर्नास्या करोतीति न मञ्जुकण्ठ ॥ ६५ ॥

मौलियों से लड़े बगन से सुरोमित हाथ से अपने कान पर चम्पा का पुष्प पहनाती हुई इस नारी के मंगल-मान के लिए यह पक्षी मधुरकण्ठ से मंगल-पाठ नहीं कर रहा है, ऐसी बात नहीं है ॥ ६५ ॥

विन्यस्तनन्धूकदली सुरोऽस्या स्वेदाद्र्कालागरुप्ररक्ती ।

चकास्ति सन्ध्यातपलेरश्राद्धिकलकलेता शशिलक्ष्मणीष ॥ ६६ ॥

मुख पर गुलदुपहरी की पखुड़ी को धारण करने वाली इस रमणी की स्वेद से आर्द्र कालागरु प्ररक्ता ऐसी दिखाई दे रही है, मानो सन्ध्या-कालीन लालिमा की आशका पैदा करनेवाला चन्द्रमा का कलक हो ॥ ६६ ॥

एता मियो रुद्विमानमार्गा लताग्रजं पुष्पमनाप्नुवन्त्य ।

भवति भारानमिताङ्गकेषु बद्धाभ्यसुया स्तनमण्डलेषु ॥ ६७ ॥

विमानों के मार्गों के रुक जाने से लताओं के अग्रभाग में लगे पुष्पों को प्राप्त न कर सकने वाली ये रमणियाँ शरीर मार से अधिक मुँके अपने ही स्तनों से ईर्ष्या कर रही हैं ।

विमर्श—अर्थात् सोच रही हैं कि बीच में ये स्तन भी बकावट न डालते तो शायद हम इन पुष्पों को प्राप्त कर लेता ॥ ६७ ॥

एतान् कर्तुं प्रमदाजनस्य नवप्रालाभवर्तसितानि ।

पश्यति पश्य स्वमिवाप्तकान्ति कपोलपालीमणिदर्पणेषु ॥ ६८ ॥

हे राजन्, देखो ! स्त्रियों के कानों में उनके प्रियतमों द्वारा सजाये हुए नये कोमल लाल पत्ते उन नारियों के कपोलों की किनारों पर लगे मणियों के दर्पणों में मानो अपनी ही जैसी कान्ति को देख रहे हैं ॥ ६८ ॥

यद्यद्वनेऽभूत् कुसुमं सुगन्धि वधूजनैस्तत्तदितो गृहीतम् ।
कृत्स्नत्रिलोकीविजयावतंसं निर्मातुमिप्त्वासमिव स्मरस्य ॥ ६६ ॥

इस वन में जो-जो पुष्प सुगन्धित थे, उन्हें इन विद्याधर-रमणियों ने ग्रहण कर लिया है, मानो तीनों लोकों की विजय करने के लिए आभूषणभूत कामदेव का धनुष बनाने के लिए उसे उन्होंने ग्रहण कर लिया हो ॥ ६६ ॥

कर्णावतंसीकृतपल्लवानां विचित्रपुष्पाभरणोज्ज्वलेषु ।
पश्यामितः पल्लवितंयमासाम् अङ्गेषु सारङ्गदृशामृतश्रीः ॥ ७० ॥

विचित्र पुष्पों के अलंकारों से श्वेत बने हुए कानों में जिन्होंने नवीन पल्लव धारण कर लिये हैं, ऐसी नारियों के अङ्गों पर यह ऋतुशोभा देखो, कैसे छाई हुई है ! ॥ ७० ॥

स्वेदोदविन्दुच्छलतः कपोले वितीर्णमुक्तार्ध इव स्मरस्य ।

एणीदृशां कान्त इव प्रवृत्तः श्रमोऽयमालिङ्गितुमङ्गलेखाम् ॥ ७१ ॥

उन हरिणी के से नेत्रों वाली नारियों के कपोलों पर निकली हुई पसीने की बूँदें ऐसी शीत होती हैं, मानो काम की पूजा के निमित्त मोतियों का अर्घ्य चढ़ाया गया हो और मानो परिश्रम उन जल-विन्दुओं के बहाने प्रियों की भाँति उनके शरीरों का आलिङ्गन करने के लिए उद्यत हो गया हो ॥ ७१ ॥

आसां पृथुस्वेदकणाङ्कितानि वक्त्राणि नेत्रोत्सवमर्पयन्ति ।

प्रत्युप्तमुक्ताफलदन्तुराणि हिरण्मयानीव सरोरुहाणि ॥ ७२ ॥

इनकी बड़ी-बड़ी पसीने की बूँदों से अंकित मुख देखते हुए नयनों को आनन्द दे रहे हैं । वे ऐसे मालूम पड़ रहे हैं, मानो मोतियों की किरण-कान्ति से युक्त स्वर्णकमल हों ॥ ७२ ॥

एतानि पश्य च्युतपुष्पधूलिव्यालुप्तपद्मावलिषोष्ठवानि ।

श्रमेण किञ्चिन्मुकुलीभवन्ति सीमन्तिनीनां नयनोत्पलानि ॥ ७३ ॥

इधर देखिये, पुष्पों के गिरे हुए पराग से ढँकी हुई सुन्दर पलकों के कारण अधिक सुन्दर कमल की जैसी इन सुन्दरियों की आँखें बड़े परिश्रम के कारण जरा-जरा वन्द हो रही हैं ॥ ७३ ॥

एतासु सीदन्मणिवन्धमूलनिलीनलीलामणिकङ्कणासु ।

विलोक्यतां व्यक्तिमुपैति खेदो विद्याधरस्त्रीजनदोर्लतासु ॥ ७४ ॥

कांपती हुई हथेलियों के मूल भाग पर सुन्दर-सुन्दर मणियों से जटित चूड़ियों वाले इन रमणियों की भुजाओं में देखो, परिश्रम अर्थात् थकावट एक-दम साफ नजर आ रही है ॥ ७४ ॥

अनङ्गकल्पद्रुममञ्जरीणाम् अमोघमस्त्रं कुसुमायुधस्य ।

भृशं यथा पुष्पमयी विभूषा नाऽस्यां तथा रत्नमयी विभाति ॥ ७५ ॥

अनोप काम के बाण जेसी, कामकल्पतरु की मञ्जरियों की बनी फूलों की
वेश भूषा इतनी सुन्दर लग रही है कि उसके आगे रत्नों की सजावट भी फीकी
पड़ गई है ॥ ७५ ॥

वनान्तमेता वनिता न मोक्षुम् अनेकपुष्पं नृप शक्नुवन्ति ।

विमुच्यते केन स नाम देशो यत्रास्ति सान्द्र सुमन प्रचार ॥ ७६ ॥

हे नृप ! नाना प्रकार के पुष्पों वाले इस वन को तो वे स्त्रियाँ छोड़ना
ही नहीं चाहती हैं, मला उस देश को (स्थान को) कौन छोड़ना चाहेगा,
जहाँ हम प्रकार अत्यधिक फूलों का विस्तार हो ।

विमर्श—अथवा सुन्दर हृदयवाले लोगों के स्थान को कोई छोड़ना
चाहेगा ॥ ७६ ॥

इत्युज्ज्वले तस्य वच प्रसूने नीतेऽपि कर्णातिथिता विहस्य ।

नृपो नभूयास्तमना मचित्र स्मृताहिराजेन्द्रमुताविलास ॥ ७७ ॥

इस प्रकार रमागद के सुन्दर वचन रूपी पुष्पों से अपने कानों को सजाकर
भी अर्थात् हँसते हुए उस वचनों को सुन कर भी नागराजकन्या राशिप्रभा के
शृङ्गार का स्मरण करने वाला वह राजा अनमना सा (उदास) होकर चित्रवत्
रहा ॥ ७७ ॥

पुष्पप्रवालाङ्कुरमण्डल तन् क्वणद्विमानावलि हेमघण्टम् ।

वनं निहायाथ सममममे चचाल विद्याधरराजसैन्यम् ॥ ७८ ॥

तब फूल पत्तों से भरे हुए तथा जिसमें स्वर्णघण्टियों वाल विमानों का
शब्द हो रहा था, ऐसे उस समस्त वा को छोड़कर विद्याधरराज की सेना
आगे चल पड़ी ॥ ७८ ॥

गगार्णनम्

अथ प्रवालाधरविम्वचुम्बिपरिस्फुरत्फेनविलासदासा ।

वाचालहसावलिकाश्चिदामसनाथतीरोरुनितम्बधम्बा ॥ ७९ ॥

गगा का वर्णन

इसके बाद तटवर्ती प्रवालरूपी अधरोष्ठ का चुम्बन करने वाले तथा उछलते
हुए फन के रूप में जिसकी हँसी शोभायमान थी, ऐसी एवं शब्द करनेवाली
हसो की पंक्ति की कूदघनी पहनी हुई और तट पर स्थित बड़े-बड़े पेड़ रूपी
नितम्ब वाली गगा नदी को राजा ने देखा ॥ ७९ ॥

समीरेस्लत्ततद्देमवत्तिलोलप्रमानिञ्जरितोमिलत्वा ।

विलासमञ्जत्फणिराजकन्यासङ्क्रान्तकान्तमन्तनकुङ्कुमेव ॥ ८० ॥

हवा के झोंकों से टक्कर खाकर स्वर्णतारों की जेसी चंचल कान्ति से युक्त
लहरोंवाली और विलासयुक्त नागराजकन्या के स्नान करने के कारण मानो उस
नदी में उसके स्तनों पर लगा हुआ कु कुम छूटकर फैल गया था ॥ ८० ॥

निमग्नदिङ्नागकपोलभित्तिसन्ताननिर्यन्मदवेणिकृष्णा ।

तृतीयनेत्रानलधूमवस्तिकलङ्कितेव त्रिपुरान्तकस्य ॥ ८१ ॥

जिसमें दिशाओं के हाथियों की कनपट्टियाँ हूयी हैं और उनसे निकलती हुई मद की धारा रूपी काली वेणी धारण करनेवाली, एवं शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि से निकली हुई धूमराशि से कलंकित सी ॥ ८१ ॥

भारानमद्भोगिफणास्थितायाः स्थलोच्छलद्वीचिचयच्छलेन ।

वत्तन्मयन्तीव तले सतर्कम् अर्कोत्पलस्तम्भशतानि भूमेः ॥ ८२ ॥

भार से झुकी नागों की फणाओं पर स्थित धरती के सूर्यकान्त मणि जैसे सैकड़ों खम्भों की बड़ी सतर्कता के साथ मानो वह नदी अपनी उछलती हुई लहरों के रूप में धारण किये हुए है ।

विमर्श—पृथ्वी शेषनाग की फणाओं पर स्थित है । शेषनाग पाताल में है और पृथ्वी उससे बहुत ऊपर ! अतः नीच में आघार के लिए कुछ होना चाहिए । तो गंगा नदी अपनी तरंगों के रूप में मानो बड़े-बड़े सूर्यकान्त की शिलाओं के खंभे पाताल तक ले जाकर गाड़ रही हो, उनका सम्बन्ध शेषनाग की फणाओं से कर देती हो ॥ ८२ ॥

तटोद्गतप्रांशुतमालराजिच्छाया घनश्यामलितार्धभागा ।

मूर्तिस्तुपाराचलतुल्यकान्तिरुमापतिश्रीधरयोरिवैका ॥ ८३ ॥

तट पर लगी तमाल-वृक्षों की पंक्ति की घनी छाया से एक भाग जिसका कृष्ण वर्ण का दिखाई दे रहा है, और स्वच्छ बालू या जल का दूसरा भाग जिसका हिमालय की भांति श्वेत दिखाई दे रहा है—वह नदी ऐसी लग रही है, मानो उसने शिव और विष्णु की मूर्ति को एक साथ धारण कर रखा हो ॥ ८३ ॥

कादम्बचञ्चूधृतचन्द्रवाकीपारिप्लवव्यक्तमृणालकाण्डा ।

चण्डीधवोन्नद्धजटाविट्क्लृष्टेन्दुलेखाङ्कुरदन्तुरेव ॥ ८४ ॥

हंसों ने जहाँ-तहाँ चक्रवियों की अपनी चोंच में पकड़ लिया है, चंचलता के कारण जिसमें कमल के डगढल स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं, ऐसी वह नदी भगवान् चण्डी-पति शंकर के जटाजूट पर फँसी हुई चन्द्रलेखा के कारण दन्तुर मालुम पड़ रही थी ॥ ८४ ॥

तरङ्गमङ्गोज्ज्वलचामरश्रीरुदण्डहेमाम्बुरुद्धातपत्रा ।

पुण्या पुरो दूरत एव तेन त्रिमार्गजाऽदृश्यत पार्थिवेन ॥ ८५ ॥

जिसकी उछलती हुई तरंगें उज्ज्वल चँवरों की भांति, दिखाई दे रही हैं

और ऊँचे स्वर्णकमल जिस पर छाते का काम कर रहे हैं, अत्यंत पवित्र
ऐसी उस गंगा को राधा ने दूर से ही देखा ॥ ८५ ॥

तस्यास्तटेऽथ कुसुमावचयश्रमार्त-
सीमन्तिनीनिवहसस्मितवीक्षिताया ।
विद्याधरेण विदधे धवलोमिधौत-
पर्यन्तहेमसिकते पृतनानिवेश ॥ ८६ ॥

तब विद्याधरराज ने फूल चुनने से थके हुए स्त्रियों के समूह के द्वारा
कौतूहलपूर्वक देखी जाती हुई उस गंगा नदी के श्वेत लहरों से धुने हुए सुनहले
बालू वाले तट पर सेना समूह को ठहरा दिया अर्थात् वहाँ पड़ाव डाला ॥ ८६ ॥

तदनु पुलिने सद्यो विद्याधरै परिकल्पितम्
नृपतिरिशिल्लीलागारं स साहसलान्धन ।
भ्रममजनयन्नेत्रोत्कीर्णा इति प्रतिबिम्बिता
सितमणिमये यस्मिन्नन्तर्बहिश्च मृगीदृश ॥ ८७ ॥

इति श्रीभृगाङ्कदत्तसूनु परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ नव
साहस्राङ्कचरिते महाकाव्ये पातालालोकनामा
चतुर्दश सर्ग ॥ १४ ॥

उसके बाद उस गंगा के किनारे शीघ्र ही विद्याधरों द्वारा बनाये गये
लीलामवन में साहसाङ्क सिंधुराज ने प्रवेश किया । वह लीलामवन ऐसा था,
जिसके बाहर और भीतर, श्वेतमणियों पर बनी हुई हरिण नयनाश्रों के चित्र
और उनके नेत्रों के प्रतिबिम्ब यथार्थ में भ्रम उत्पन्न कर रहे थे ॥ ८७ ॥

भृगाङ्कदत्त के पुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तकृत नवसाहस्राङ्क
चरित महाकाव्य में पातालदरान नामक चौदहवाँ
सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशः सर्गः

पन्द्रहवाँ सर्ग

जलक्रीडावर्णनम्

अथ सान्द्रधर्मजलविन्दु-क्षुलिततिलकः प्रचक्रमे ।

हेमकमलमुभगे सरितः सलिले निमङ्क्तुमसितेक्षणाजनः ॥ १ ॥

जलक्रीडा का वर्णन

इसके पश्चात् कृष्ण वर्ण के नेत्रों वाली, बड़ी धूप से पसीना आ जाने के कारण जिन तिलक माथे पर बड़े चले आ रहे थे, ऐसी स्त्रियों के उस समूह ने कमल की सुगन्ध से सुवासित गंगा के जल में स्नान करने की तैयारी की ॥१॥

श्रममेत्य मञ्चत मदन्वु रभसपरिरम्भलीलया ।

एवमवददिव दीर्घदृशः कलहंसयूथनिनदेन जाह्नवी ॥ २ ॥

“आनन्दपूर्वक जल में वेगपूर्वक आलिङ्गनादि क्रीडा करके मेरे जल से अपनी थकान दूर करो” इस प्रकार की बात कलहंसों की कलकल-ध्वनि के रूप में जाह्नवी ने मानो उन दीर्घ नेत्रवाली स्त्रियों से कही ॥ २ ॥

मरुतावधूतकलयौतकमलमकरन्दगन्धिना ।

ऊर्मिदलनशिशिरेण वलात् अवलाजनस्य ननुदे परिश्रमः ॥ ३ ॥

हवा के द्वारा कँपाये गये स्वर्ण-सदृश कमलपराग की सुगन्ध से सुगन्धित, लहरों में समाये हुए गंगा के शीतल जल ने उन नारियों की थकान को दूर किया ॥ ३ ॥

परिविद्धरेखमधितीरविरचितपदे वधूजने ।

कान्तिमुदवहदमर्त्यसरिन् तटरूढकाञ्चनलतेव काञ्चन ॥ ४ ॥

समस्त नारियों के गमन से तट पर जो सुन्दर पदपंक्ति बन गई थी, उससे वह जाह्नवी तट पर उगी स्वर्णलता की जैसी एक विचित्र कान्ति से युक्त हो गई ॥ ४ ॥

सितचक्षुषामसितरत्नरुचिमुपि मृणालिनीदले ।

स्थूलजललवनिभेन दधे नवमौक्तिकार्थ इव जह्नुकन्यया ॥ ५ ॥

श्चेत नेत्र वाली स्त्रियों की नील पुतलियों की शोभा को चुराने वाले मृणालिनी के पत्ते पर जह्नु कन्या नदी ने बड़े-बड़े फलकणों के बहाने नवीन मोतियों के अर्थ को धारण किया ॥ ५ ॥

- उदितत्रया इव विलासमसृणुमसमेन सुधुवाम् ।

जगमुरमरसरित् पुलिन सहसा विहाय कलहसपहृक्तय ॥ ६ ॥

उन सुन्दर भोंहों वाली नारियों की विलास भरी मस्त चाल को देखकर,
(अपनी चाल से उनकी चाल को सुन्दर समझ कर) कुछ लबाकर कलहसों
की पंक्ति जाह्नवी का तीर छोड़कर चली गई ॥ ६ ॥

धवलाभ्रकच्छुरितभित्तिलिरितललिताङ्गनालिपिम् ।

अप्सु कुवलयदृशा प्रतिमा सित रत्नदर्पणनिभामु लेभिरे ॥ ७ ॥

कमल के समान नेत्र वाली रमणियों के शरीर का प्रतिबिम्ब (परछाईं)
श्वेतरत्न दर्पण के समान जाह्नवी के जल में पड़कर ऐसा दिखाई देता था,
मानो श्वेत चूने से पुती हुई दीवालों पर उन सुन्दर स्त्रियों के चित्र बना दिये
गये हों ॥ ७ ॥

अथ वल्लभापितकरामनिहितनिजपाणिपल्लवा ।

धारित्रिकचकनकाठवरण कपिशोर्मिमालमञ्जला जगहिरे ॥ ८ ॥

अपने प्रिय के आगे उठाये हुए हाथ को अपने हाथ से पकड़ती हुई उन
सुन्दरियों ने पानी में खिले रत्नों कमलों के पराग से युक्त पीत-वर्ण की जल की
सहारे धारण की ॥ ८ ॥

मुद्रया निमज्ज्य मुरसि-धुपयसि नियमस्थितैरिव ।

ऊमितरलितमयूरशिखैर्मणिनूपुरै सपदि मानमाददे ६ ॥

जैसे नियम धारण करने वाले योगी स्नान करके पुन मौन धारण कर
लेते हैं, उसी प्रकार जाह्नवी-जल में स्नान करके, सहारा पर प्रतिबिम्बित होने
वाली प्रभा से युक्त नारियों के मणिनूपुरों ने भी मौन धारण कर लिया ॥ ९ ॥

कुचलुप्तप्रलतयाथ निगलितबिसूत्रहारया ।

प्रापि रतिरमणविलासतुला ललितभ्रुवा जलरिहारलीलया ॥ १० ॥

कुचों पर मिटी हुई रचनावाली, आगों पर इधर उधर लटकने वाले हारों
वाली उन सुन्दर नारियों की जल कीड़ा ने रति की रमण कीड़ा की तुलना
प्राप्त की ॥ १० ॥

नयकुङ्कुमारुणपुरन्धिमुचकलशत्ताडितं पय ।

रागममजत न कस्य भवेत् सुलभाङ्गरोलदवलस्य चिक्रिया ॥ ११ ॥

नये कुङ्कुम से लाल नारियों के स्तन रूपी कलशों से टकराता हुआ जल
रक्त वर्ण का हो गया । उन के सुन्दर अङ्गों के साथ खेलते हुए उस जल को
देखकर किस दुर्बल हृदय वाले के मन में विकार पैदा न होगा । ॥ ११ ॥

विकिरन् विहस्य मणिगृहधृतमुदकमेत्य शृण्व ।

साचिमुकुलितदृशा दृष्ट्वा दयिता मुहुर्वलितकण्ठमेकया ॥ १२ ॥

कहीं पर पीछे से जाकर मणिशृङ्ग पर धरे हुए पानी को अपनी प्रिया पर फेकते हुए किसी प्रिय को कोई नायिका मुख मोड़ कर अधमित्री आँखों से देख रही है ॥ १२ ॥

परिणाहवत्कुचनिपिद्धकरणवलनोत्कदोर्लतम् ।

लोलमुखरमणिकङ्कणया विदधे जले मुरजवाद्यमन्यया ॥ १३ ॥

अपने सुडौल गोलाकार स्तनों को ढँकने के लिए उनके ऊपर रखी हुई भुजाओं को कुछ ऊपर उठाकर जब एक रमणी ने फिर अंगमर्दन के लिए कुचों को दबाया, तब उसके हाथों से मृदङ्ग की सी ध्वनि हुई ॥ १३ ॥

हरिणीदृशो हृतपुरन्ध्रकुचकलशकुङ्कुमाङ्किता ।

क्षिप्रमधिजघनमूर्मिलता शिथिलेव हेमरशना विदिद्युते ॥ १४ ॥

स्नान करने में जिसका चित्त आकृष्ट हो गया था, ऐसी उस सुन्दरी की कुच-कलश के कुङ्कुम से युक्त ढीली करधनी जब उस नारी की जंघा पर से नीचे खिसकने लगी, उस समय ऐसा ज्ञात हुआ, मानो बिजली चमक रही हो ॥ १४ ॥

सलिलं किरन्तमवलोक्य रमणमपराङ्गनामुखे ।

चित्रमविरलधृताश्रुलवे निमिमील काचिदवला विलोचने ॥ १५ ॥

अपने पति को किसी दूसरी स्त्री के मुख पर पानी फेकते हुए देखकर लगातार आँसू बहाने वाली वह स्त्री अपनी आँखों को देखो, बन्द कर रही है ॥ १५ ॥

द्रुतमत्राटत् विवुधसिन्धुनिविडलहरीकराहतम् ।

हारवलयमरविन्ददृशां कुशलं कुतोऽस्ति गुणिनां जटान्तरे ॥ १६ ॥

किन्हीं कमलनयनी रमणियों के हार-वलय को जाह्नवी की घनी लहरों ने मानो अपने हाथों से तोड़ दिया, ठीक ही है, जड़ों (मूखों) के बीच रहकर गुणियों की कुशल कहाँ ! अथवा जटान्तरे = अर्थात् पानी में रहकर गुण-वाले अर्थात् तागे वाले हारों की कुशल कहाँ ॥ १६ ॥

शुशुभे कयापि करयन्त्रनिहितशुचिवारिधारया ।

मुक्तसितकुसुमसायकया मकराङ्गचापलतयेव वालया ॥ १७ ॥

कामभावना से युक्त कोई रमणी हाथ की अञ्जलि में स्वच्छ पानी लेकर उसे धार के रूप में बहाती हुई मानां श्वेतपुष्प रूपी धारों को छोड़नेवाली कामदेव के धनुष की मोर्चा हों ॥ १७ ॥

परिवेषविभ्रमनिवेशिमनसिजतुपारदीधितेः ।

कोऽपि करकिसलये कमिता विदधे मृणालवलयं मृगीदृशः ॥ १८ ॥

अपनी धेश-भूषा को शृङ्गारो रूप में सजाने वाली किन्हीं नारियाँ ने जब

अपने हाथ रूपी किसलयों में कमलनाल के कगन पड़ने तो झहोने कामदेव रूपी चन्द्र के समान शोभा धारण की ॥ १८ ॥

हृदयशामुक्तजलधौतमलयजविलेपनैहिया ।

लक्ष्म्यनवनरूपदाउपरा नलिनीदलेन पिदधे पयोधरौ ॥ १९ ॥

अपने प्रियों के द्वारा फेंके गये जल से चन्दन लेप के धुल जाने से कुन्नों पर नागूनों के नये चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे, अतः रजाते हुए उस स्त्री ने कमलिनी के पत्तों से अपने कुन्नों को ढँक लिया ॥ १९ ॥

अभितोङ्गनामुखमृगाङ्गमुडुनिकरकान्तिमाददे ।

केलितरलतरुणीनिबिडम्बनताडिते पयसि मुदुबुदोत्कर ॥ २० ॥

श्रीभारत उन तरुणियों के घने कुन्नों के आघात से पानी में जो बुलबुले उठे, वे ऐसे प्रतीत हो गये थे, मानो उन रमणियों के मुखचन्द्र के चारों ओर उदित होने वाले तारों का समूह अपनी कान्ति पैला रहा हो ॥ २० ॥

निदधे धधुनिजकराभगस्तितमणिकङ्कणाङ्किते ।

मेघराक्ल श्व सेन्द्रघनुर्यलयोदर नयनमन्जिनीदले ॥ २१ ॥

उन रमणियों के हाथ से छूटे हुए मणि वक्त्र जिन कमलिनियों के पत्तों पर पड़े थे, उन्हें वे देख रही थी, उस समय वे ऐसी दिखाई दे रही थीं, मानो इन्द्रधनुष का घेरा जिसमें है, ऐसे मेघ के टुकड़े की ओर देख रही हों ॥ २१ ॥

असिताब्जनाङ्गमभिजातकुण्डलयदृशा दृशीन्तरात् ।

नीरमहत नहि शुद्धिमता तदवृत्तिराभितच्छङ्गमार्जने ॥ २२ ॥

अरे कमलों के समान नेत्रों वाली उन नारियों की आँखों के काले अञ्जन को पानी ने घोहर समाप्त कर दिया । क्योंकि आभितों में विद्यमान सभी कलङ्कों को धो देने में शुद्धि करनेवालों की उदासीनता नहीं होती ।

विमर्शः—अर्थात् शुद्धि करने वाले अपने आभितों की सभी अशुद्धताओं को धो देते हैं । इसलिए पानी ने अपनी आभित उन स्त्रियों की आँखों में काजल को भी धो कर दिया ॥ २२ ॥

तरलोमिलङ्कितनितम्बफलकलुनिताञ्छवासस ।

फेनपटलममिताब्जदृशा क्षणमेकमशुकविलासमाददे ॥ २३ ॥

चञ्चल लहरों ने जिनके नितम्ब भागों पर से स्वच्छ वस्त्रों को हटा दिया था ऐसी उन नील नेत्रवाली स्त्रियों के नितम्ब भाग पर लगे हुए फेन ने ही थोड़ी देर के लिए वस्त्र का काम पूरा कर दिया ॥ २३ ॥

मुदृशा स्फुट नवनयनाङ्गमुसमि जलधौतकुङ्कुमे ।

कान्तनिहितनयनं विदधे पृथुहारतारतरलाशुपल्लव ॥ २४ ॥

जल से कुंकुम धुल जाने के कारण जिस स्त्री की छाती पर नवीन नखों के चिह्नों को स्पष्ट रूप से उसका पति जब देख रहा था, तब हृदय पर पड़े चंचल लड़ियों वाले हार ने मानो अपनी चमक से उन चिह्नों को शीघ्र ही छिपा दिया ॥ २४ ॥

लुलिताञ्जनस्य नयनस्य सहभुवमिवेक्षितुं श्रियम् ।

लग्नजलसरलितैरलकैर्लुलुटे ललाटतटसीम्नि सुभ्रुवः ॥ २५ ॥

उन सुन्दर भौंहों वाली नारियों के चञ्चल एवं सुन्दर अञ्जन रहित आँखों की एक साथ ही उत्पन्न होने वाली शोभा को देखने के लिए मानो उनकी जलार्द्र अतएव सीधी अलकें (जुल्फें) माथे की सीमा पर लोटने-सी लगीं ॥ २५ ॥

दधतीव कापि रुचिमाप मनसिजविलासवल्लकीम् ।

अंसविनिहितमृणाललतातलवर्त्यलावुपरिवर्तुलस्तनी ॥ २६ ॥

कंधे पर कोमल कमलनाल की लता को धारण करने वाली और तल में चौड़े गोल तथा अग्रभाग से नुकीले तुम्बी जैसे गोल स्तनों को धारण करनेवाली कोई स्त्री ऐसी सुन्दर दिखाई दे रही थी, मानो वह कामदेव की वीणा बनी हो ॥ २६ ॥

सलिलाहतिवृटितहारपरिगलितमौक्तिकभ्रमात् ।

मुग्धयुवतिरपरा निदधे दृशमब्जिनीदलपुटोदविन्दुपु ॥ २७ ॥

पानी के थपेड़ों से टूटे हुए हार के मोतियों के धोखे में एक भोली-भाली युवती, कमलिनी के पत्तों पर पड़ी पानी की बूंदों को ही मोती समझ कर उन पर आँखें गड़ाये हुए है ॥ २७ ॥

धवलोदरैर्भयवशेन तरलवलितैर्विलोचनैः ।

नीलनलिनदलदामदृशां शफरैः समं मुचिरमप्सु वभ्रमे ॥ २८ ॥

भय के कारण चञ्चल और फड़फड़ाते नेत्रों वाली तथा सफेद उदरवाली मछलियों के साथ कुछ नील कमल के पत्तों की सी आकृति के नेत्रोंवाली स्त्रियाँ चिरकाल तक जल में घूमती रही ।

विमर्श—अर्थात् जल में मछलियाँ भी दधर-उधर घूम रही थीं, और वे रमणियाँ भी जलक्रीडा कर रही थीं ॥ २८ ॥

गलिताङ्गदा गुरुतरङ्गदलितमणिकर्णपूरकाः ।

स्नस्तकनकवलयः मुदृशः श्लथवन्धरत्नरशनाश्चकाशिरे ॥ २९ ॥

गिरे हुए बाजूबन्दों वाली एवं भयंकर तरंगाघात से टूटे हुए कनफूलों

बाली तथा दोले अतएव निकलने वाले ककणों वाली उन सुन्दर नेत्रवाली नारियों की दोली दाली रत्नबद्ध करघनियों में पानी में चमकने लगीं ॥२६॥

अतिकम्पभूमि कुटिल भ्रुवदलनवकुटुमारुणम् ।

स्त्रैण करतलनिरस्तभभृत् उपजातकोपमिव जाह्नवी नलम् ॥ ३० ॥

अधिक कंपाड गई लहर रूपी कुटिल (देवी) भौहों से युक्त, नवीन कुंकुम से रक्तवर्ण का जाह्नवी का चल उस स्त्री-भ्रूह के हाथों से छूट कर मानो क्रोध में भरा हुआ सा दिखाई देने लगा ॥ ३० ॥

अकरोन् पत्रं पृथुनितम्प्रभिलुलितजलार्द्रश्रेणिषु ।

मीरस्तत्रशालगण्डतलास्वधलामु कुण्डलितकार्मुक स्मर ॥ ३१ ॥

जिनके घड़े उड़े नितम्बां पर जल से मींगी हुई वेधिया लटक रही थीं, ऐसी तथा पानी को बूंदों से सने हुए बालों गली रिन्यों पर अपने धनुष को तान कर काम नें अपना प्रभाव जमा दिया ॥ ३१ ॥

पृथुतरत्नभूषणमरीचि-रचितमुरचापमण्डलम् ।

केशशुभ्रमशवलं शुशुभे मुञ्जशामनङ्गमददीपनं पय ॥ ३२ ॥

जल में गिरे हुए रत्नाभरण की किरणों से बनाये गये इन्द्रधनुषी घेरे बाला, बालों पर लगे फूलों के गिरने से चितकबरे रंग बाला जाह्नवी का जल उन रिन्यों के काममद को उद्दीप्त करने लगा ॥ ३२ ॥

अथ 'ताभिरेकतपनीयसरसिजसनाथपाणिमि' ।

श्रीमिरिव समुदत्तारितं पुनश्चचाटुपटुभिः प्रियै सह ॥ ३३ ॥

तब एकमात्र स्वर्ण कमल को हाथ पर धारण किये हुए बातचीत करने और खुशामद करने में बड़े चतुर अपने प्रियों के साथ वे स्निग्ध आकर मिल गईं ॥ ३३ ॥

सजलाशुकान्तिविशदाङ्गजनितनिविट्प्रपातुला ।

ठयत्तनवनप्रपदाभरणा प्रियलोचना चरमयन् भृगीदृशः ॥ ३४ ॥

पानी में मींग कपणों से जिनक अंग स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, और इन्हीं लिए जो बहुत लज्जित सी हो रही थीं तथा जिनके शरीर पर नखसतरूपी आभरण स्पष्ट दीप्त रहे थे, ऐसी उन हरिण-नयनाओं ने अपने प्रियतमों की आँखों को सुखान्वित किया ।

प्रिमर्श—अर्थात् उन सुन्दरियों के उस हावमात्र से समाकृत तथा साफ दिखाई पड़ने वाले सुन्दर अंगों को देखकर उनक प्रियकरों की आँखें आनन्द के कारण फूली न समाती थीं ॥ ३४ ॥

अथ ता गृहीतशरदिन्दुधवलसिचया प्रसाधनाम् ।

चक्ररघिवपुरमर्त्यसरित्पुलिनस्थलीकनकमल्लिखामसु ॥ ३५ ॥

जाहवी के तट पर स्वर्णलता जैसे शरीरों पर स्नान करने के उपरान्त उन शरदकालीन चन्द्रमा की कान्ति धारण करनेवाली स्त्रियों ने गंगातट पर स्थित पीत-लताओं से बने घरों में जाकर अपने-अपने अङ्गों को सजाना प्रारम्भ किया ॥ ३५ ॥

तिलकाङ्किताः प्रचुरपुष्पपरिमलमुचो मृगीदृशः ।

ऊढनवललितपत्रलता दधुरङ्गजोपवनराजिविभ्रमम् ॥ ३६ ॥

तिलकों से अलङ्कृत अनेक पुष्पों की सुगन्ध को फैलाने वाली, हरिण के समान नेत्रवाली, नई पत्रलता धारण करने वाली उन नारियों के शरीर की सजावट को देखकर ऐसा लग रहा था, मानो वहाँ अनेक उपवन तो नहीं हैं ! ॥ ३६ ॥

न चिरादलङ्कृतिविशेषविहितरुचयोऽतिपेशलाः ।

लक्ष्यनवनवरसाः शुचयः कविपुङ्गवोक्तय इवाङ्गना वभुः ॥ ३७ ॥

शीघ्र ही अनेक अलङ्करणों से जिनमें विशेष शोभा आ गयी थी, ऐसी, जिनमें अतिकोमल नये-नये प्रेमरस लक्ष्यमाण थे, ऐसी पवित्र वे स्त्रियाँ श्रेष्ठ कवियों की अनेक अलङ्कारों से विशेष सुन्दर, कोमल वर्णवाली, नौ-नौ रसों से समृद्ध कविता की भाँति जान पड़ने लगीं ॥ ३७ ॥

वहति स्म निर्मलकपोलालखितमृगनाभिपत्रकम् ।

कापि निभृतमधुपावलिमत् कलधौतकोकनदकान्तमाननम् ॥ ३८ ॥

स्वच्छ कपोलों पर बनाई गई कस्तूरी की पत्ररचना (बेलबूटे) वाले, स्वर्णकमल की भाँति चमकते हुए उनके मुख ऐसे दिखाई दे रहे थे, मानो स्वर्णकमलों पर शान्त भौरों की ठोली बैठी हो ॥ ३८ ॥

अधिकर्णमुद्गतमयूखमरकतमनोहरोदरम् ।

वालमिव मदनकल्पतरोर्दलमेकया कनकपत्रमाददे ॥ ३९ ॥

जिससे किरणें निकल रही थीं, एवं जिसका भीतरी भाग मरकत मणि की भाँति चमक रहा था, ऐसे सोने के कनफूल (लोलक) को जब एक नारी ने अपने कान पर लगाया, तब ऐसा ज्ञात हुआ, मानो उसने कामदेव के छोटे से कल्पतरु के पत्ते से उसे सजाया हो ॥ ३९ ॥

धृतयावकाङ्क्षमणिकान्तवदनपरिचुम्बनोचिते ।

रागमधरुचके निदधे दयिते च काचन चकोरलोचना ॥ ४० ॥

अलते से युक्त तथा मणिकान्त के समान मुख को चूमने में उचित श्रोष्ठ-विम्ब पर एक चकोरनेत्री स्त्री ने अलता (लाली) लगाया तो श्रोष्ठ भी और उसका प्रिय भी—दोनों रागमय हो गये—लालिमा से युक्त और प्रेम पूर्ण हो गये ॥ ४० ॥

हरिणाङ्गमुन्दरमनेत्रविशदगुणगुम्फितकृतिम् ।

हारमवहदपरा न पर हृदि कान्तमप्यसमगाणदीपनम् ॥ ४१ ॥

चन्द्रमा भी माति सुन्दर अनेक गुणों से (सूर्य से) गुंथी हुई आकृति
वाला हार (चन्द्रहार) जब एक स्त्री ने पहना तो उसने वह हृदयहारी हार क्या
पहना, मानो प्रिय के हृदय में काम-भावना को उद्दीप्त कर दिया ॥ ४१ ॥

विमर्श-अर्थात् उसकी सुन्दरता से आकृष्ट प्रिय कामासक्त हो गया ॥ ४१ ॥

इतरा पदाङ्गमित्र मत्तमदनकरिणोलिकोदरे ।

मान्द्रमृगमदमपोरचित तिलक कुरङ्गतिलकानना दधे ॥ ४२ ॥

धनी कस्तूरी की स्याही से बनाये हुए तिलक को जब मुख पर तिल वाली
स्त्री ने अपने माल पर लगाया तो ऐसा शांत हुआ, मानो मदोन्मत्त कामदेव के
हाथी के माल पर अकुश रख दिया गया हो ॥ ४२ ॥

हृतसुमहेमशतपत्ररुचिमुकुलितान्गुलीदले ।

काचिवितरकरसहृदित निदधे विलासमणिककण करे ॥ ४३ ॥

किन्हीं स्त्री ने तोड़े गये अरिक्वित स्वर्णकमल की वी कांति को धारण
करने वाली अंगुलियों वाले अनेक एक हाथ पर दूसरे हाथ से मणिककण
पहननाया ॥ ४३ ॥

वदितानु काञ्चिगुणमध्यमरक्तमरीचिसूचिषु ।

व्यक्तिमलमत न रोमलता स्मरदीपकञ्जशिखा मृगीदृशाम् ॥ ४४ ॥

करधनी की बोरी में लगे मरकत मणि की ऊपर उठती हुई किरणों से
मिलकर उन नारियों की कामदेव स्त्री दीपक की मानो कञ्ज रखे लाएँ—ऐसी
रोमपक्तियाँ स्पष्ट दिखाद नहीं दें ॥ ४४ ॥

सरसागसेव रमणेन चरणनलिनानुपङ्गिणा ।

पुष्पशरतरलिता दधिर मणिनूपुरेण मृगलोचना रुचिम् ॥ ४५ ॥

काम-बाणों से ध्वंशित किन्हीं स्त्री को, कुछ मानवती वी हो गई थी,
उसे श्री श्री अपराध करनेवाले अतएव चरणों पर पड़े पति ने ओर पैर में
पहनने गये नूपुर मणि ने शृंगार क अनुकूल बना दिया ॥ ४५ ॥

दधतीमिरिन्दुपरजालशानलतिमिरामिविभ्रमम् ।

उदधवलनुसुमामिरल वनरोलतामिरनलाश्चकाशिर ॥ ४६ ॥

चन्द्रकिरणों से संयुक्त अतएव चितकबरे अन्धकार की लहरों का भ्रम
उत्पन्न करने वाली धवल पुष्पों से सुमन्जिल वणि-लताओं से वे स्त्रियाँ शोभा
पाने लगीं ॥ ४६ ॥

प्रियपाणिपङ्कजवृत्तेषु सञ्जलशशिम्बनधुषु ।

वन्त्रकमलमविलोलदृशो मणिदर्पणेषु दृश पुरन्ध्रय ॥ ४७ ॥

अपने प्रियतमों के हाथों रूपी कमलों में पकड़े हुए, पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल और उज्ज्वल मणि दर्पणों में रमणियाँ अपने-अपने मुखकमलों को एकटक देखने लगीं ॥ ४७ ॥

प्रकटं दधज्झटिति रागमलघुमथ वारुणीं प्रति ।

कान्तिनिकर इव तिग्मरुचेर्वनिताजनोऽभिमुखतां समादधे ॥ ४८ ॥

स्पष्ट ही जो शीघ्र लालिमा को धारण करवा देती है, उस अधिक मात्रा वाली वारुणी (मदिरा) के प्रति सूर्य-किरणों के समान दैदीप्यमान वह नारीसमूह भी आकृष्ट हुआ ।

अथवा—जिस प्रकार सूर्य-किरणे शीघ्र ही लालिमा धारण कर वारुणी (पश्चिम दिशा) की ओर जाने को उद्यत होती हैं, उसी प्रकार वह स्त्रीजन भी शीघ्र लालिमा देने वाली वारुणी (मदिरा) की ओर उसे पीने के लिए बढ़ीं ॥ ४८ ॥

उदियायमानतिमिरीघविघटनपटुर्मनोम्बरे ।

वालकुवलयदृशां विशदे शनकैर्मनोभवकुङ्कलाञ्छनः ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार अंधकार-समूह का नाश करने वाला चन्द्रमा धीरे-धीरे आसमान में उदित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मान रूपी अन्धकार के समूह को नाश करने में चतुर, कामरूपी चन्द्रमा धीरे-धीरे उन कोमल कमल के समान नयनों वाली स्त्रियों के हृदय-आकाश में उदित होने लगा ॥ ४९ ॥

अरुणाङ्गुलीदलनिरुद्धनवकनककोशकणिकैः ।

सान्द्रमधुपरिमलैः रुरुचे करपङ्कजैरथ चकोरचक्षुषाम् ॥ ५० ॥

जिनकी लाल-लाल अंगुलिरूपी पत्तों से नवीन कोश के कर्णाभरण ढँक गये थे ऐसे तथा घनी मदिरा की सुगन्ध से सने उन स्त्रियों के करकमल अधिक-शोभायमान हो गये ॥ ५० ॥

मणिशुक्तिषु क्षणमुपोढकुत्रलयसुगन्धिसीधुषु ।

न्यस्यदसमशर यंत्रमिव भ्रमति स्म भृङ्गकुलमुत्सुकोत्सुकम् ॥ ५१ ॥

जिनके अन्दर मणि ये ऐसी तथा जिन में कमल जैसी सुगन्धित मदिरा थी, ऐसी सीपियों पर बड़ी उत्सुकता से भौंरे ऐसे घूम रहे थे, मानो कामदेव का यंत्र घूम रहा हो ॥ ५१ ॥

रुरुचेऽलिमण्डलमुदंशुकनकचपकोपरि स्थितम् ।

एकमिव रतिपतेरुदितं तपनीयदण्डमसिताप्यणवारणम् ॥ ५२ ॥

स्वर्णनिर्मित प्यालों के ऊपर बैठे हुए और उनकी किरणों से युक्त भ्रमरों

का समूह ऐसा जान पड़ रहा था, मानो स्वर्णदण्डों से विभूषित कामदेव का वृष्णवर्ण का छत्र हो ॥ ५२ ॥

विधृता करे प्रियतमैव कतिपयशिलीमुराविता ।

चित्तममृत विनश सुदृशा कुसुमेयुक्तामुक्लतेन वारुणी ॥ ५३ ॥

काम के धनुष की डोरी के समान मदिरा को जब प्रियतमों ने हाथ पर लिया तो उसे देखकर उन सुन्दर नेत्रचालियों के मन विवश हो गये ॥ ५३ ॥

अतिरागिणी प्रणयिनीव मधुनि परिचुम्बितानने ।

व्यस्तिमस्तमव मदो हृदये पुलक कपोलफलारे च मुध्रवाम् ॥ ५४ ॥

भ्रमर के सहित ही जब ये स्त्रियाँ मदिरा पीने लगीं तो भ्रमर ने अत्यन्त प्रणयी तथा प्रेमी की भाँति उनके मुख का चुम्बन किया तो स्पर्श रूप से ही मद ने उन मानिनियों के हृदय में और रोमाञ्च ने गालों को अपना स्थान बना लिया ।

निर्भरी—अर्थात् शराव हृदय के अन्तर उठर गयी और शरीर पर रोमाञ्च हो आया ॥ ५४ ॥

प्रतिमागते दुष्करजालघवलितमिष श्रियं दधे ।

पाननमितमुखमुग्धमधूविगलद्विलासहसितच्छट मधु ॥ ५५ ॥

मदिरा पान करने के लिए मुख नीचे की हुई मस्त नारियों की मङ्गार भावना से शुक्र हँसी की छटा से श्वेत बनी मदिरा ऐसी लग रही थी, मानो किसी प्रतिमा पर पड़ने वाले चन्द्र किरणों की श्वेत शोभा को धारण किये हुए हो ॥ ५५ ॥

मधु कापि पाटलकपोलतरलकलवोत्कुण्डला ।

लोलनिजमुत्पलपारकप्रतिविम्बगर्भमधिकापिते पयो ॥ ५६ ॥

लाल गालों पर चञ्चल स्वर्ण कुण्डलों को धारण करनेवाली किसी नारी ने अपने चन्द्रमुख में धारण की हुई मदिरा को अधिक मात्रा में पिया ॥ ५६ ॥

अतिरक्तमायततरेण विलासदसितोत्पलश्रिया ।

काममपिन्दपरेन्दुमुखी चपकेण सीधु नयनेन वल्लभम् ॥ ५७ ॥

नील कमल की कान्ति वाले बड़े बड़े नेत्रों से और प्यालों से किसी मदारी ने एक साथ ही (नेत्रों से) प्रेमी प्रिय के रूप का और (प्यालों से) रक्तवर्ण की मदिरा का पान किया ॥ ५७ ॥

अगमन् त्रयस्य सममेव परिमलरस्यतामलि ।

कलाविटपिमधुन प्रमदामुखभारतस्य विचोत्पलस्य च ॥ ५८ ॥

एक-वल्गुवृक्ष की मदिरा की, दूसरे-स्त्री के मुख की, और तीसरे-

विकसित कमल के पराग की सुगन्ध का रसास्वाद भौरों ने एक साथ ही किया ॥ ५८ ॥

अधराप्रचुम्बनमवाप्य कमलदलदीर्घचक्षुषाम् ।

श्वासतरलमजनिष्ट मुदा मुहुरात्तलास्यमिव कापिशायनम् ॥ ५९ ॥

कमल की पंखुड़ियों के समान दीर्घ नेत्र वाली नारियों के अधरों का चुम्बन पाकर वे (भ्रमर भी और पुरुष भी) मस्ती से नृत्य करते हुए गहरी कसैली श्वासों भरने लगे ॥ ५९ ॥

मदमासवेन रमणेन नखपदमिवापितं हृदि ।

अतिविशदपदवन्धमथो नवसाहसाङ्गचरितं जगुस्त्रियः ॥ ६० ॥

प्रियतमों ने अपनी-अपनी स्त्रियों के हृदयों में नाखूनों के चिह्न बना दिये और हृदय के भीतर शराब ने मस्ती भर दी । तब मस्त होकर वे स्त्रियाँ बड़े-बड़े पदों की रचनावाले नवसाहसाङ्ग के (सिन्धुराज) चरित का गान करने लगीं ॥ ६० ॥

मदिरापिताधरदलेन युवतिरमृतच्छटोपमा ।

प्रेमरसमृदुपु दीर्घदृशां हृदयेषु पल्लवयति स्म मन्मथम् ॥ ६१ ॥

अमृत की छटा धारण करने वाली कोई युवति मदिरा की सुगन्ध से युक्त अधरों के प्रेमरस से कोमल हृदय वाले उन दीर्घ नेत्रधारी पुरुषों के हृदयों में भी काम-भावना को जागृत कर रही थी ॥ ६१ ॥

दयिताहिते युवजनेन विलसदतिपाटलद्युतौ ।

कामसुहृदि विदितः प्रणयः प्रथमं मधुन्यधरपल्लवे ततः ॥ ६२ ॥

युवकों ने अपनी प्रियतमाओं के द्वारा दिये गये लाल वर्ण की कोमोदीपक-मदिरा से प्रथम प्रेम किया और तब लाल वर्ण वाले प्रियतमा के अधरों से प्रेम किया । अर्थात् पहले मदिरा पी, फिर प्रिया के अधर ॥ ६२ ॥

अवधूतमानमधुपानरसरभसतः प्रसन्नताम् ।

प्रापुरतिष्ठुच्छां सहसा हृदयानि चाच्छमणिभाजनानि च ॥ ६३ ॥

रसराग में जब मधुपान-क्रीड़ा समाप्त होने लगी, तब उन सुनयनाओं के हृदयों ने भी प्रसन्नता प्राप्त की और स्वच्छ मणिमय मदिरा के पात्रों ने भी स्वच्छता (रिक्तता) प्राप्त की ।

विमर्श—अर्थात् मान दूर हो जाने से युवक-युवतियों के हृदय परम प्रसन्न हुए और शराब खतम हो जाने से मणिमय पानपात्र खाली हो गये ॥ ६३ ॥

दयितामनङ्गमदसूतिसितनलिनावतंसकाम् ।

सान्द्ररुचिर्युवजनो मदिरां परिचुम्बति स्म न परं वधूमपि ॥ ६४ ॥

मदिरा पान से पूर्ण तृप्त युवकों का समूह कामोन्माद उत्पन्न करने वाली नील कमल का आभूषण पहनी हुई अपनी अपनी प्रिया और मदिरा का चुम्बन करता था, उसमें भी मदिरा का चुम्बन अधिक, पर युवती का कम ।

अनयन् सहसैव शिथिलत्वम् उभयमुभयेन योषिताम् ।

ग्रीहमरुणरुचिना मधुना मणिकान्ध्रिदाम च करेण कामिन ॥ ६५ ॥

तब दोनों ने दो को शिथिल कर दिया अर्थात् उनमें दीलापन आ गया—लाल रंग वाली मदिरा ने तरुणियों की लज्जा को शिथिल कर दिया, और कामी लोगों के हाथों ने स्त्रियों की मणिबद्धि करधनियों को दीला कर दिया । अर्थात् वे सब विलास-भावना के नशे में चूर हो गये ॥ ६५ ॥

मुदरा मदादय परित्तरुणितमितोदरा करात् ।

पेतुरमरसरित पुलिने मणिशूक्ष्म प्रियतमे च दृष्ट्य ॥ ६६ ॥

तब जाह्नवी के तट पर मद में चूर बनी उन नारियों के दीले हाथों से लाल और सफेद उदर-भागवाली मदिरा पान की सिपियाँ गिर पड़ीं और अपने प्रियतमों के ऊपर उनकी श्वेत रक्त वर्ण की दृष्टियाँ पड़ीं ॥ ६६ ॥

नवपल्लवारुणमुवाह धृततरुणवारुणीमद ।

रागमथ शुचिनि गण्डतले नयनोदरे च मदिरैक्षणाजन ॥ ६७ ॥

शीघ्र ही हुई मदिरा ने उन मस्त नेत्रोंवाली नारियों के स्वच्छ कपोलों को भी रक्त वर्ण का बना दिया और उनके नेत्रों के भीतरी भाग को भी रक्त वर्ण का बना दिया ॥ ६७ ॥

अपरिस्फुटोक्तिललितासु मदमुकुलदीर्घरष्ट्रिपु ।

तासु शनलकुसुमासलसत्कवरीलतासु पदमादधे स्मर ॥ ६८ ॥

उन लटखटा कर बोलने वाली, नशे से अधमुदी आँखों वाली, धधे पर लटकती हुई, फूलों से चितकवरी बनी चोटियों वाली नारियों में काम की भावना बलन्ती हो गई ॥ ६८ ॥

आपानभूरसितासवरागदीर्घसे दीवरस्फटिकशुक्तिशता चकासे ।

कौतूहलात्मदग्निलोलवधूविलासव्यालोनोभिपितवस्त्रपरम्परैव ॥ ६९ ॥

जहाँ पर मदिरापान किया गया था, वह भूमि पानगोष्ठी के रागरगों की समाप्ति पर पेंके हुए सैकड़ों कमल और मणिमय सिपियों से विराजने लगी, वहाँ पड़ी वे सिपियाँ और कमल ऐसे जान पड़ रहे थे, मानो कौतूहल से मदमस्त नारियों के विलास को देखने के लिए उन्होंने आँखें खोली हो और अकबका कर मुँह बाये हुए हों ॥ ६९ ॥

अविरलमणिदीपोद्द्योतदूरापसर्पत्तिमिरममरसिन्धोः कूलकच्छ प्रविश्य ।
अथ सममसुनाथैस्ताः सलीलं निपेदुः सरसकनकजम्बूपल्लवप्रस्तरेषु ॥७०॥

तव रत्नमणियों के घने प्रकाश से जहाँ का अन्धकार दर हट रहा था, जाह्नवी के किनारे की उन घाटियों में प्रविष्ट होकर वे नारियाँ अपने प्रियतयों के साथ हरे और सुनहले जामुन के पत्तों को पत्थरों पर बिछा कर उनपर बैठ गई ॥ ७० ॥

सान्द्रोन्मीलत्सौरभाण्युद्वहन्त्यो विद्युल्लेखापिङ्गलान्यङ्गकानि ।

लक्ष्मीं हेमाम्भोजमाला इवापुः सारङ्गाक्ष्यः प्रेयसां कण्ठलग्नाः ॥७१॥

घनी फैलती हुई पुष्पों की सुगन्ध को धारण करने वाले, बिजली की कान्ति के समान पीले अङ्गों वाली वे नारियाँ अपने प्रियतयों के साथ आलिंगन करती हुई कमलों की मालाओं को पहनी हुई अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुई ॥७१॥

ततो विसूत्रच्युतहारयष्टिः शीर्णाङ्गदो भङ्गुरकर्णपूरः ।

मदेन सद्यो मदिरक्षणां रतोत्सवः पल्लवितो वभूव ॥ ७२ ॥

तब जिसमें हार-यष्टियाँ भी टूट गयीं, वाजूबन्द खुलकर गिर पड़े, कनफूल टूट गये (या टेढ़े हो गये)—इस प्रकार का (शृङ्गाररस का) रतिक्रीडा महोत्सव वे मदभरी नयनोवाली नारियाँ करने लगीं ॥ ७२ ॥

नानाङ्गरागशवले श्लथवन्धलोलधम्मिल्लमाल्यकुसुमप्रकरावकीर्णे ।

पुष्पेषु तल्प इव वक्षसि वल्लभानां निद्रामवापुरथ ताः सुरतश्रमेण ॥७३॥

नाना प्रकार के अङ्गराग से सना, ढीलीढाली बेणियों पर लगाया हुआ मालाओं का समूह जब रागरस-रंग में बिखर गया, तब रतिक्रीडा में थकी-थकाई वे पुष्पशय्या की भाँति अपने प्रियतयों की छातियों पर सो गईं ।

विमर्श—काम की शय्या की भाँति सुन्दर अपने प्रियतमों के वक्षःस्थलों पर ही निद्रानिमग्न हो गई ॥ ७३ ॥

कन्दर्पस्य त्रिलोकीदृष्टविजयमहासाहसोत्साहहेतुः ।

धुन्वंस्तनूपक्षधूलिव्यतिकरकपिशः काञ्चनाम्भोरुहाणि ।

तन्वानस्तीररूढत्रिदशतरुलतालास्यमालस्यभाजाम्

तासां सम्भोगकेलिक्लमभरमहरज्जाह्नवीवीचिवातः ॥ ७४ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसुनोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ

नवसाहस्राङ्कचरिते महाकाव्ये पातालमङ्गावगाहन

नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

कामदेव के तीनों लोकों को हठपूर्वक विजय के महासाहस का एकमात्र कारण, स्वर्णकमलों को कँपाता दृष्टा और उनकी पखुडियों की धूलि से पीले बने हुए, भालस्य में पड़ी तीरक्ती कल्पतरुलताओं को नचाने वाले जाह्नवी की तरंगों के सम्पर्क से शीतल बने हुए वायु ने समोग क्रीडा में थको हुई उन स्त्रियों की थकान को मिटाया ॥ ७४ ॥

मृगाङ्कदत्त व पुत्र परिमलोपनामक पद्मशुतरचित नव-

साहसाङ्कचरित का पातालमग्न स्नान

नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१५॥



अथ षोडशः सर्गः

सोलहवाँ सर्ग

पाटलाऽऽगमनम्

अत्रान्तरे नभस्सिन्धुपुलिनं प्राप पाटला ।

दधत्यनङ्गलेखेन लाञ्छितं पाणिपल्लवम् ॥ १ ॥

सखि पाटला का आना

इसके पश्चात् जाह्नवी के उस तट पर काम के लेख (शशिप्रभा के पत्र) से युक्त हाथोंवाली पाटला आ गई ॥ १ ॥

मणिप्रग्रीवकोद्गीर्णशुनासीरशरासनम् ।

अपश्यद् गगनोल्लेखि तत्र स्फटिकवेश्म सा ॥ २ ॥

मणि-किरणों से इन्द्रधनुष के समान सतरंगे प्रकाश को फैलाने वाले और आकाश को चूमने वाले स्फटिक (संगमरमर) के बने भवन को उसने देखा ॥ २ ॥

तदिन्द्रनीलद्वारे सा हेमवेत्राकुले वभौ ।

श्लिष्यन्ती सतढिल्लेखे लेखेवेन्दोः पयोमुचि ॥ ३ ॥

स्वर्णदण्ड लिये प्रहरियों से युक्त उस नीलमणिनिमित्त द्वार पर जब वह पहुँची, तब वह ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो विद्युल्लेखा युक्त बादलों के बीच चन्द्रमा की कला हो ॥ ३ ॥

रत्नवातायनस्थस्य तिष्ठन् पार्श्वे महीपतेः ।

द्वाःस्थं किमपि पृच्छन्ती तामैक्षत रमाङ्गदः ॥ ४ ॥

रत्न के झरोखों के पास बैठे हुए राजा के समीपवर्ती रमाङ्गद ने द्वारपाल से कुछ पूछती हुई पाटला को देखा ॥ ४ ॥

अन्तः प्रवेशायामास स च तामात्तसम्भ्रमः ।

ययौ सा च विशांपत्युर्लोचनामृतवर्तिताम् ॥ ५ ॥

चकित रमाङ्गद ने आदरपूर्वक उसे भीतर पहुँचाया । जब राजा ने उसे देखा तो राजा के नेत्रों को वृत्ति देने के लिए मानो 'वह अमृत बन गई थी ॥ ५ ॥

सिताश्महर्म्यमुत्तुङ्गं शटित्यधिरूढ सा ।

आनन्दकन्दलीचित्तमत्यच्छं पार्थिवस्य च ॥ ६ ॥

सगमर के बने उस ऊँचे भवन पर और राजा के आनन्दमरे चित्तपर भी वह शीघ्रता से चटने लगी ।

विमर्श—भवन पर चटते ही वह राजा के मन को आनन्दित करने लगी ॥ ६ ॥

क्षितिचुम्बितहार सा प्रणनाम महीमुजे ।

रमाद्गद करग्राहसौहार्द पात्रवा नयन् ॥ ७ ॥

जब उसने राजा का प्रणाम किया तो उसका हार धरती को चूम रहा था । उसने रमाद्गद से हाथ मिलाकर उसे भीमित्रता के अनुकूल बनाया ॥ ७ ॥

‘नृपेण स्वयमुक्तापि इत एह्येति पाटले ।

तल्लीलामणिपर्यङ्कसवित्रे निपमाद सा ॥ ८ ॥

‘पाटले, इधर आओ’ ऐसा जब राजा ने स्वयं उससे कहा, तब वह उसके मणिमय पलंग के समीप में ही बैठी ॥ ८ ॥

पाटलाशक्यम्

कृतसम्भाषणा साथ तेनारनिमनोमुवा ।

इत्ययोचत् च दन्ताशुशक्लाधरपत्नवा ॥ ९ ॥

जब धरती के कामदेव उस सिंघुराज के साथ उसकी बातचीत हुई, तब पुन वह दन्ताकिरणों से अधरो को चमकाती हुई (हँसती हुई) बोली ॥ ९ ॥

मुद्रितस्मरसौन्दर्यजाता नेमामृत्रच्छदा ।

इय मूर्तिर्महाराज कञ्चिन् कुशलिनी तव ॥ १० ॥

कामदेव के सौन्दर्य को भी जीतने वाली, नेत्रों को अमृत छटा की भाँति तृप्त करने वाली आपकी यह मूर्ति कुशल तो है ?

विमर्श—अर्थात् आप कुशलपूर्वक स्वस्थ तो हैं ? ॥ १० ॥

कथमेता प्रविष्टस्त्वम् भूमिमत्यतदुर्गमाम् ।

न कस्य विस्मयायेय शक्तिरत्यद्भुता तव ॥ ११ ॥

श्रीमान्, आप इस अत्यन्त दुर्गम भयंकर भूमि में कैसे प्रविष्ट हुए (आये), आप की यह अद्भुत शक्ति किने आश्चर्य में नहीं डाल देगी ? ॥ ११ ॥

देव विद्याधर कोऽपि शापानिमोचितस्त्वया ।

इत्यमन्द प्रगाढोऽत्र तत्कोप्यसि नमोऽस्तु ते ॥ १२ ॥

हे महाराज ! आपने किसी विद्याधर को शापमुक्त कर दिया है, यह अपवाद (चनभ्रति) सर्वत्र ज़ोरो से चल रही है, इसलिए आप अवश्य कोई असाधारण पुरुष होंगे, अतः आप चाहे जो भी हैं, आप को नमस्कार ! ॥ १२ ॥

अहो गुणेन राजेन्द्र येन केनापि गृह्यसे ।

यदेवं क्लिश्यसे तस्याः फणीन्द्रदुहितुः कृते ॥ १३ ॥

हे राजेन्द्र ! निश्चित ही आप किसी विशेष गुण से ही आकृष्ट हुए हैं, अथवा आपमें निश्चित ही कोई असाधारण गुण है, जो उस नागराज-पुत्री के लिए इतना भारी कष्ट आप सह रहे हैं ॥ १३ ॥

नायकवाक्यम्

अथ विद्रुमतान्नोष्ठलुठद्दशनदीधितिः ।

स्मित्वा वसुमतीनाथस्तामिति प्रत्यभाषत ॥ १४ ॥

नायक सिन्धुराज का कथन

फिर मूंगे के समान लाल ओठों पर दांतों की श्वेत छटा को धारण कर (हँसकर) राजा ने उससे इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

कदाचिन पाटले कच्चिन् भुजङ्गपतिकन्यका ।

स्नरत्यस्मान् सखीस्वैरसङ्कथास्वन्तरान्तरा ॥ १५ ॥

हे पाटले ! क्या कभी वह भुजङ्गराजपुत्री सखियों के बीच स्वच्छन्द रूप में बातचीत करती हुई हमारी याद भी करती है ? ॥ १५ ॥

किमनद्रवती वक्ति व्रूते माल्यवती च किम् ।

अप्यस्त्यहिपुरेऽस्माकं किंवदन्ती कियत्यपि ॥ १६ ॥

बोलो, अनद्रवती (शशिप्रभा की सखि) क्या कहती है, और माल्यवती भी कुछ कहा करती है ? क्या नागपुर (पाताल) में हमारे विषय की कोई झूठ-उधर की चर्चा चलती है ? ॥ १६ ॥

फणिराजसुताकर्णं कच्चिन् प्रापप्य मद्वचः ।

विहितो रत्नचूडेन शुकुरूपविपर्ययः ॥ १७ ॥

क्या नागपुत्री शशिप्रभा के कान तक हमारी बात पहुँचाकर रत्नचूड़ ने अपने तोते के रूप को बदल लिया अर्थात् क्या वह तोते से आदमी बन गया ? ॥ १७ ॥

किमागतासि किं चैवं परिम्लानेव लक्ष्यसे ।

निवेदय द्रुतं यन्मे किमप्याशङ्कते मनः ॥ १८ ॥

तुम कैसे यहाँ आई हो ? तुम उदास सी क्यों दिखाई दे रही हो, मेरे मन में शंकाएँ उठ रही हैं, जल्दी बताओ ॥ १८ ॥

लेखार्पणम्

इति पृष्ठवते तस्म सान्द्रप्रेमाद्रिचेतसे ।

क दर्पदीपन लेखमर्पयामास पाटला ॥ १६ ॥

लेख (पत्र) देना

अस्य प्रेम से गदगद चित्तवाले राजा के इस प्रकार पूछने पर पाटला ने कामोत्तेजक वह लेख (पत्र) उसे दिया ॥ १६ ॥

तमाप्त वाचयेत्युक्त्वा परमारकुलोद्बह ।

रमाङ्गदस्य चित्तेप मन्त्रमोत्तानिते करे ॥ २० ॥

परमारवश के अग्रगण्य सिंधुराज ने रमाङ्गद से कहा कि इसे पढो और ऐसा कहकर आदर के साथ आगे उठाये हुए रमाङ्गद के हाथ में दिया ॥ २० ॥

त हेमकवलीपत्रवस्तूरीलिङ्गिताक्षरम् ।

सोऽवधार्याथ तस्याग्रे व्यक्तव्यामित्यवाचयन् ॥ २१ ॥

पीले कले के पत्र पर कस्तूरी से लिखे गये अक्षरों वाले उस पत्र को समझ बुझकर रमाङ्गद ने जोर से यों पढा ॥ २१ ॥

शशिप्रभालेखः

स्वस्ति स्थितस्य स्व सिन्धुतीरे कणिपुरस्थया ।

इदं मध्यमलोकेन्दोर्मास्यवस्या निवेद्यते ॥ २२ ॥

शशिप्रभा का पत्र ।

भीमान् की जय हो, आकाश गंगा के तट पर स्थित, धरती के चन्द्रमा सिन्धुराज से नागलोकस्थित मात्स्यवती (शशिप्रभा की सखी) इस प्रकार निवेदन करती है ॥ २२ ॥

यदैवास्मात्सखी विन्ध्ये त्वया राजन् व्ययुज्यत ।

तदैवेय कुरङ्गीर विद्धा हृदि मनोभुवा ॥ २३ ॥

हे राजन् ! हमारी प्यारी सखि विन्ध्याचल के वन में जब से आप से अलग हुई है, तभी से वह काम के बाणों की चोट खायी घायल हिरनी की भाँति हो गई है ॥ २३ ॥

दृष्टि सर्वत्र राजेन्दो सुधानिष्यन्दिनी तव ।

जाता शशिप्रभाया तु सैव हालाहलच्छटा ॥ २४ ॥

सब ओर अमृत की वर्षा करने वाली आप की दृष्टि बेचारी शशिप्रभा के लिए तो भयंकर कालकूट विष सी हो गई ।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारी नजर से नजर मिलाकर वह अपनी सुधबुध खो बैठी है ॥ २४ ॥

न विनोदयितुं शक्यमेवा केनापि वस्तुना ।

विनेश तव कर्पूरशीतया सङ्गमाशया ॥ २५ ॥

हे स्वामिन् ! कपूर की भाँति शीतल तुम्हारी मिलन की आशा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से भी इसका मन नहीं बहलाया जा सकता ॥ २५ ॥

त्वद्दर्शनोपकारिण्याः करोत्येकावलीमिव ।

इयं पद्माग्रवर्त्यश्रुपृपतच्छद्धानां दृशः ॥ २६ ॥

तुम्हारे दर्शनों की इच्छा रखने वाली अपनी दृष्टि के लिए मानो वह आँखों की पलकों के अग्रभाग पर आँसू की बूँदों के बहाने एक माला सी गूँथ रही है ।

विमर्श—अर्थात् रोती हुई इसके आँसू की लड़ी गूँथे हार सी लगती है ॥ २६ ॥

वक्ति व्यक्ताश्लेखेन निहितेन करोदरे ।

इयमापाण्डुगण्डेन स्मरतापमुखेन्दुना ॥ २७ ॥

निरन्तर आँसू की झड़ी लगानेवाले तथा हथेली पर कुछ पीले गालों वाले तथा कामज्वर से मुरझाये मुख को रखकर यह बड़बड़ाती रहती है ॥ २७ ॥

शरीपादपि मृद्वङ्गी फेयमायतलोचना ।

एष क च कुक्कुलाग्निकर्कशो मदनज्वरः ॥ २८ ॥

कहाँ तो हरसिंगार के पुष्प की भाँति कोमल अङ्गों वाली यह विशाल-नयनी कोमलांगी, और कहाँ दहकती हुई भूखी की आग जैसा कर्कश यह कामज्वर ।

विमर्श—अर्थात् भला यह कोमल शशिप्रभा इस फटोर कामज्वर को कैसे सहेगी ॥ २८ ॥

नेयं प्रवालशय्यायां नापि प्रालेयवेश्मनि ।

न चेन्दुमणिपर्यङ्के सखी निर्वृतिमेति नः ॥ २९ ॥

हमारी यह सखी न तो कोमल पत्तों की शय्या पर ही शान्ति पा रही है, न हिम-शीतल भवन में ही उसे चैन मिलता है, और न चन्द्रक्रान्त मणि-शय्या पर ही वह शान्ति पाती है ॥ २९ ॥

निसर्गरक्तमेतस्याः सखीजनमिवाधरम् ।

नयन्ति किमपि स्तानिमुष्णा निःश्वसितोर्मयः ॥ ३० ॥

गरम-गरम आह मरने की श्वाँसे निकलकर समाव से ही रक्त वर्ण के अधरो को म्लान कर रही है । पद्मान्तर में सखियाँ जो कि उससे बहुत प्रेम करती हैं, उसे टढी टढी आहें मरते देखकर दुखी होती हैं ॥ ३० ॥

अरतिन्वमवाप्याम्भ ऋणिकेन विमूर्णते ।

एषा कमलिनीपत्रशय्यायामायतेऽप्यथा ॥ ३१ ॥

अनमनी सी होकर यह विशालनेत्री कमलिनी के पत्रों की शय्या पर पानी की बूँद की तरह पड़ी रहती है ॥ ३१ ॥

अस्या स्मराग्निसत्तप्तं वपु शशिमलामृदु ।

नीरन्ध्रधर्मसलिलच्छलेनेन विलीयते ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार भयंकर धूप में पानी भी मरने लगता है, उसी प्रकार इसका चन्द्रमा की कला क समान कोमल शरीर कामाग्नि से खूबसा चला जा रहा है ॥ ३२ ॥

कृशतामङ्गके गाढमस्या कुसुमकोमले ।

आरोपयति पुण्ड्रपुर्मोर्वीमिन् शरासने ॥ ३३ ॥

उसके फूल के समान कोमल अङ्गों में इतनी दुर्बलता आ गई है कि मानो वह (रस्ती) डोरी की भाँति टूटली हो गई है । उसे मौर्वी बनाकर काम अपने धनुष पर चढाना चाहता है ॥ ३३ ॥

वृत्तया इदि घालेयं विलीयन्हरिचन्दने ।

निर्वाणमेति भवत कथया न जलार्द्रया ॥ ३४ ॥

यह शशिप्रभा हृदय पर चन्दन का लेप करने पर भी या बलरसान करने पर भी शान्ति नहीं पाती है, बल्कि आपकी कथा सुनने से इसे कुछ राहत मिलती है ॥ ४ ॥

आकर्णकृष्टकोदण्डस्त्वा विना निशिनै शरै ।

भिनत्यन्नमनङ्गोऽस्या क्षतिञ्चेतसि कापि मे ॥ ३५ ॥

कानों तक अच्छी तरह से धनुष खींचकर कामदेव तुम्हारे दिना इसके अङ्ग प्रायङ्गों को घायल करता रहता है, यह देखकर मेरे (माल्यवती के) चित्त का बड़ा कष्ट होता है ॥ ३५ ॥

इयमत्यच्छद्दय दधत्यतिमुत्तताम् ।

यात्रा माणिक्यमुकुरे त्रिसुरी सम्मुखी त्वयि ॥ ३६ ॥

अत्यन्त निर्मल हृदय में सुवृत्तता अर्थात् सौमनस्य प्राप्त करने वाली वह शशिप्रभा छोटे-छोटे मणियों से अटित दर्पण में तुम्हारे सम्मुख विमुख होकर बैठती है ॥ ३६ ॥

एषा शिखेव दीपस्य मुग्धा दग्धदशाश्रया ।

स्मरानिलपरामर्शादितश्चेतश्च वेपते ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार दीपक की लौ जलती हुई वत्ती के साथ हवा के झोंके खा-खाकर इधर-उधर काँपती रहती है, उसी भाँति यह भोली-भाली शशिप्रभा वियोग में जलती हुई, कामरूपी वायु से इधर-उधर काँपती फिरती रहती है ॥ ३७ ॥

इयमिन्दुद्युतिहरं युक्तमत्यायतैर्गुणैः ।

मृणालवल्लयं हस्ते वहति त्वां च चेतसि ॥ ३८ ॥

यह चन्द्र की कान्ति की भाँति श्वेत, लम्बे-चौड़े सूतों से युक्त कमल-नाल के कंगन को तो हाथ पर धारण किये हुए है और चन्द्रमा की कान्ति को भी जीतने वाले विशेष अधिक गुणों से युक्त तुम्हें हृदय में धारण करती है ॥ ३८ ॥

अनङ्गतापवत्यस्या निकामं सरसं हृदि ।

सङ्कुचत्यट्जिनीपत्रं न तु त्वत्प्रेमपल्लवः ॥ ३९ ॥

इस बाला के कामदाह से युक्त हृदय पर भली प्रकार रखे गये कमलिनी के पत्ते तो मुरझा (झुलस) जाते हैं; किन्तु आपके प्रेमवृक्ष के पत्र जरा भी नहीं मुरझाते हैं ॥ ३९ ॥

क्रियते वल्लयेनास्याः मणिवन्धे गतागतम् ।

कार्यप्रभुमिमांसायास्त्वय्यन्तःकरणेन च ॥ ४० ॥

यह इतनी दुर्बल हो गई है कि इसके हाथ का कंगन मणिवन्ध के कभी नीचे और कभी ऊपर होता रहता है, और इसका हृदय भी वैसे ही आपकी स्मृति में गमनागमन करता रहता है । अर्थात् इसका चित्त तुम्हीं पर लगा है ॥ ४० ॥

जायते पेशलमपि प्रायो वस्त्वन्यथाऽऽपदि ।

प्राप्नो मृणालहारोऽपि यदस्या दाहहेतुताम् ॥ ४१ ॥

आपत्ति आने पर कोमल वस्तु भी फटोर बन जाती है । जैसे कि इस वेचारी का मृणाल-हार जो शीतलता देता था, आज वियोग होने से वह भी दाहकारक बन गया ॥ ४१ ॥

निहिताः साक्षमालीभिर्लेवलीपाकपाण्डुनि ।

अस्याः स्तनतटे भारः परं वानीरपल्लवाः ॥ ४२ ॥

इसके लवली के पके पुष्प के समान पीले स्तनभाग पर सखियों द्वारा अश्रुपरिपूर्ण होकर रखे गये वेत के पत्ते भी अत्यन्त भारस्वरूप हो रहे हैं ॥ ४२ ॥

न चन्दनेन नोशीरवारिणा न जलार्द्रया ।

नाऽस्या पुटकिनीपत्रै रममेति स्मरज्वर ॥ ४३ ॥

इसका कामज्वर न चन्दन से, न राख के टटे पानी से, न जल में डुबोने से और न कमलिनी के पत्र रखने से ही किसी प्रकार शान्त हो रहा है ॥ ४३ ॥

किञ्चापर त्वमेतन्मया हृदयस्याधिदेवता ।

यतस्त्वन्मयमेवैषा विश्वे विश्वेश पश्यति ॥ ४४ ॥

और क्या कहें ! इसके हृदय के अधिदेवता तो आप ही बने हुए हैं । क्योंकि हे विश्व के राजा ! यह तो सारे विश्व को तुम्हारे ही रूप में देख रही है ॥ ४४ ॥

रत्नचूड़ोपनीतेन सन्देशेन तथाधुना ।

इयमुन्मृत्सिता किञ्चिन् सुधागण्डूपरधुना ॥ ४५ ॥

हाँ ! अमृत के घूट के समान जीवनदायक रत्नचूड़ के द्वारा पङ्कजादे गये तुम्हारे सन्देश के मिलने पर इसने कुछ सारस्वना की राख ली ॥ ४५ ॥

तावदागच्छ वेगेन गृहीत्वा हेमपङ्कजम् ।

अनङ्गविधुता यावदिय श्वसिति न सखी ॥ ४६ ॥

तो जब तक काम से पीड़ित हमार। यह सखी थीरित है, तब तक शीघ्र ही आप स्वर्णकमल लेकर यहाँ पहुँचे ॥ ४६ ॥

नायकस्य प्रतिसन्देशः

एवमाकर्ण्य ललित लेपार्थमथ पाथिय ।

सद्भिन्नसाद्रूपलक पाटलामित्योचत ॥ ४७ ॥

नायक का सन्देश

सिन्धुराज ने इस तरह उस लेख को सुनकर उसका अर्थ समझ कर आप्यन्त रोमाञ्चित होकर पाटला से यों कहा ॥ ४७ ॥

यथा सखी व किमपि प्रपन्ना मिथुरा वशाम् ।

तथा त्वमपि मामेव पाटले किं न पश्यसि ॥ ४८ ॥

हे पाटले ! जिस प्रकार तुम्हारी सम्झी अति दुःखपूर्ण दशा को प्राप्त हुई है, क्या उसी दशा को मैंने ही मुझे तुम नहीं देख रही हो ? ॥ ४८ ॥

तद् गच्छता शशिमुखोमाश्वामयितुमर्हमि ।

वयमेते च हेमाब्जमानेतु प्रयतामहे ॥ ४९ ॥

तो पाटले ! तुम जाओ और जेते भी हो सके, अपनी सखी को दादसँधाओ । हम भी शीघ्र ही स्वर्णकमल लाने का प्रयत्न करते हैं ॥ ४९ ॥

तथा कार्यं न बन्ध्यः स्याद्यथा मम मनोरथः ।

वक्तव्या माल्यवत्येवं मदगिरा वल्गुवादिनि ॥ ५० ॥

हे सुन्दर भाषण करने वाली ! मेरा मनोरथ और सारा प्रयत्न असफल न होने पाये, ऐसा उपाय करो । इस तरह तुम मेरे शब्दों से यह बात माल्यवती से कह देना ॥ ५० ॥

पाटलाप्रयाणम्

आवृत्तिदत्तसन्देशा सा ततः पृथिवीभुजा ।

फणिराजेन्द्रनगरीं त्वरितं पाटला ययौ ॥ ५१ ॥

पाटला का प्रयाण

जब राजा ने बार-बार उसे ऐसा सन्देश देकर अच्छी तरह उसे समझा दिया, तब पाटला शीघ्र ही नागराजपुरी भागवती की ओर चल पड़ी ॥ ५१ ॥

प्रस्थानशंसी सहसा तस्याथ पृथिवीपतेः ।

प्रलयाम्बुधरध्वानधीरं ध्वानं दुन्दुभिः ॥ ५२ ॥

तब सहसा विजय-प्रस्थान की सूचना देनेवाली, प्रलयकालीन मेघ की भाँति भीषण ध्वनि करने वाली, सिन्धुराज की सेना की दुन्दुभि बज उठी ॥ ५२ ॥

विद्याधरस्त्रीपुरुषवर्णनम्

नदन्तुत्कम्पिमनसां स विद्याधरयोपिताम् ।

निन्ये प्रियपरिष्वङ्गश्लथतामथ दोर्लताः ॥ ५३ ॥

विद्याधर स्त्री-पुरुषों का वर्णन

बजती हुई उस दुन्दुभि ने विद्याधर-नारियों के हृदयों को कँपाते हुए उनकी भुजलताओं को प्रियतमों के साथ किये गये आलिंगन से शिथिल बना दिया ॥ ५३ ॥

कथञ्चित् प्राणनाथस्य मुखादधरपल्लवम् ।

बाला व्यघटयत् काचिदुरसश्च पयोधरौ ॥ ५४ ॥

उस समय अतिकटिनता से किसी बाला ने प्रिय के अधरों से अपने अघर हटाये और आलिङ्गन में संसक्त प्रिय के वक्षःस्थल से अपने कुचों को हटाया ॥ ५४ ॥

शनेर्वन्ध जघने नखाङ्कवति मेखलाम् ।

कापि स्मितमुखी कान्ते तिर्यगर्पितलोचना ॥ ५५ ॥

किसी बाला ने नाखूनों के चिह्नों से युक्त कटिभाग पर करधनी बाँधी और तिरछी नजर से प्रिय को हँसकर देखने लगी ॥ ५५ ॥

दृष्टिं दास्यन्ति मे सरयः सण्डिते दन्तवाससि ।

किमत्र कृत्यमित्यन्या किमपि व्याकुलाभसन् ॥ ५६ ॥

कोई स्त्री यह सोचकर व्याकुल होने लगी कि क्या करें ? मेरी खलियाँ मेरे पति के द्वारा काटे हुए मेरे ओठों को देखेंगी तो क्या होगा, क्या करना चाहिए ! ॥ ५६ ॥

काचिन् पर्यङ्कुमालोक्य सालकम्पदाद्वितम् ।

अन्योऽपि तनेत्राभिर्यस्याभिरहस्यत ॥ ५७ ॥

अलता से सन पर्दाचक्षा से युक्त पलंग को देखकर खलियाँ एक दूसरी को देखकर हँसती हुई किसी का मजाक उड़ाने लगी ॥ ५७ ॥

एका माणिभ्यन्यक करामन्युत्तमाददे ।

हृदयं पुष्पचापेन मध्ये विद्वमिवात्मन ॥ ५८ ॥

किन्ना ने अपने हाथ में गिरे हुए मणि-कगन को पहना, मानो कामवाणी से बीबीबीन बिधे अपने हृदय को रसमाणा हो ॥ ५८ ॥

चुम्बनविलस्रिम्बोष्ठ जागरारुणलोचनम् ।

मुद्राम्भोज दृशाऽन्योन्यं विलासिमिरपीयत ॥ ५९ ॥

चुम्बन से मुरझाये ओठोंवाले, जागरण क कारण लाल-लाल नेत्रोंवाले एक दूसरे के मुख-कमलों का विलासियों ने चुम्बन किया ॥ ५९ ॥

रत्नवतीं प्रति गमनम्

सोऽथ प्रपृष्टे गतुं विद्याधरधलाविह ।

रथेन रथिनामग्यू पुरी रत्नवतीं प्रति ॥ ६० ॥

रत्नवती का प्रस्थान

तब रथियों में अग्रगण्य सिन्धुराव विद्याधरों की सेना के साथ, रथ से रत्नवती नाम की राजकुल राजसुत की पुरी की आरंभ करने के लिए रत्नवती दृष्टा ॥ ६० ॥

रत्नचूडसमागमः

ततः कणिकुमारेण रत्नचूडेन सोऽध्वनि ।

समगम्य लगत्पूज्य पूपा दश श्वेदुना ॥ ६१ ॥

रत्नचूट से मँट

किन्ना नागपुत्र रत्नचूड का रास्ते में उस अगस्त्यन से उसी भाँति मिलन हुआ, जिस प्रकार पूणिमा का चन्द्रमा का सूर्य से होता है ॥ ६१ ॥

स तस्योपायनीचक्रे दिक्चक्रस्तलिग्ननिम् ।

अन्दिप्रदाननिप्यन्दमात्मानमिव वारणम् ॥ ६२ ॥

उस रत्नचूड़ ने अपनी आवाज से दिशाओं को गुंजा देने वाले, सदैव मद बहाने वाले एक हाथी को राजा को भेंट के रूप में दिया, साथ ही साथ अपने आपको भी ॥ ६२ ॥

नृपस्य दीपिकाकृत्यं चकिरे तिमिरच्छिदः ।

पुरः प्रसर्पत्तत्सैन्यफणारत्नांशुसूचयः ॥ ६३ ॥

अपनी फणाओं के मणियों की ज्योति की वस्तियों से जो अन्धकार को मिटा रही थीं, ऐसी उस रत्नचूड़ की आगे-आगे चलनेवाली नागसेना ने राजा के सामने आरती उतारने का काम किया ॥ ६३ ॥

क्रियताप्यथ कालेन सन्ततैः स प्रयाणकैः ।

प्रपेदे कुसुमाश्लेषसुगन्धिपवनं वनम् ॥ ६४ ॥

तब बहुत समय के पश्चात् लगातार पड़ाव पर पड़ाव डालता हुआ वह राजा पुष्पों से भरे सुगन्धि युक्त एक उपवन में पहुँचा ॥ ६४ ॥

दूतप्रस्थानम्

असुराधिपति साम्ना याचितुं हंमपङ्कजम् ।

स्थित्वा स तत्र पुरतो विससर्ज रमाङ्गदम् ॥ ६५ ॥

दूत को भेजना

सिन्धुराज ने वही रहकर शान्तिपूर्ण ढंग से वज्रांकुश राक्षस के पास स्वर्ण कमल को माँगने के लिए रमाङ्गद को आगे भेजा ॥ ६५ ॥

स च त्रिजगतः सारमादायैव विनिर्मिताम् ।

उत्तङ्गरत्नप्रासादां प्राप रत्नवतीं पुरीम् ॥ ६६ ॥

रमाङ्गद तीनों लाकों के सार को लेकर बनाई गई ऊँचे-ऊँचे रत्नमण्डित महलों वाली उस रत्नवती नाम की राक्षस-नगरी में पहुँचा ॥ ६६ ॥

रामार्थवद्धकक्षेण प्रेषितः प्रभुणाऽविशत् ।

परिखार्णवमुल्लङ्घ्य स तां लङ्कामिवाङ्गदः ॥ ६७ ॥

रमणी की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत स्वामी के भेजने पर रमाङ्गद खाइयों से घिरी उस नगरी में उसी भाँति प्रविष्ट हुआ, जैसे राम के भेजने पर समुद्रों से घिरी लंका में अंगद गया था ॥ ६७ ॥

कोऽयं कोप्ययमन्योन्यमेवं पल्लवितोक्तिभिः ।

कौतुकस्तिमिताक्षैः स पौरैश्चिरमदृश्यत ॥ ६८ ॥

अरे यह कौन है ! अरे होगा कोई ! इस प्रकार एक-दूसरे से आपस में कहते-कहते जब बात नगर में फैली तो नगरनिवासी आश्चर्य से आँखें खोल-कर बड़ी देर तक रमाङ्गद को देखते ही रह गये ॥ ६८ ॥

सचेन्द्रनीलहर्म्येषु ददर्शासुरकन्यका ।

लोलास्तमालश्यामेषु मेघेष्विव शतहृदा ॥ ६६ ॥

उसने इन्द्रनीलमणि मण्डित महलों में असुरकन्याओं को देखा । जो ऐसी शत हो रही थीं, मानो नील मेघों के अन्दर चंचल बिज-लियाँ हों ॥ ६६ ॥

निषीयमान पौरम्त्रीनेत्रस्फटिकशुक्तिमि ।

वैरीद्विपघटासिह सिहद्वारमयाप ॥ ७० ॥

पुरनारियो की स्फटिक की मूर्ति स्वच्छ नेत्ररूपी सिंधिया से जिसके रूप का पान किया जा रहा था, ऐसा वह वैरियों के गजसमूह के लिए सिंह-स्वरूप रमाकृद सिहद्वार (नगर के प्रमुख दरवाजा) पर पहुँचा ॥ ७० ॥

असुरेन्द्रस्य दो रण्डुदु स्थानैकभटाकुलम् ।

वीर सोऽविशदास्थानमथ द्वा स्थनिवेदित ॥ ७१ ॥

भुजाओं की कण्डु शमन के लिए जन्हें कोई स्थान नहीं था, ऐसे अनेक-योद्धाओं से भरे हुए, द्वारपाल के बताये हुए, दैत्यराज के उस समामण्डप में वह वीर पहुँचा ॥ ७१ ॥

असुरेन्द्रवर्णनम्

आसीनमञ्जनश्याममुच्चै स्फटिकविष्टरे ।

हिमाचलेन्द्रशिखरे ननीनमिव नीरदम् ॥ ७२ ॥

राक्षसराज का वर्णन

ऊँचे स्फटिक के सिंहासन पर बैठा हुआ काले अञ्जन की आकृति वाला वह दैत्यराज ऐसा लग रहा था, मानो हिमालय की चोटी पर नया नील बादल विराजमान हो ॥ ७२ ॥

केयूरपद्मरागाशुमञ्जरीजयित्वाभुभौ ।

भुजौ विभ्राणमुज्ज्वालप्रतापज्वलनारिव ॥ ७३ ॥

पद्मराग (पना) की किरणों से चमकते हुए बाजूबन्दों से युक्त, प्रताप की अग्निज्वाला को धारण करने वाले उसके दोनों हाथ थे ॥ ७३ ॥

सरसा रुद्धमीर्वाणद्विपेद्रदकोटिना ।

हारवल्ली दधस्त्रोला दोलामिव जयश्रिय ॥ ७४ ॥

देवराज पेरवत को युद्ध में रोक देने से उसके दाँतों से चिह्नित हृदय पर चञ्चल हार को उसने धारण किया था । जो जयलक्ष्मी के झूलने की भाँति प्रतीत होता था ॥ ७४ ॥

दधानं दीप्तिपर्यस्ततिमिरौ मणिकुण्डलौ ।

वन्दीकृतौ सहवोभौ सूर्याचद्रमसाविव ॥ ७५ ॥

अपनी चमक से अन्धकार को दूर करने वाले दो मणिकुण्डलों को उसने पहन रखा था, जो ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो उसने सूर्य और चन्द्रमा को एक ही साय बन्दी बना रखा हो ॥ ७५ ॥

वीरव्रतस्यालङ्कारमहंकारस्य जीवितम् ।

जगतामङ्कुशं तत्र स वज्राङ्कुशमैक्षत ॥ ७६ ॥

वीरव्रत के अलंकार अर्थात् आभूषण-स्वरूप अहंकार का मानो जीवित तथा तीनों लोकों पर अपना अंकुश रखने वाले उस वज्राङ्कुश को रमाङ्गद ने देखा ॥ ७६ ॥

तन्निदेशितमध्यास्त स हिरण्यमासनम् ।

नानारत्नांशुशवलं शृङ्गं मेरोरिवार्यमा ॥ ७७ ॥

तब संकेत पाने पर नाना रत्न-किरणों से सुशोभित स्वर्ण के आसन पर रमाङ्गद बैठ गया, मानो सुमेरु पर्वत की चोटी पर सूर्य विराजमान हो ॥ ७७ ॥

दृतं प्रति प्रश्नः

कुर्वन् मुखानि स्मेराणि दशनज्योत्स्नया दिशाम् ।

विधाय सत्क्रियामेवमसुरेन्द्रस्तमब्रवीत् ॥ ७८ ॥

दूत रमाङ्गद से प्रश्न

दांतों की श्वेत ज्योति से दिशाओं के मुखों को भी श्वेत बनाते हुए, उस राजसेन्द्र ने आदर-सत्कार करके रमाङ्गद से यों कहा ॥ ७८ ॥

अहो किमपि कल्याणमासन्नफलमद्य नः ।

अन्यथा हि गृहं सन्तः किमायान्ति भवद्विधाः ॥ ७९ ॥

अहो आज हमारे किसी कल्याण का बड़ा भारी फल हमें मिला है । अन्यथा, अगर ऐसा न होता तो क्या आप जैसे सज्जन अतिथि मेरे घर आते ? ॥ ७९ ॥

यदाश्रमे बङ्कुमुनेर्युवयोर्वृत्तमद्भुतम् ।

तत् कर्णातिथितां नीतमेत्य प्रणिधिभिर्मम ॥ ८० ॥

आप लोगों ने जो अद्भुत कार्य बङ्कुमुनि के आश्रम में किये हैं, वे मेरे गुप्तचरों ने आकर मेरे भी कान तक पहुँचा दिये हैं ॥ ८० ॥

एतया साम्प्रतं ब्रूहि युतो विद्याधरैरयम् ।

किमाकाङ्क्षति वः स्वामी फलं पातालयात्रया ॥ ८१ ॥

अब बताइये कि विद्याधर-सेना में युक्त होकर आपका स्वामी इस पाताल-यात्रा का क्या फल चाहता है ।

त्रिमर्श—अर्थात् इस पातालयात्रा का उद्देश्य क्या है ? ॥ ८१ ॥

नियुज्यन्ते नृपेणार्थे नात्पीयति भवान्शा ।

शेषो धृतेर्भुवोऽन्यत्र व्यापारयति किं फलान् ॥ ८० ॥

राजा आप जैसे महानुभाव को छोटे मोटे काम के लिए कभी नियुक्त नहीं कर सकता अर्थात् आप को किसी बड़े ही काम के लिये भेजा होगा । शेषनाग धरती के धारण के अतिरिक्त और किसी काम के लिये अपनी पखात्रों को नहीं उठाता ॥ ८२ ॥

तदत्र प्रहितो राजा किमर्थमसि कथयताम् ।

अयिना व्यर्थतामेति न जातु प्राथना मयि ॥ ८३ ॥

तो बताइये, राजा ने आपको किसलिए यहाँ भेजा है ? मुझसे जो भी वाचक प्रार्थना करते हैं, उनकी प्रार्थना कभी निफल नहीं होती ॥ ८३ ॥

रमाङ्गदोक्तिः

मार्गैरिषायतैर्वाचा शुचिभिर्दर्शनाशुभि ।

सीमन्तिताधर म्मिन्त्वा तमित्यूचे रमाङ्गद ॥ ८४ ॥

रमाङ्गद का कथन

वाणी के लिए मानो विस्तृत मार्गरूप अपनी शुद्ध दन्त किरणों से अधरो को सुशोभित करत हुए अर्थात् हँसते हुए रमाङ्गद ने उससे कहा ॥ ८४ ॥

आसा मुधारसार्द्राणा शुद्धानामसुराधिप ।

गिरा त्वमेको यन् सत्यमिन्दुर्भासामिराकर ॥ ८५ ॥

इन सुधारस से भरी शुद्ध वाणियों के तुम उसी प्रकार भयङ्कर हो, जैसे चन्द्रिका का भयङ्कर चन्द्र है ॥ ८५ ॥

कच्चिस्त्वयाऽयमज्ञायि देव साहसलाञ्छन ।

जगत्प्रदीपमथवा को न वेत्ति विरोचनम् ॥ ८६ ॥

क्या तुम हमारे स्वामी नवसाहसक को जानते हो ? अथवा जगत् को प्रकाशित करने वाल सूर्य को भला कौन नहीं जानता ॥ ८६ ॥

फणिराजमुतामेप परिणेतु शशिप्रभाम् ।

पथानेन रथघुण्णरत्नशैलेन गच्छति ॥ ८७ ॥

यह राजा नागराज की कन्या शशिप्रभा से विवाह करने के लिए रथों से रत्नमय पर्वतों को तोड़ता हुआ इसी मार्ग से जा रहा है ॥ ८७ ॥

त्वद्वापिहेमपद्मेन शुल्कसंस्था कृता क्लि ।

अस्या पित्रेति देवेन तदर्थं प्रहिता वयम् ॥ ८८ ॥

शशिप्रभा के पिता ने तुम्हारी बावडी के स्वर्णकमल को लाने वाले पुरुष को उसे ब्याहने का निश्चय किया है, प्रतिज्ञा की है । अतः उसी स्वर्णकमल के लिए राजा ने मुझे यहाँ भेजा है ॥ ८८ ॥

अनेनेच्छसि चेन् कर्तुं सख्यं साहसलक्ष्मणा ।

तन् कार्तस्वरराजीवमानीय स्वयमर्च्यताम् ॥ ८६ ॥

यदि तुम उस नवसाहसार्द्ध राजा से मित्रता करना चाहते हो, तो स्वयं ही अपनी वावड़ी से स्वर्णकमल लाकर उनको अर्पित कर दो ॥ ८६ ॥

लुम्पन्ति त्वन्मुखच्छायां यावन्नास्य चमूरजः ।

कुरुष्व तावदातिथ्यं हेमाञ्जेन महीभुजः ॥ ८७ ॥

जबतक तुम्हारे मुख की कान्ति को उसकी सेना की चरण-धूलि मलिन नहीं करती, तब तक ही स्वर्णकमल द्वारा उस राजा का अतिथि-सत्कार कर दो ।

विमर्श—अर्थात् बिना युद्ध के ही कमल देकर मित्रता कर लो ॥ ८७ ॥

किमन्यन् नार्थिना मत्तो विघटन्ते मनोरथाः ।

इति त्वया स्वमेवाशु प्रमाणीक्रियतां वचः ॥ ८८ ॥

और क्या कहें, तुमने स्वयं ही कहा है कि मेरे पास आनेवाले याचकों के मनोरथ विफल नहीं होते । इसलिए अपने वचनों को शीघ्र सत्य प्रमाणित कर दो ॥ ८८ ॥

इत्युक्तवति सामर्पभट्टद्वे यशोभटे ।

प्रत्यभापत सावर्जं विहस्यामुरकुञ्जरः ॥ ८९ ॥

क्रोधयुक्त योद्धाओं के द्वारा देखे जाते हुए रमाङ्गद के इस प्रकार कहने पर हँस कर अवहेलना (लापरवाही) के साथ उस असुरराज ने यों कहा ॥ ८९ ॥

वज्राङ्कुशवाक्यम्

अहो वत विदग्धोऽपि धिङ् मुग्ध इव लक्ष्यसे ।

विदुषापि त्वया किञ्चिद्यदुक्तमसमञ्जसम् ॥ ९० ॥

वज्राङ्कुश का उत्तर

अहो ! तुम चतुर होते हुए भी मूर्ख जैसे मालूम पड़ रहे हो, क्योंकि विद्वान् होते हुए भी तुमने युक्तिसंगत बात नहीं कही ॥ ९० ॥

यूयं क मानुषाः पृथ्वीसङ्कटस्वाम्यदुःस्थिताः ।

साच त्रिजगतां भर्तुरुचिता क्व शशिप्रभा ? ॥ ९१ ॥

पृथ्वी पर वर्तमान अनगिनत संकटों का तुमपर आधिपत्य रहता है, अतएव दुरवस्था से युक्त तुम मानव कहाँ और वह तीनों लोकों के स्वामी के (मेरे) लायक शशिप्रभा कहाँ ॥ ९१ ॥

तादृङ्मदङ्कमेवात्र स्त्रीरत्नमधिरोहति ।

रमते हि हरस्यैव मौलाविन्दुकलाङ्करः ॥ ९२ ॥

ऐसी रत्नरूप स्त्री तो मेरी गोद की ही शोभा हा सकती है, क्योंकि चन्द्रमा की कला शिव के सिर पर ही शोभा पा सकती है ॥ ६५ ॥

यद्यदस्तीह पाताले रत्न क्वचन विश्र्वन ।

भाजन तस्य तस्याहमेक के यूयमुन्यताम् ॥ ६६ ॥

इस पाताललोक में जहाँ कहीं पर भी जो कोई भी रत्न है, उसका एकमात्र मैं ही अधिकारी हूँ । गोलो, तुम लोग कौन होते हो ? ॥ ६६ ॥

सहते नृपतौ नैव हेमतामरमार्पणम् ।

ममैव शक्रविजयश्रीढादुर्ललितो भुज ॥ ६७ ॥

इन्द्रविजय की कठिन श्रुति करने का अभ्यासी मेरा यह हाथ राजा (सिन्धुराज) को इस प्रकार स्वर्णकमल समपण कभी नहीं सह सकता है ॥ ६७ ॥

प्रभुस्तत्र नयज्ञोऽपि किमनर्थाय केवलम् ।

दीर्घेदीर्घरमालेति विकर्षत्यसितोरगम् ॥ ६८ ॥

न्याय का शाता होकर भी तुम्हारा स्वामी केवल अनर्थ उत्पन्न करने के लिए कमल की माला समकक्ष काले साप को क्यों खींचना चाहता है ? ॥ ६८ ॥

इत एव निरर्थक्य वर्तक्य उचने मम ।

अत्रटे किमिति क्षेप्तुमात्मान यूयमुद्यता ॥ ६९ ॥

मेरे वचनों को मान कर तुम लोग अब यहीं में लौट जाओ । व्यर्थ मैं ही क्या तुम लोग अपने आपको गर्त (आपात) में डालना चाहते हो ? ॥ ६९ ॥

यावदेते न मुञ्चन्ति मर्यादामसुराब्धय ।

तानद्दूरापसारेण स्वामिन त्रातुमर्हथ ॥ १०० ॥

जब तक यह राक्षस सेनारूपी समुद्र मर्यादा को नहीं छोड़ता अर्थात् तुम लोगो को नहीं समाप्त कर देता, तब तक दूर भाग कर अपने स्वामी को बचा लो ॥ १०० ॥

नरेन्द्र दुर्जिगीषातन्त्रद्वगच्छ विनियारय ।

त्वान्शः त्रिमुपेक्षते पतिमुत्पथगामिनम् ॥ १०१ ॥

इह राजा विजय की दुरभिलाषा कर रहा है, इसलिए जाओ, उसे इस मयानक विजिगीषा से रोको । तुम जिस बुद्धिमान व्यक्ति क्या कुमारों पर जाने वाले अपने स्वामी की उपेक्षा कर सकते हैं ? ॥ १०१ ॥

अथवाऽस्यास्ति शक्तिश्चेत् किमपि विलम्बते ।

आयातु स्वयमादातुमित काञ्चनपङ्कजम् ॥ १०२ ॥

अथवा उसमें कुछ शक्ति है तो अब देर क्यों कर रहा है, वह स्वयं यहाँ आये और स्वर्णकमल को ले जाय ॥ १०२ ॥

किमन्यज्जायतामेप खड्गधारातिथिर्मम ।

इत्युक्त्वा कोपतरलं विररामागुरेश्वरः ॥ १०३ ॥

और क्या कहूँ, वह आये और मेरी तलवार की धार का अतिथि बने, ऐसा कहकर गुस्से में भरकर वह असुरराज वज्रांकुश मौन हो गया ॥ १०३ ॥

रमाङ्गदस्य प्रतिवचनम्

धैर्यं संवृतकोपोऽथ स्मयमानो रमाङ्गदः ।

तस्मिन्मुक्तपर्दङ्कः प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥ १०४ ॥

रमाङ्गद का उत्तर

क्रोध को रोककर, धैर्य धारण कर रमाङ्गद हँसता हुआ आसन पर ही स्थिर बैठकर उसको उत्तर देने के लिए तैयार हुआ ॥ १०४ ॥

निर्वाणवीर्यवातेऽस्मिन् रसातलविलोदरे ।

अभुग्नभुजकण्डूतिरहो किमपि दृश्यसे ॥ १०५ ॥

नष्ट हो गया है पराक्रम रूपी वायु जिसका, ऐसे पाताललोक में मालूम होता है तुम्हारे हाथों की खुजली अभी बाकी रह गयी है ॥ १०५ ॥

मन्ये तवैतन्नीरन्ध्रमज्ञातस्वपरान्तरे ।

पातालचिरसंवासान्चित्ते परिणतं तमः ॥ १०६ ॥

ऐसा लगता है कि पाताललोक में अधिक समय तक रहने से संसर्ग के कारण यहाँ का अन्धकार तुम्हारे चित्त में भी प्रवेश कर गया है, जिसके कारण तुम्हें स्व-पर का ज्ञान नहीं हो रहा है ।

विमर्श—अंधेरे में भी मनुष्य को अपना-पराया कुछ नहीं सूझता ॥ १०६ ॥

यां हरस्याष्टमीमाहुर्मूर्तिमाहुतिलेहिनीम् ।

तत्सूतिः प्रागभूद्भर्ता परमार इति क्षितेः ॥ १०७ ॥

जिसे साक्षात् शिव की अष्टम मूर्ति—अर्थात् आहुति को चारने वाली आग कहते हैं, उसी अग्नि के वंश से उत्पन्न समस्त जगत् का स्वामी परमार इस नाम से एक अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हुआ ॥ १०७ ॥

कृतावतारं तद्वंशे वधाय विबुधद्विषाम् ।

किमादिदेवं कंसारि धिङ्मर्त्य इति मन्यसे ॥ १०८ ॥

उसी वंश में अवतार लेकर दैत्यों का नाश करनेवाले कंस के शत्रु आदिदेव को तू मनुष्य समझता है ? धिक्कार है तुझे !

विमर्श—अर्थात् सिन्धुराज तो साक्षात् विष्णु का अवतार है ॥ १०८ ॥

कमलेव मुकुन्दस्य पार्वतीव पिनाकिनः ।

फणिकन्योचिता पत्नी सा महीमीनलक्ष्मणः ॥ १०९ ॥

जिस माँति कमला विष्णुपत्नी है, जैसे कि पार्वती शिवपत्नी है, वैसे ही वह नागराजपुत्री भी घरती के कामदेवस्वरूप उस सिंधुराज की उचित रूप में पत्नी होने योग्य है ॥ १०६ ॥

तथा दृष्टेनात्मसान्कर्तुमसुरेन्द्र न शक्यसे ।

न रत्नसूचिमाक्रष्टुमयस्कान्तस्य योग्यता ॥ ११० ॥

हे असुरराज ! तुम जनर्दस्ती उस नागपुत्री को अपनी स्त्री नहीं बना सकते हो । क्योंकि रत्न शलाका को खींचने की शक्ति लोहा खींचने वाले चुम्बक में नहीं होती ॥ ११० ॥

पद् पथि निधस्सेऽत्र किमयायमलीमसे ।

अपथे चरता यान्ति दूराद्दूरं विभूतयः ॥ १११ ॥

तुम अन्यायपकिल इस मार्ग पर क्यों पैर रख रहे हो ? कुमार्ग पर चलने-वाले लोगों से समुद्रियाँ बहुत दूर दूर जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं ॥ १११ ॥

अनर्पण महीपाले हेमपङ्केरुहस्य यत् ।

तत्रापरिघमुत्प्रेक्षे तदेव द्वारमापदाम् ॥ ११२ ॥

तुम जो सिंधुराज को स्वर्णकमल नहीं दे रहे हो तो शास होता है कि तुम्हारे लिए अब वही आपत्तियों का द्वार हो जायगा, अर्थात् स्वर्णकमल न देकर तुम व्यर्थ आपत्ति मोल ले रहे हो ॥ ११२ ॥

राजेन्द्रदीपके तस्मिन् समराङ्गणवर्तिनि ।

एते भटास्ते न चिरादायास्यन्ति पतङ्गताम् ॥ ११३ ॥

युद्ध के मैदान में आये हुए उस राजेन्द्ररूपी दीप के सामने तुम्हारे ये योद्धा लोग शीघ्र ही पतंगों की भाँति प्राण खो बैठेंगे ॥ ११३ ॥

तथा विधेहि न यथा त्वदन्त पुरयोपिताम् ।

करपल्लवशय्यासु शेरते वदनेन्द्व ॥ ११४ ॥

ऐसा करो, जिससे तुम्हारे रनिवास की छियों के मुखचद्र उनके हाथ-रूपी शय्या पर न लेंटें । अर्थात् उन्हें वैधव्य दुःख के कारण हथेलियों पर मुख धरकर शोक न करना पड़े ॥ ११४ ॥

प्रयुक्तपतिशोकार्तिपौरस्त्रापरिदेवना ।

इयमुत्सन्नसगीता मा भूद्वत्नवती पुरी ॥ ११५ ॥

ऐसा करो, जिससे पतिशोक से मरी पुरनारियों के कृष्ण कन्दन से युक्त तुम्हारी यह रत्नवती पुरी सगीतादि विनोद से शून्य न हो जाय ॥ ११५ ॥

देवस्थापितहमाब्जस्तदेहि पत पादयो ।

शिर पुनस्तु ते कर्म पुण्यास्तत्पादपासव ॥ ११६ ॥

तो आओ और सिन्धुराज को स्वयं स्वर्ण-कमल देकर उसके चरणों पर गिरो, जिससे उसके चरणों की धूल तुम्हारे सिर को पवित्र कर सके । ११६ ॥

अथवा नुभट्टः सार्वभूतिप्र पुरतो भव ।

समं विद्याधरानीकरयमायाति भूपतिः ॥ ११७ ॥

अथवा तुम्हें ऐसा नहीं करना है तो अपने बीरों के साथ उठ खड़े हो जाओ और युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । यह सिन्धुराज तो विद्याधरी सेना के साथ युद्ध के लिए आ ही रहा है ॥ ११७ ॥

किमन्यन् सममेतेन शिरस्तामरमेन ते ।

हेमकोकनदं देवः स्वयमेव ग्रीहीष्यति ॥ ११८ ॥

और क्या कहूँ, तुम्हारे सिर लपी कमल के साथ ही स्वामी सिन्धुराज स्वयं ही स्वर्ण-कमल को भी ग्रहण करेंगे ॥ ११८ ॥

रमाङ्गदागमनम्

तमित्युक्त्वा सभामध्याग्निर्जगाम रमाङ्गदः ।

निकटं च रणोत्कस्य जगाम जगतीपतेः ॥ ११९ ॥

रमाङ्गद का वापस जाना

वज्राङ्कुश से ऐसा कहकर सभा के मध्य से वह रमाङ्गद निकल गया, और रण मन्त्राने के लिए उत्तुक जगत के स्वामी नवसाहसाङ्क के पास पहुँचा ॥ ११९ ॥

अथ वदति शनैः समेत्य तस्मिन् अमररिपोर्वचनानि तानि तानि ।

असुरपतिविनाशकालरात्रि भृकुटीमुवाह मुखेन मालवेन्द्रः ॥ १२० ॥

तब राजा के पास आकर अमुरराज वज्राङ्कुश के उन-उन वचनों को कहते ही असुरपति के विनाश के लिए मालवेन्द्र ने मानो छालरात्रि रूपी मौहों को चढ़ाया ॥ १२० ॥

गत्वा विद्याधरभटचमूचक्रवालैः समं स

क्षमापालोऽथ व्यधित् परितस्तत्पुरो रत्नवत्याः ।

येन व्यक्तामरजयमहासाहसस्यासुराणां

नाथस्यासीन्नवपरिभवश्यामला वक्त्रलक्ष्मीः ॥ १२१ ॥

इति श्री मृगाङ्कदत्तसूतोः परिमलापरनाम्नः पद्मगुप्तस्य कृतौ

नवसाहसाङ्कचरिते महाकाव्ये कनकारविन्द-

प्रार्थनो नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

तब विद्याधर-बीरो की सेना की पक्षियों के साथ वहाँ जाकर पृथ्वीपति नवसाहसाङ्ग ने सारी रत्नवती को घेर लिया । जिससे देवताओं पर स्पष्ट रूप से विजय करनेवाले साहसी दानवों के स्वामी उस वज्राकुश के मुख की शोभा कालिमा से युक्त हो गई । उसका मुख मय के कारण बाला हो गया ॥ १२१ ॥

मृगाङ्गदत्तपुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसाङ्ग-
 चरित में स्वर्ण कमल की प्रार्थना नामक खोल-
 हवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशः सर्गः

सत्रहवाँ सर्ग

युद्धवर्णनम्

अथाहिविद्याधरराजसैन्यैर्निषीडितायां पुरि रत्नवत्याम् ।

भटाः सकोपं भुजदपैर्भाजो निर्जग्मुराकृष्टकृपाणपट्टाः ॥ १ ॥

युद्ध का वर्णन

इसके पश्चात् नाग एवं विद्याधरराज की सेनाओं से पीडित रत्नवती पुरी में, अपनी भुजाओं पर गर्व करनेवाले, तलवारों को बाहर खींचे हुए योधा लोग गुस्से में भरकर मकानों से बाहर निकल आये ॥ १ ॥

अन्योन्यसंघट्टवशेन तेषाम् उदञ्चिताः काञ्चनकट्टेभ्यः ।

युगान्तकालानलबीजशङ्कां न कस्य चक्रः शिखिनः स्फुलिङ्गाः ॥ २ ॥

उन योद्धाओं के स्वर्ण के अत्त जब आपस में एक-दूसरे के साथ परस्पर टक्कर खाते थे, तब उनमें से भयानक अग्नि-कण निकलते थे । उन्हें देखकर किसे प्रलयकालीन अग्नि के बीज की शंका न होती ॥ २ ॥

भालेषु भीमा भृकुटीर्वहन्तो भृङ्गत्विपश्चासिलताः करेषु ।

खुराग्रस्त्रणावनिभिः सरोपं निरीयुरन्ये चतुरैस्तुरङ्गैः ॥ ३ ॥

माथे पर टेढ़ी भौंहे चढ़ाये हुए, हाथों पर काली चमचमाती तलवारों को लिए, खुरों से धरती को खोदनेवाले चतुर घोड़ों को लेकर कोई-कोई अति क्रोध में निकले ॥ ३ ॥

न्यभादनीकं करिणां च सान्द्रसिन्दूरपूरारुणगण्डभित्ति ।

प्रत्यग्रदावानललीढकोटिकुलाचलेन्द्रप्रचयोपमेयम् ॥ ४ ॥

तुरन्त के लगाये गये घने सिन्दूर से भरे लाल गण्डस्थलों वाले हाथियों की सेना ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो जंगल की आग द्वारा अभी-अभी जलाये गये श्रेष्ठ पर्वतों का समूह एकत्र हो गया हो ॥ ४ ॥

पुरो रणोत्सेकभृतां निरुद्धम् ओघेन विद्याधरवाहिनीनाम् ।

तन् प्लिज्जितं सैन्यममर्त्यशत्रोर्वभूव मूले मणितोरणस्य ॥ ५ ॥

सामने रण के लिये उतावले बने विद्याधर-सेना के समूह ने उस सैन्य को आगे से रोका, तब राक्षस की वह सारी सेना मणितोरण (मुख्यदार) के पास आकर एकत्र हो गई ॥ ५ ॥

सारोपमारोपितचापयष्टिर्निऋतूणीरयुगो गजस्य ।

मनिजगामाथ महासुरेन्द्रो वेगादहङ्कार इवात्तदेह ॥ ६ ॥

गर्व में भरकर, अपने घनुष पर डोर चटाकर, दोनों कंधों पर तरकस सँमालकर, हाथी पर बैठकर, वह असुरेन्द्र वज्राकुरा साक्षात् अहंकार की मूर्ति बनकर युद्ध के लिए तेजी से निकल पड़ा ॥ ६ ॥

युगात्ययाम्भोघरनाग्धीरन्तस्योद्गत मद्गरतूर्यघोष ।

रुद्धप्रतिश्रन्ति नितान्तमोमश्चकार पातालत्रिलोदराणि ॥ ७ ॥

प्रलयकालीन मेघ की भांति गम्भीर ध्वनि वाला उसकी युद्ध वाज्रा का नगाडा जोर से बज उठा । उसका नाद बड़ा भयानक था, उसकी ध्वनि से सार पाताललोक का आसमत्त गूँब गया और प्रतिध्वनित हुआ ॥ ७ ॥

सत्पुष्करानञ्जनपुञ्जभास पथो जयम्याय गजानसीश्च ।

व्यापारयन्ति स्म रयेण वीरास्त्वप्रेरिता वैरियरूढिनीषु ॥ ८ ॥

मुडौल सुन्दर हृष्टहासभाग वाले तथा कज्जल की भांति कृष्ण वर्ण के गजों और तलवारों से युद्धस्थल पर उसके भेजे हुए वीर शत्रुसेना (सिंघुराज की सेना) पर आक्रमण करने लगे ॥ ८ ॥

परस्परपातिकापाणनिर्यैत्स्वालावलीपन्लवितान्तरित ।

अभूत् प्रवृत्त समरो महादिविद्याधरेन्द्रामुपुङ्गवानाम् ॥ ९ ॥

एक दूसरे के ऊपर गिरती हुई तलवारों से निकलती हुई अग्निज्वाला से अन्तरिक्ष को आच्छादित कृता हुआ भेद्य नाग विद्याधरराज की सेना से महाशलशाली राजसुराज की सेना का घोर युद्ध होने लगा ॥ ९ ॥

वीरेषु धावत्सु चरत्स्वमन्द गजेषु बल्लगत्सु तुरङ्गमेषु ।

अकालकल्पात्ययशङ्कितानि श्वक्म्पिरे सप्तरसावलानि ॥ १० ॥

जब वीर दौड़ने लगे, हाथी बड़ी तेजी से आक्रमण के लिये दूधर उभर चलने लगे, जब घोड़े मचल मचल कर हिनहिनाने लगे, तब अकाल में ही प्रलय की आशंका करने वाला सातों रसावल काँप उठे ॥ १० ॥

प्रकाशयन्त करणप्रपञ्च मुराङ्गनाभि स्पृहयेद्यमाणा ।

अत्यद्भुतम् नृत्तमिवारमत्त मटा रणप्राङ्गणरङ्गमध्ये ॥ ११ ॥

अपने अस्त्र-शस्त्रों के समूह को चमकमाने वाले, देवस्त्रियों के द्वारा बड़े चाव से देखे जाते हुए वीर रणप्राङ्गण की रङ्गभूमि पर एक अद्भुत प्रकार का नृत्य जैसा दिखाने लगे ॥ ११ ॥

उत्प्लुत्य वेगात् पवमानमार्गं विद्याधरैर्दानजलाविलानि ।

पटु व्यपाटयन्त मतङ्गजाना तीक्ष्णासिपत्रकचै शिरासि ॥ १२ ॥

विद्याधर-वीरों ने तेजी से आकाश-मार्ग में उछलकर मदभरे हाथियों के गण्डस्थलों को अपनी तलवार की तेज आरों से भली प्रकार काटना शुरू किया ॥ १२ ॥

निपत्य कुम्भेषु महागजानां नीरन्ध्रमुक्तेषु पट्ट कणन्तः ।

भान्ति स्म विद्याधरपुङ्गवानाम् मुक्तादृहासा इव खट्गपट्टाः ॥ १३ ॥

घने मुक्ताश्रों वाले महागजों के माथों पर चोट दे कर जोर से वजते हुए विद्याधरों के खट्ग ऐसे चमचमा रहे थे, मानो हँस रहे हों ॥ १३ ॥

आवर्ततामूर्मिलतायमाननिस्त्रिशवल्लीवलयकुलासु ।

प्रपेदिरे पूर्वसुरोज्झितानि चक्राणि विद्याधरवाहिनीषु ॥ १४ ॥

लहरों की तरह बल खाती हुई तलवारों रुपी लताओं के वलय से घिरी हुई विद्याधर-सेनाओं पर पहले दानवों के छोड़े हुए चक्र पड़ रहे थे ॥ १४ ॥

फणावलीष्वापतितोरगाणाम् अफल्गुरत्नोपलकर्कशासु ।

कृपाणधारा मसृणीवभूव महासुराणां न तु सङ्गरेच्छा ॥ १५ ॥

सर्पराजों की सच्चे रत्नों से षठोर बनी हुई मणिपर्णियों पर पड़नेवाली उन दानवों की तलवारों की धार कुण्ठित हो गई, पर उनकी युद्ध करने की इच्छा कुण्ठित नहीं हुई ।

विमर्श—नागों की फणाओं पर अपनी तलवारों की धार को निष्फल होते देखकर वे वीर उदास और हतोत्साह नहीं हुए, अपितु उनकी युद्ध करने की इच्छा और भी प्रबल होती गयी ॥ १५ ॥

आध्मान्ति पातालतले प्रसस्रुः क्षितौ विलद्वारविनिर्गतानि ।

ज्याशब्ददृष्टासुरसिंहनादतुरङ्गहेपागजवृंहितानि ॥ १६ ॥

धनुष की टंकार, बीच-बीच में जीतने के कारण प्रसन्न हुए दैत्यों की सिंह-गर्जना, घोड़ों के हिनहिनाने और हाथियों की चिंग्वाड़—ये सब प्रथम पाताल में ध्वनित हुए और बाद में विलद्वार से निकलकर धरती पर फैलने लगे ॥ १६ ॥

प्रधावदश्वीयखुराहतानाम् अभ्युद्गतो रत्नभुवां परागः ।

गीर्वाणचपच्छवित्ताञ्छितानि कृत्स्नानि चक्रे ककुभां मुखानि ॥ १७ ॥

दौड़ते हुए घोड़ों के खुरों से खुदकर उठी हुई रत्नमयी भूमि की रंग-विरंगी धूल ने समस्त दिशामुखों को इन्द्रधनुष की छवि से सुशोभित कर दिया ॥ १७ ॥

भटास्त्रपूर्णैः परितो गजानां स्वदानपट्टोपचितैः पदाङ्कैः ।

भयङ्कराऽभूत्तरुणार्कविम्बसहस्रकीर्णैव रणाङ्गणोर्वी ॥ १८ ॥

वीरों के अस्त्रों से पूर्ण, चारों ओर हाथियों के अपने ही मद के कीचड़

वाले पदचिन्हों से रणभूमि रक्तवर्ण के सहस्र सूर्यचिह्नों से मानो व्याप्त होकर भयकर हो गई थी ।

विमर्श—रक्तरञ्जित हाथियों के पैरों के चिह्न सूर्यचिह्न की तरह लग रहे थे ॥ १८ ॥

छना समूल सुमटासिपत्रैः सहस्रशः शोणितशोकराद्रा ।

वृत्तालवैषस्वततालवृन्तविच्छित्तिमूहः करिकर्णवाला ॥ १९ ॥

सोदाओं की तलवारों द्वारा जड़मूल से ही काटे गये अतएव रक्त कणों से व्याप्त हाथियों के हथारों कर्णरूपी तालपत्र वैवस्वत के अति ऊँचे व्यजन (चँवर) की घोमा को धारण करने लगे ॥ १९ ॥

अन्योन्यवृत्ताम्बरमा भटानां नगावपाताम्रनखत्विपोऽग्रे ।

भुजा निपेतु सममीक्षणेन समोल्लिखत्ना इव पन्नगेन्द्रा ॥ २० ॥

मोथ में एक दूसरे के द्वारा काटे हुए, नवीन बालरवि की लालिमा की भाँति लाल मलकान्ति वाले हाथ धरती पर गिर पड़े और पंजाओं पर रत्न धारण करने वाले नागराज भी देखते ही देखते शिर रहित होकर धरती पर कट-कट कर गिरने लगे ॥ २० ॥

अक्लादसिप्रासपृपन्कभिन्नादसृक्प्रवाहेषु भुशः बहसु ।

लीलागलदगैरिकनिर्झराणां राजैर्जगादे कुलपर्ववानाम् ॥ २१ ॥

तलवार, भाले और त्राण हाथियों के शरीरों में घुसकर उन्हें क्षतविक्षत कर रहे थे, जिससे अत्यधिक लून बह रहा था । उस समय वे हारभी देखे लग रहे थे, मानो गेरु के भरने जिनपर बह रहे हों, ऐसे ऊँचे-ऊँचे विशाल पहाड़ हों ॥ २१ ॥

दमाया वभु सङ्गपृथक्कृतानि सहस्रशः शस्त्रभृता शिरासि ।

कालेन समामसरोन्तरालाद् उत्पण्डितानीयः सरोरुहाणि ॥ २२ ॥

तलवारी से कटकर धरती पर गिरे हुए सहस्रो शस्त्रधारियों के शिर ऐसे लग रहे थे, मानो शङ्खमुख के द्वारा खण्ड खण्ड किये गये कमल समाम रूपी तालाव से बाहर पंके जा रहे हों ॥ २२ ॥

कनधकण्ठोच्छलदस्त्रवन्तः समीपमेत्योपरि बङ्कयूयम् ।

मुहूर्तमिद्वारुणरत्नदण्डम् अदृश्यत च्छत्रमिगन्तवस्य ॥ २३ ॥

शिरविहीन शरीर के गले से निकलते हुए रक्त से खने श्रीर समीप में आकर एक के ऊपर पनी एक एक लाशों के ढेर पर बैठे गोघृणोद्गी देर के लिए ऐसे दिग्गई दिये, मानो लाल रत्ननिर्मित दण्ड से युक्त यमराज के बंद छत्र हों ॥ २३ ॥

मुक्तैः समूहेन नमश्चराणां कुम्भेषु चक्रे करिणा पतङ्गि ।

अस्ताचलव्यायतवप्रपातिपतङ्गविम्बानुकृतिर्वितने ॥ २४ ॥

विद्याधर-समूह द्वारा छोड़े गये चक्र जब हाथियों के गण्डस्थलों पर आकर गिरने लगे, तब ऐसा लग रहा था, मानो अस्ताचल के विशाल शिखर पर गिरने वाले बहुत से सूर्यमण्डल हों ॥ २४ ॥

पतद्भटं निर्दलिताश्ववारं निकृत्तमत्तेभकरं क्षणेन ।

व्यधायि विद्याधरसैनिकैस्तन् सनागवीरैरसुरेन्द्रसैन्यम् ॥ २५ ॥

विद्याधर-सैनिकों ने नागवीरों के साथ मिलकर राजसों की उस सेना के वीरों को मार डाला, घुड़सवारों को नष्ट कर दिया और क्षण भर में मन्दोन्मत्त हाथियों की सूँड़ों को काट कर गिरा दिया ॥ २५ ॥

हंसैरिव स्मेरतटाः समन्तात् परिच्युतैः कुञ्जरकर्णशंखैः ।

बोहुं प्रवृत्ता भवदुत्तरङ्गा झटित्यगाधा रुधिरस्तवन्ती ॥ २६ ॥

हाथियों के गिरे हुए सफेद कर्णशंखों से जिसमें हंसों के कारण शोभित तट की शोभा आ गयी थी, ऐसी तथा उत्तुङ्ग लहरों वाली वह रक्त की नदी उन सवधों अपने में समाने के लिए तैयार हो गई ॥ २६ ॥

विद्याधरव्यालभटावलुप्रधैर्येषु नश्यत्सु महासुरेषु ।

विश्वाङ्कुशो नाम सुरारिसूनुरथो रथेनाजिमहीं विवेश ॥ २७ ॥

विद्याधर और नागसेना के वीरों ने जब बड़े-बड़े दैत्यों को मार-मारकर उनका सारा धैर्य ही नष्ट कर दिया, तब राजमेन्द्र ब्रज्राङ्कुश का विश्वाङ्कुश नामक पुत्र रथ पर चढ़कर रणभूमि में आया ॥ २७ ॥

आकर्णकृष्ठात् धनुषः पतद्भिर्वालेन्दुलेखाकृतिभिः पृषत्कैः ।

अरातिसैन्ये रणधीरवीरान् भीरुनिवैको विमुखीचकार ॥ २८ ॥

कान तक खींचे गये धनुष से बालचन्द्र की आकृति वाले बाणों के छूटने पर शत्रुसेना में उस अकेले ने ही सब रणधीरों को भीरु बना दिया ।

विमर्श—अर्थात् उसके बाणों की चोट खाकर विद्याधर तथा नागों का धैर्य विगलित होने लगा ॥ २८ ॥

तद्दीर्यनिर्वासितसौष्ठवानां विद्याधराणामपतन् करेभ्यः ।

धाराप्रलग्नद्विपकुम्भमुक्ताः सवाष्पलेशा इव खड्गलेखाः ॥ २९ ॥

उसके पराक्रम से पराजित वीरता वाले विद्याधरों के हाथों से धार पर लगे गजमुक्ताओंवाली तलवारें जब धरती पर गिरों, तो ऐसा दिखाई दिया, मानो वे बड़े-बड़े मोती उनके पराजित होने के आंसू हों ॥ २९ ॥

क्षणाद्वलन्ति स्म तटाहतानि त्रलानि विद्याधरपन्नगानाम् ।

सरित्पयांसीव निशाकरांशुपूरप्रवृद्धार्णवपीडितानि ॥ ३० ॥

विद्याधर और नागों की सेनायें उसकी मार खाकर पीडित होकर इस

प्रकार भाग खड़ी हो रही थीं, जैसे चन्द्र किरणों के सम्पर्क से बड़े हुए समुद्र के जल से पीड़ित नदियों का जल ॥ ३० ॥

न शेक्तुस्तस्य गतिं निरोद्धु विद्याधरेद्रोरगराजपुत्रौ ।

रत्नाकरस्येव महेन्द्रसहायसहायेन प्रलयोत्थितस्य ॥ ३१ ॥

विद्याधरपुत्र शशिखण्ड और नागपुत्र रत्नचूड भी उसकी गति को रोकने में उसी भाँति असमर्थ रहे, जैसे प्रलयकालीन समुद्र के बड़े हुए वेग को रोकने में इन्द्र और सहाय ॥ ३१ ॥

दोर्दण्डकण्डूतिमथास्य हर्तुम् तद्भूलतं भूपतिना नियुक्त ।

जनाज्जगामाजिपथं रथेन रमाङ्गदं कुण्टलितोऽप्रचाप ॥ ३२ ॥

तब उस असुर के भुजाओं की खुजली को मिटाने के लिये राजा के द्वारा नियुक्त रमाङ्गद अपना धनुष तान कर शीघ्रता के साथ रणभूमि के मार्ग पर रथ से चल पड़ा ॥ ३२ ॥

तथोपलेभे समरोन्मुखस्य नादेन वृद्धि शरजन्मनास्य ।

चक्रे पद बाध्यकणोत्क्रेण यथा कपोलेष्वसुराङ्गनानाम् ॥ ३३ ॥

इधर मुद्रस्थल पर जानेवाले रमाङ्गद के बाणों का आवाज बड़ी और उधर राजाओं की जियों के कपोलों पर आसुओं की वृद्धि होने लगी ।

विमर्श—अर्थात् उसने आते ही दैत्यों को मारना प्रारम्भ कर दिया, अतः दैत्यस्त्रियाँ वैधव्य हुआ से रोने लगी ॥ ३३ ॥

दूरात् सुपूर्वारिमुतं रथेन स रहसा सम्मुखमापवन्तम् ।

रुरोथ त धाणपरम्पराभियशोभट कर्णमिवेन्द्रसूनु ॥ ३४ ॥

दूरी में शीघ्रता से रथ पर बैठे अपनी ओर आते हुए देवताओं के शत्रु यज्ञाकुघ के उस पुत्र को बाणों की वर्षा कर रमाङ्गद ने उसी भाँति रोका जैसे कर्ण को अबुन ने ॥ ३४ ॥

निश्वाङ्कुश सत्कवचे मुमोच वक्षस्थले हैममथास्य बाणम् ।

तटेऽञ्जनश्यामवनौ महाद्रे शातर्हदं ज्योतिरिवाम्बुवाह ॥ ३५ ॥

तब निश्वाङ्कुश ने उस रमाङ्गद के, कवच सहित वक्षस्थल पर सोने का बाण मारा । उस समय ऐसा दिखाई पड़ रहा था, मानो पर्वत के काले अञ्जन के समान कृष्ण वर्ण के तट पर बादल के बीच बिजली का प्रकाश पड़ रहा हो ॥ ३५ ॥

अलक्ष्यसन्धानविमोक्षपातान् यशोभटस्यात्तरूपोऽपि रोषान् ।

मूर्च्छालुठन्सारथिराहवाचो रथ शशासामुनन्दनस्य ॥ ३६ ॥

अत्यंत शीघ्रता के कारण बिना छटना तक नहीं दिखाई दे रहा था,

यशोभट के ऐसे बाणों की, मूर्च्छा से लोटते हुए सारथी वाले, और मरे हुए घोड़ोंवाले उस राक्षसपुत्र के रथ ने ही प्रशंसा की ।

विमर्श—अर्थात् उसके बाणों से सारथी मूर्छित हो गया था, और घोड़े भी मार डाले जा चुके थे, अतः केवल रथ ही उसकी वीरता का साक्षी था ॥ ३६ ॥

विलासकाञ्चीमथकालरात्रेरुद्यत्क्रोधः पद्मातिमन्तकस्य ।

मौर्वीं पृपत्केण रमाङ्गदस्य चिच्छेद गीर्वाणरिपोस्तनूजः ॥ ३७ ॥

फिर कालरात्रि (प्रलयरात्रि) की विलासमेखला बनी हुई, क्रोध से युक्त बढ़नेवाले काल की मानो पगडंडी ऐसी उस धनुष की डोरी को देवताओं के शत्रु के पुत्र (विश्वाङ्कुश) ने अपने बाण से काट डाला ॥ ३७ ॥

सन्नाभिविम्बेन महाजिलदम्याः वीरश्रियो विभ्रमनूपुरेण ।

संरन्धराहोरिव चक्रपाणिः सोऽप्यस्य चक्रेण शिरश्चकर्त ॥ ३८ ॥

महासमर रूपी लक्ष्मी की नाभि के समान और वीरलक्ष्मी के विलास के पैजनों की भाँति अपने चक्र से रमाङ्गद ने उसका सिर उसी प्रकार काट डाला, जैसे राहू का सिर भगवान् विष्णु ने अपने चक्र से काटा था ॥ ३८ ॥

ननर्त विद्याधरसुन्दरीणां गणो नदन्नूपुरमम्बरेऽथ ।

मौलौ शिरःक्षुण्णशिरस्त्ररत्ने चिक्षेप चास्यामरपुष्पवृष्टिम् ॥ ३९ ॥

विद्याधरसुन्दरियों का समूह नूपुरों की झनका-भ्रनकाकर आकाश में नाचने लगा । और बाण से टूटे हुए मस्तक पर के कदच के रत्नवाले रमाङ्गद के सिर पर देवताओं ने पुष्पवृष्टि की ॥ ३९ ॥

दृष्टे शिरस्युत्फलिते स्वसूनोदिह्मूललीनासु पताकिनीषु ।

वज्राङ्कुशः सम्मुखमापपात पत्युर्विशामस्तगिरेरिवार्कः ॥ ४० ॥

अपने पुत्र के शिर को कटा हुआ देखकर और अपनी समस्त सेनाओं के भागकर दिशाओं में छिप जाने पर वह वज्राङ्कुश दैत्य सिन्धुराज के सामने रण-भूमि में उसी प्रकार आया, जैसे अस्ताचल के सामने सूर्य आता है ॥ ४० ॥

मदाम्बुवर्षी समरेऽभिधावन् रेजे गजस्तस्य सहेमकक्षः ।

भिन्नेऽन्तराले पवमाननुन्नस्तमालनीलस्तदितेव मेघः ॥ ४१ ॥

मद वर्षानेवाला, स्वर्ण की अम्बारी से सजा, युद्धभूमि में दौड़ता हुआ उसका हाथी बड़ा सुन्दर लग रहा था । मानो नीलमेघ विद्युत से युक्त होकर हवा के झोंकों से इधर-उधर चल रहा हो ॥ ४१ ॥

पत्युः प्रसादग्मितरज्जुकृष्टा भटा विवृत्यास्य पुरो वभूवुः ।

स्वजीवितान्याजिमुखे विहातुम् अत्युत्सुका भङ्गमलीमसानि ॥ ४२ ॥

अपने स्वामी की कृपापूर्वक हँसी रूपी डोर में बँधे हुए उसकी सेना के

धीर उसके सामने एकत्र होकर पराजय के कारण मलिन बने अपने जीवन को
रथमूमि में त्यागने के लिए उत्सुक हो गये ॥ ४२ ॥

आरुह्य चन्द्र रश्मिवाभिराम नक्षत्रमालामरणं गजेन्द्रम् ।

देवोऽपि तद्वैरितमो नियन्तुम् अथ प्रतस्ये नवसाहसाङ्क ॥ ४३ ॥

तारों से भरे नीलाकाश में जिस प्रकार चन्द्रमा तमनाश के लिए उदित
होता है, उसी प्रकार देव नवसाहसाङ्क भी भलकारों से सुशोभित हाथी पर
चढ़कर उस वैरि रूपी अन्धकार को रोकने के लिए आगे बढ़े ॥ ४३ ॥

एवञ्च पार्श्वे शशिरस्यष्टनामा विद्याधरेन्द्रो नृपतेर्वभूव ।

अरातिसेनानलिनोवनेकशीताशुरन्यत्र यशोभटश्च ॥ ४४ ॥

राजा के एक ओर विद्याधरराज शशिरस्यष्ट आठ और दूसरी ओर
शत्रुसेनारूपी कमलिनी के वन को शास देनेवाले चन्द्रमा की भाँति रमाज्जद
सजा हो गया ॥ ४४ ॥

स्फुटत्फणच्छत्रमणिप्रतानवेजश्छटाजर्जरितान्धकार ।

अफल्गुवीर्यं फणभृत्कुमारोऽप्यमेऽभवत् तस्य स रत्नचूड ॥ ४५ ॥

दैवीप्यमान पणा में स्थित मणिप्रमा के विस्तार से अन्धकार-समुद्र का
नाश करनेवाला, स्फुट पराक्रम वाला, नागराजपुत्र रत्नचूड भी राजा के
आगे हो गया ॥ ४५ ॥

विधूतनिस्त्रिशतरङ्गितानि सयाणचक्रीकृतचामुक्कानि ।

हतावशेषाणि पुरोऽन्य चेत्तुर्धस्तानि विद्याधरपञ्चगानाम् ॥ ४६ ॥

लपलपाती तनवारों की चमचमाती लहर वाली, विद्याधरों की और नागों
की श्रवशिष्ट सेना भी उसके आगे चली ॥ ४६ ॥

रक्तासज्जीप्तसहस्रतालपेतालतालोच्छलिवाट्टास ।

महामदानामसुनिर्व्यपेक्षम् अन्योऽयमावर्तत सम्पराय ॥ ४७ ॥

रक्त की मदिरा पान करके मद्यप्रेम जैसे चेताल जहाँ हाथ की तालियाँ बजा-
बजाकर भट्टहास कर रहे थे, उस स्थान पर प्राणों की विन्ता छोड़कर आपस
में दोनों ओर के वीरों का युद्ध होने लगा ॥ ४७ ॥

चकाशिरे शस्त्रभृता शिरसु मिथ पतन्त्य करवालव्रत्तय ।

मुक्ता सलील त्रिदशाङ्गनाभिर्माला श्वेन्दीवरपत्रमप्य ॥ ४८ ॥

अस्त्रधारी उन वीरों के शिरों पर चोट करती हुई एक-दूसरे की तलवारें
चमकने लगीं । मानो देवछियों द्वारा उन पर डाली गई कमलपत्रों की
मालायें हो ॥ ४८ ॥

केपास्त्रिदूहं क्वचानि शोभां क्वचित् क्वचिहोहितपाटलानि ।

खेलजन्यश्रीचरणारविन्दलात्तारसेनेव नवाङ्कितानि ॥ ४९ ॥

किन्हीं-किन्हीं के कहीं-कहीं पर लाल और मटमैले रंग के कवचो ने ऐसी शोभा धारण की, मानो रणभूमि में खेलनेवाली विजयलक्ष्मी के चरण-कमलों पर लगे हुए अलते ने वे चिह्नित कर दिये गये हों ॥ ४६ ॥

हृदि प्रविष्टैरविशुद्धिमद्भिरभूद्व्यथा कापि शरैः परेषाम् ।
दुरात्मनां साधुगुणैरिवाग्रे फलेन संयोगमुपेयिवद्भिः ॥ ५० ॥

हृदय में घुसे हुए, अपवित्र, और अग्रभाग से वेधने वाले शत्रुओं के वाणों से इस प्रकार की पीड़ा उन्हें होने लगी, जैसे हृदय पर चुमे फन से युक्त होनेवाले सज्जनों के वचनों से दुरात्माओं को पीड़ा होती है ॥ ५० ॥

परस्पराघातजुषामसीनां धाराच्युतः संयति चूर्णरेणुः ।

अवाप तापिच्छरुचिर्जयश्रीविलासकालाञ्जनधूलिलीलाम् ॥ ५१ ॥

परस्पर चोट करते समय आपस में गुँथी हुई तलवारों के परस्पर घर्षण से, उनकी धारों से गिरी धूल ने विजयलक्ष्मी के लिये विलासकालीन कृष्णाञ्जन का काम किया ॥ ५१ ॥

पर्यायजातोभयसैन्यभङ्गकरालकोलाहलकातराणाम् ।

सुरारिविद्याधरसुन्दरीणां दोलेव शोकप्रमदावभूताम् ॥ ५२ ॥

एक बार राक्षसवीरों की विजय होती थी, एक बार सिन्धुराज के वीरों की इस तरह वारी-वारी से दोनों सेनाओं की पराजय के कारण भयानक कोलाहल से डरी हुई राक्षसों की स्त्रियाँ और विद्याधरों की सुन्दरियाँ—दोनों के लिए शोक और हर्ष भूले का काम करने लगे !

त्रिमर्श—अर्थात् एक पक्ष को एक बार हर्ष होता था, उस समय दूसरे पक्ष वाली स्त्रियों को खेद, फिर दूसरी बार जब प्रथम पक्ष को शोक होता तो दूसरे पक्ष को हर्ष ॥ ५२ ॥

अथासुरेन्द्रद्विरदेन वेगाद्

अभ्युत्थितेनोद्गतदानधारम् ।

मध्येरणं मध्यमलोकभर्तु-

जवात्सुदान्धो जघटे गजेन्द्रः ॥ ५३ ॥

तब राक्षसेन्द्र वज्राङ्कुश के आगे बढ़े हुए हाथी ने शीघ्रता से मद बहाते हुए सिन्धुराज के मदोन्मत्त हाथी पर वेग से प्रहार किया ॥ ५३ ॥

महेभयोस्तत्र शिखाच्छलेन प्रतिप्रहारं रदजः कृशानुः ।

क्रोशेषु विद्युत्कपिशा मुहूर्तं व्यधादिवाष्टापदपत्रवल्लीः ॥ ५४ ॥

दोनों हाथियों के दांतों पर जब-जब परस्पर का प्रहार होता था, उस समय ज्वालाओं के रूप में दांतों से निकली अग्नि ऐसी दिखाई देती,

मानो तलवार के श्मानों के ऊपर बिजली के समान पीत वणवाले स्वर्णपत्र जड़ दिये गये हों ॥ ५४ ॥

मुहु प्रजानामधिपेन गाढम् आश्रयमाणस्य शरासनस्य ।

द्विपदधारम्भाविधौ गभीरः श्रेष्ठारहुङ्कार इवोच्चधार ॥ ५५ ॥

तब प्रजा के स्वामी सिंधुराज के चोर से खींचे हुए, शत्रुनाश के विधान में चतुर धनुष की आवाज ऐसी ही ऐसी, जैसी मारु की भकार हो ॥

विमर्श—शत्रुओं के नाशकार्य में वह सिंधुराज जब जब पुन पुन बाण चढाने के लिए धनुष को चढाता था, तब-तब अत्यंत गभीर आक्रोश तथा हुंकार का शब्द होता था ॥ ५५ ॥

परिस्फुरतकुण्डलपृष्ठपुट्टास्तेन प्रयुक्ता पृथुबिभ्रमेण ।

प्रमृष्टकांताकुचपत्रलेखे लेखारिषक्षस्यपठन् पृथक्का ॥ ५६ ॥

काम तक धनुष खींचते समय अपने अप्रमाण से चमचमानेवाले कुण्डलों के साथ रंगड़ खाने वाले, महावीर उस राजा के छोड़े हुए बाण, गाढालिङ्गन से कान्ता के कुचों की पत्ररचना को मराने वाले अतएव उस पत्रलेख के शत्रुभूत शत्रु के दक्षस्थल पर पड़ने लगे ॥ ५६ ॥

अपस्मिन्पुच्छेषु ततस्तनुग्रात् वह्निस्फुलिङ्गेषु समुत्पलसत्सु ।

मूर्तिर्वभासे वसुधाधिपस्य निर्यतप्रतापान्निक्खच्छदेव ॥ ५७ ॥

शत्रु द्वारा छोड़े गये बाणों के प्रहार से कवच में से निकलते हुए देवीव्यमान अग्निक्वणों से राजा का शरीर ऐसा ज्वाला रहा था, मानो उससे प्रताप के अग्निक्वण निकल रहे हों ॥ ५७ ॥

हिरण्मयी पार्थिवधाणपत्तिरदुश्रते मूर्ध्नि महामुरस्य ।

रेजेतरामञ्जनपर्वतस्य क्षमेव सिमामुमयूरवमाला ॥ ५८ ॥

सिंधुराज के मुनहले बाणों की पत्ति उस राजस के ऊँचे सिर पर पड़ कर अत्यंत शीमित हुई, मानो काले शङ्खन के पहान की खोटी पर मुशोमित सूर्यकिरणों की माला हो ॥ ५८ ॥

अभ्युद्गता भर्तुररात्रिगणक्षुण्णे द्रनीलाङ्गदरेणुराजि ।

अदृश्यवोदाममुजास्पदस्य पराक्रमानेरिव धूमरेखा ॥ ५९ ॥

शत्रु (वज्राकुश) के बाणों से तोड़े गये राजा के नीलि बाजूबंदों से जो धूल निकली, वह ऐसी लग रही थी, मानो उदयद गुजाओं में रहने वाली पराक्रम की अग्नि से धूमरेखा निकल रही है ॥ ५९ ॥

रमाङ्गदोप्युद्भुवुटि कृतास्त्रधीरद्विप पार्श्वगत निहत्य ।

शरीरलाधीज्यवैजयन्ती ज्योत्स्नासिता कीर्त्तिमियामुरस्य ॥ ६० ॥

रमाङ्गद ने भी भौहें तानकर शत्रु के समीपवर्ती अस्त्रधारी वीर को मारकर अपने बाणों से वज्राङ्कुश के रथ की चाँदनी की भाँति श्वेत ध्वजा को उसकी धवल कीर्ति की भाँति काटकर फेंक दिया ।

विमर्श—अर्थात् उसने उस रथपताका को काटकर क्या गिराया, मानो दैत्यराज की श्वेत कीर्ति को ही काट डाला ॥ ६० ॥

अधःस्थितोद्दामरवैरिपत्तिमुक्तेपुनित् नशरासनज्यः ।

चिक्षेप चक्रायतिदीर्घबाहुः स कालरात्रेरिव कङ्कणानि ॥ ६१ ॥

नीचे स्थित वैरी के सैनिकों द्वारा ऊपर छोड़े गये बाणों से जब उसके धनुष की डोरी फट गयी, तब उस दीर्घ बाहु वाले ने कालरात्री (चण्डी) के कंगन की भाँति चक्रों को फेंका ॥ ६१ ॥

उत्प्लुत्य हेलोहतसमुखारिबिद्याधरेन्द्रोऽप्यसिना चकर्त ।

जगज्जयस्तम्भमिवोद्धुरस्य सुरद्विपः काञ्चनकेतुदण्डम् ॥ ६२ ॥

खेल-खेल में जिसने सम्मुख स्थित शत्रुओं का नाश कर दिया था, ऐसे उस विद्याधरराज ने उछल कर सर्वश्रेष्ठ राक्षसेन्द्र की जगविजय की प्रतीक ध्वजा के स्वर्णदण्ड को तलवार से काट डाला ॥ ६२ ॥

स रत्नचूडोऽपि तथा भुशुङ्ख्या पिपेप वैरीद्विपकुम्भपीठम् ।

सितातपत्रत्वमुदञ्चदाप यथास्य मुक्ताफलधूलिजालम् ॥ ६३ ॥

उस रत्नचूड ने भी बन्दूक से वैरी के हाथी के गण्डस्थलों को इस प्रकार पीस डाला कि उनपर लगे गजमुक्ताओं की धूल के गुबार उड़कर श्वेत छत्र की भाँति यत्र-तत्र फेल गये ॥ ६३ ॥

तुङ्गं दधत् कर्कशतामभीकः श्रीसिन्धुराजद्विपकुम्भयुग्मम् ।

पयोधरद्वन्द्वमिवाजिलक्ष्म्याश्चक्रेऽर्धचन्द्राङ्कितमिन्द्रशत्रुः ॥ ६४ ॥

ऊँचे और कठोरता को धारण करने वाले, श्री सिन्धुराज के हाथी के गण्डस्थलों को उस निर्भीक इन्द्रशत्रु (राक्षस) ने बाणों से ऐसा विध दिया, मानो रणकामिनी के ऊँचे और कठोर कुचों को अर्धचन्द्राकार नखों से चिन्हित कर दिया हो ॥ ६४ ॥

परस्पराघटितदन्तकोटिभ्रष्टाग्निवेशभ्रममादधन्ति ।

रणाजिरे लोहितरञ्जितानि विरेजिरे कुञ्जरमौक्तिकानि ॥ ६५ ॥

खून से सने अतएव रक्त वर्ण के, रणभूमि में बिखरे गजमाणिक ऐसे दिखाई दे रहे थे, मानो हाथियों के परस्पर गुँथे हुए तथा आघात करनेवाले दाँतों के अग्रभाग से छितराये हुए अग्निकण हों ॥ ६५ ॥

चिक्षेप पृथ्वीतिलके सुरारियां यामिपुं कोपकपायिताक्षः ।

तां तां जयाशामिव बाहुशाली शरैः स तस्यार्धपथे लुलाव ॥ ६६ ॥

क्रोध से मरी लाल-लाल आँखों वाले वज्राङ्कुश राक्षस ने जो जो बाण जिस जिस विषय की आशा से सिन्धुराज पर पेंके, उस बाहुशाली (बली) सिन्धुराज ने उन सब बाणों को उन-उन आशाओं सहित अपने बाणों से आधे रास्ते में ही काट डाला ॥ ६६ ॥

तयोस्तथेष्यासपरप्ररुर्पप्रत्युत्कर्णार्जुनयोज्यश्री ।

मुनेलरत्नाकरयोरुदमा चकार वेलोव गतागतानि ॥ ६७ ॥

कर्ण और अर्जुन की माँति परस्पर बाण चलाने का प्रकट दिखाने वाले उन दोनों के बीच जलक्ष्मी उसी माँति कमी उधर और कमी उधर गमना गमन करने लगी, जैसे मुनेल पर्वत और समुद्र के बीच भीषण समुद्र की लहरें आती जाती रहती हैं ।

विमर्श—प्रतीत होता था—भव वज्राङ्कुश विजयी हुआ, और फिर शांत होता था कि सिन्धुराज विजयी हुआ ॥ ६७ ॥

पत्यु प्रजानामसुरेश्वरोऽथ विरीटमाणिक्यचय जहार ।

मणिप्रसूनस्तरकप्रतान कल्पद्रुमस्येव युगान्तवात ॥ ६८ ॥

उस असुर ने प्रजापति सिन्धुराज के मुकुटमणियों के समूह को उसी भाँति हरण कर लिया, जिस भाँति युगान्तवायु कल्पद्रुम के मणिमय फूलों के गुच्छों को हर लेता है ॥ ६८ ॥

श्लोकादयार्धशलाङ्कनसोदरेण बाणेन वासवरिपोर्नवसाहसाङ्क ।

चिच्छेद राम इव त्रिभुवस सुतम्य पीनासलोलमणिकुण्डलमुत्तमाङ्गम् ॥ ६९ ॥

तब क्रोध में मरकर सिन्धुराज ने शर्पचन्द्राकार बाण से उस असुर वज्राङ्कुश के मोटी गदन वाले और मणिकुण्डलों से युक्त शिर को उसी भाँति काट गिराया, जैसे भीराम ने रावण के परिपुष्ट और मणिकुण्डलों से युक्त शिर को काट गिराया था ॥ ६९ ॥

आसन् मुखानि ककुभामभितोऽथ चित्रवादित्रनादलहरीमुखरोदराणि ।

देवस्य च त्रिदिवपुष्पमयं पपात माल्य शिरस्यसुरवैरिपुराभ्रमुत्क्रम ॥ ७० ॥

तब सभी दिशामुक्त चारों ओर से विचित्र बाणों की ध्वनियों से गूँज उठे और देव भी नवसाहसाङ्क सिन्धुराज के शिर पर दानों के शनुओं अर्थात् देवताओं की स्त्रियों ने पारिष्कात पुष्पों की मालायें चढ़ाई ॥ ७० ॥

रत्नमीपते पृथुमुनद्वयमार्द्रसान्द्रज्याघातलाब्धितमलाब्धितत्रिभुवस्य ।

अत्यादरागतजितोर्जितैरलक्ष्मीपादाननयाऽकनिपत्तमिवाऽचकाशे ॥ ७१ ॥

पराक्रम की क्लृप्त न होने देने वाले सिन्धुराज के ताजे और घने धनुष की दोरी के धट्टों से युक्त दोनों भुजायें ऐसी दिखाई दे रही थीं, मानो

अत्यन्त आदर से स्वयं आई हुई पराक्रम से जीती हुई वैरी की लक्ष्मी के अलते से रंगे हुए चरण-कमलों के चिन्हों से अंकित हो ॥ ७१ ॥

तस्याग्रतः कनककुण्डलताड्यमानगण्डस्थलीलुलितकुङ्कुमपत्रलेखाः ।

विद्याधरोरगकुरङ्गद्वयः प्रमोदसान्द्रोच्छलध्वनि जगुर्जयमङ्गलानि ॥ ७२ ॥

तब सिन्धुराज के सामने ही स्वर्णकुण्डलों से रगड़ खाने के कारण मिटी हुई पत्ररचना से युक्त कपोलों वाली, विद्याधर और नागों की मृगनयनी नारियों ने आनन्द में आकर अत्यन्त उच्च स्वर वाली ध्वनि में उसकी जय के मंगल-गीत गाये ॥ ७२ ॥

स्मित्वा यशोभटकरापितचापयष्टिरुमुत्तरत्नकवचः स्वचरेष्वरेण ।

उद्भिन्नमौक्तिकनिभश्रमवारिविदुं देवो नमार्जं मुखमंशुकपद्मेन ॥ ७३ ॥

हँसकर यशोभट (रमाङ्गद) के हाथ में धनुष देकर, विद्याधरराज के द्वारा कवच खोले जाने पर देव सिन्धुराज ने मोतियों की भाँति उभरे हुए पसीने के कणों से भरे मुख को अपने दुपट्टे से पोंछा ॥ ७३ ॥

दत्ताभयोपनतपौरशतार्प्यमाणरत्नोपधामथ स रत्नवतीं प्रविश्य ।

तं संयुगस्फुटपरीक्षितशौर्यसारं राज्ये रिपोः फणिकुमारकमभ्यपिच्छत् ॥ ७४ ॥

फिर सिन्धुराज ने रत्नवती पुरी में प्रवेश करके, अभयदान देकर एकत्र हुए पुरवासियों से सैकड़ों प्रकार के रत्नों की भेंट ग्रहण कर लेने के बाद, युद्ध में जिसके पराक्रम की भली भाँति परीक्षा हो चुकी थी, ऐसे उस नागराजपुत्र रत्न-चूड़ का उस रत्नवती के राजपद पर अभिषेक किया ॥ ७४ ॥

मूर्तं मनोरथमिवोपवनात् सकन्दम्,

आदाय तत् कनककोकनदं नरेन्द्रः ।

आदातुमीप्सितमहीन्द्रसुतेति रत्नम्

अभ्युत्सुकस्तदनु भोगवतीं प्रतस्थे ॥ ७५ ॥

इतना सब करने के पश्चात्, अपने प्रत्यक्ष शरीरधारी मनोरथ के समान राजस के ग्रीवासे से जड़ सहित उस स्वर्णकमल को लेकर फिर उसके द्वारा इच्छित अद्वितीय रत्न 'फणिराजकन्या' को ग्रहण करने के लिए अति उत्सुकता के साथ सिन्धुराज नागों की राजधानी भोगवती नगरी की ओर चल पड़ा ॥ ७५ ॥

देवः साहसिकोप्यमन्दमुरजध्वानानुमेयोत्सवाम् ।

उन्नम्रैः परितो महीं मणिगृहैरुत्तमभ्यन्तीमिव ।

तामत्युन्नतरत्नतोरणशिखाप्रद्वोलमुक्ताफल-

प्रालम्बोच्छलदच्छवान्तिनिकररमेरामवापत् पुरीम् ॥ ७६ ॥

मृदङ्ग की ध्वनि से जहाँ उत्सव की सज्जना मिल रही थी, ऊँचे मणि-
मन्दारों से जहाँ की धरती चमचमा रही थी, अत्यन्त ऊँचे रत्नजटित
द्वारों के ऊपर झूलते हुए मोतियों के गुच्छों की म्वच्छ कान्ति किरणों का रूप
में जो मानो हँस रही थी ऐसी भोगवती पुरी में सिन्धुराज ने प्रवेश
किया ॥ ७६ ॥

इति श्री मृगाङ्गदत्तसुनो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य
कृतौ नवसाहस्राङ्गरिते महाकाव्ये हेम कमल-
हरणो नाम अष्टदश सर्ग ॥ १७ ॥

अथाष्टादशः सर्गः

अठारहवाँ सर्ग

फणिराजदर्शनम्

तं विष्टपन्नितयकण्टकदृष्टसारम् अभ्यागतं नृपतिमुद्गतगाढहर्षः ।
प्रत्युद्ययावधिपतिः फणिनामनर्घरत्नार्घपाणिरशनैरथ शङ्खपालः ॥ १ ॥

फणिराज से मिलन

तीनों लोकों का कांटा बने हुए बज्राङ्कुश को मार कर जिसका बल देख लिया गया था, अतिथि रूप में आए हुए उस राजा को देखकर अत्यन्त हर्ष के साथ नागराज शङ्खपाल बहुमूल्य रत्नों का अर्घ्य लेकर उसकी अगवानि के लिए आया ॥ १ ॥

पुरप्रवेशः

आनाय सादरफणीश्वरदत्तमर्घ्यम् अर्घ्यः सतां स वहिरेव निवेश्य संन्यम् ।
देवोऽविशद्विनयवान् पुरमग्र्यायिविद्याधराधिपरमाङ्गदरत्नचूडः ॥ २ ॥

नगरप्रवेश

सजनों के माननीय विनयी सिन्धुराज ने नागराज के द्वारा किये गये आतिथ्य को स्वीकार कर, नगर के बाहर ही अपनी सेना को ठहराकर विद्याधर-राज, रमाङ्गद और रत्नचूड के साथ फणिराजनगरी भोगवती में प्रवेश किया ॥ २ ॥

उत्सृज्य गीतमसमाप्य विलासलास्यम् अङ्गादपास्य सहसा मणिवल्लर्की च ।
अत्युन्मनास्तदवलोकनकौतुकेन वातायनान्यधिरूरोह पुरन्ध्रिलोकः ॥ ३ ॥

गाते-गाते एकदम गाना छोड़कर, विलासक्रीड़ा को त्यागकर गोद से सहसा मणिमण्डित वीणा को हटाकर उस राजा को देखने की उत्सुकता से उतावली बनी स्त्रियाँ झरोखों तथा खिड़कियों पर आ डटों ॥ ३ ॥

उत्क्षिप्य वेपथुमता करपल्लवेन वातायनाग्रमणिमौक्तिकजालकानि ।
स्मित्वैकया स विलसन्मकरावचूललीलालवाञ्छितविलोचनमालुल्लोके ॥ ४ ॥

किसी स्त्री ने काँपते हुए हाथ से झरोखे पर लटकते हुए मणि और मोतियों की झालरों को हटाकर, हँस-हँसकर, कामभावना से युक्त होकर विलासपूर्ण नेत्रों से उसे देखा ॥ ४ ॥

उद्यद्विद्युत्तकरवेणिकया नृपेन्द्री तस्मिन् स्मरोत्तलसितनुम्भिरुया कयाचित् ।
मुक्ता मुहुविद्युधसिन्धुकलिन्दकन्याकिर्मीरवारिलहरीपुहृद कटाक्षा ॥५॥

किसी रमणी ने धूम कर हाथ पर वेशी धारण करके, कामभावना से परिपूर्ण होकर उस नृपति के ऊपर अपनी चञ्चल फरबुरे रंग की दृष्टि का कटाक्षपात किया, मानो गंगा यमुना की मिश्रित चञ्चल लहरें हों ॥५॥

वाचातरुनयला सत्रिलासमम्भिन् निक्षिप्य कापि नवमोक्तिरुजालमुष्टिम् ।
सत्ताडितामत्तदपाथिगदत्तदृष्टिर्दीर्घेक्षणा किमिव न प्रपया चकार ॥ ६ ॥

बजने हुए कमलवाली किसी स्त्री ने मस्त होकर उसके ऊपर नवीन मोतियों की मुट्ठी भरकर फेंकी । कचे पर उनकी चोट खाकर राजा ने जब ऊपर देखा तो उस बेचारी ने लज्जा के कारण क्या क्या नहीं किया, अर्थात् वह शर्म के कारण गड़ी जा रही थी ॥ ६ ॥

वक्षो दधानममराद्रिशिलाविशालम् आचानुयाहुमत्रलोक्य नरन्द्रचन्द्रम् ।
चित्तोपनीतपरिरम्भसुग्रातिसाद्रम् अन्या पयोवरभरे पुलक दभार ॥ ७ ॥

सुमेरु पर्वत की शिला के समान विशाल बलम्यल को धारण करनेवाले, घुटनों तक लम्बी भुजाओं वाले उस राजचन्द्र नवमाहसाङ्ग को देखकर अपने हृदय में उसके शादालिङ्गन के सुख का अति आनन्द लेनेवाली किसी स्त्री के स्तन रोमाञ्चित हो उठे ॥ ७ ॥

आलोक्य दर्पणतले प्रतिमागर्तं स आत्मे मयैव इति कापि वृनोत्सवाऽभूत् ।
मुग्धा गतेऽथ पुरतोऽत्र तदीयन्मिव शूयात्मन्शनिधुरे दुमुग्धी बभूव ॥८॥

उस राजा की परछाई दर्पण पर पड़ी हुई देख "मैंने इसे पा लिया" ऐसा समझ कर कोई स्त्री बड़ा आनन्द मनाने लगी, पर जैसे ही दर्पण से उसका प्रतिनिम्ब हटा तो अपने को अकेली पाकर यह चन्द्रमुखी बेचारी अत्यन्त दुःखी हो गई ॥ ८ ॥

इत्यापतनमदननाणपरम्पराणाम् इन्मीलिताङ्गनलनश्लथमेखलानाम् ।

एषीदृशा विचरति स्म स राजहंस पारोत्तसन्नवरसोमिपु मानसेषु ॥ ९ ॥

इस प्रकार जिनके कामवाणों की परम्परा के आघात उस पर हो रहे थे, ऐसी रँगडाई लेने के कारण दौली मेखलाओं वाली उस हरिण लोचनाओं को नवीन रसों की लहरों से भरे मन रूपी सरोवरों में यह राजहंस (राजा) विचरण करने लगा ॥ ९ ॥

नायकवर्णनम्

सङ्गीतवेशमनि फणीश्वरचारणाना गीतेवजस्तमिह शुश्रुम यद्यशसि ।

यात स एव नयनातिथितामय न मुण्यैरहो वत नृपो नयसाहसाङ्ग ॥१०॥

नायक का वर्णन

लोग कह रहे थे कि नागराज के चारणों (भाटों) के संगीत-गृहों में गीतों में हम लोगों ने जिसका महान् यश सुना था, वड़े-वड़े पुण्यभाग्य के कारण आज वही नवसाहसार्द्ध नृपति हमारी आँखों के सामने भी आ गया ॥ १० ॥ कान्तिच्छटाच्छ्रुरितद्विक्त एष देवो जीयाञ्जगन्ति परमारकुलप्रदीपः । चन्मूल्य सम्प्रति सुरारितमः समूलं येनाह्विष्टपतले विहितः प्रकाशः ॥ ११ ॥

अपनी कान्ति की छटा से चारों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला यह परमारवंश का दीपक चिर काल तक प्रज्वलित होता रहे (जीवित रहे), जिसने वज्राकुश राजसरूपी अन्धकार को नष्ट करके नागलोक को प्रकाश-पूर्ण अर्थात् दुःखः राहत बना दिया ॥ ११ ॥

हन्तैष पन्नगपतेरतुत्प्रातज्जाप्राग्भारसागरसमुत्तरणंकपोतः ।

उत्पाकमेव च फलं फणिराजकन्या चित्तं चिरं कृतपदस्य मनोरथस्य ॥ १२ ॥

बड़े हर्ष की बात है कि फणिराज की भीषण प्रतिज्ञा के भार रूपी समुद्र को पार करने के लिये यह जहाज सा बन गया । यह तो नागराजपुत्री के चित्त में चिरकाल से अपना घर बनानेवाले मनोरथ के परिपक्व फलरूप में ही मिला है ॥ १२ ॥

एतद्यशोभटकरे कनकागुञ्जं तत लीलावतंसमचिराद्विरचय्य येन ।

प्रत्युप्तकल्पतरुपल्लवमेव पाणिम आदास्यते नृपतिरद्य शशिप्रभायाः ॥ १३ ॥

(यह देखो) यह रमाङ्गद के हाथ में वही स्पर्शकमल है, जिसे शीघ्र ही कनफूल बनाकर यह नृपति, नये उगे हुए कल्पतरु के पत्ते के समान कीमल शशिप्रभा के हाथ को ग्रहण करेगा अर्थात् उसके साथ पाणिग्रहण करेगा ॥ १३ ॥

हाटकेश्वरदर्शनम्

सान्द्रानुरागपिशुनः परशुः परेपाम्

आकर्णयन्निति स पौरजनस्य वाचः ।

श्री हाटकेश्वर इति प्रथितस्य तुङ्गम्

अग्रे ददर्श मणिमन्दिरमिन्दुमौलेः ॥ १४ ॥

हाटकेश्वर महादेव का दर्शन

घने प्रेम के सूक्ष्म पुरवासियों के वचनों को, शत्रुओं के लिये कुठार स्वरूप उस राजा ने सुना । वाद में उसने हाटकेश्वर नाम से प्रसिद्ध शिव के मणिनिर्मित ऊँचे मन्दिर को सामने ही देखा ॥ १४ ॥

तत्र प्रविश्य स कृतानतिरादिदेवम् आनर्च कल्पविटपिप्रभवैः प्रसूनैः ।

स्तोतुं कृताञ्जलिपुटः कुटजावदातदन्तांशुपल्लवितवागुपचक्रमे सः ॥ १५ ॥

उस मन्दिर में प्रवेश करके, झुककर प्रणाम करके कल्पतरु के फूलों से उसने आदिदेव शिव की पूजा की। पुन हाथ जोड़कर स्तुति करने के लिए उसने कुटज पुष्पों की माला श्वेत दत्त चिरणों से शोभित वचन कहना प्रारम्भ किया ॥ १५ ॥

हाटकेसरस्तुतिः

अन्तर्नटापिहितसोमसुरापगाय ।

प्रच्छन्नपञ्चराशासनलोचनाय ।

सौम्यनलपितशैलमुतास्वरूप

विज्ञाननर्मपटवे वटये नमस्ते ॥ १६ ॥

हाटकेश्वर की स्तुति

अपनी जटा के भीतर चन्द्रमा और गङ्गा को छिपाकर रखनेवाले, छिपे हुए कामदेव के लिए दण्डस्वरूप है तृतीय नेत्र बिनका ऐसे तथा घोर व्रत धारण कर शरीर को गला देनेवाली पर्वनराजपुत्री (पार्वती) के द्वारा वास्तविक रूप में ज्ञात किये गये एवं पार्वती के साथ रतिजीञ्ज कराने में पटु अक्षचारो गने हुए शिव जी को नमस्कार है ॥ १६ ॥

अत्यादरानतमुरासुरमौलिरत्ननानामरीचिप्रविताङ्घ्रिसरोरुहाय ।

देहाधरतिगिरिजाप्रहिताभ्यसूयसन्ध्याप्रणामविपमोज्ज्वलये नमस्ते ॥ १७ ॥

अत्यन्त आदर के साथ नतमस्तक देव एवं दानवों के सिरों पर लगे रत्नों की नाना प्रकार की किरणों से सुशोभित चरणकमल बाल, तथा शरीर के अर्ध भाग में स्थित पार्वती के साथ ईर्ष्या करनेवाली सन्ध्या से नमस्कार किये जाते हुए उन शिव को प्रणाम है ॥ १७ ॥

नीर-प्रसि-धुनलमिककपालमुक्तरत्नाङ्कितस्य करणीं त्रिधुरातनोति ।

मौली मदैव भवताभवभेदकतुनिर्दग्धमास्करमहाय नमोऽस्तु तस्मै ॥ १८ ॥

मृष्ट का सहाय करने वाले जिस प्राण के सिर पर पानागंगा के सान्द्र जल में मिक कपाल से छिट्कनाबी काति को चन्द्रमा धारण करता है, सूर्य के तेज को भी जीतनेवाले ऐसे आप शिव को नमस्कार है ॥ १८ ॥

क-दर्पदपशमनाय वृथा-तर्ह्यै कर्त्रे शुभमन्य भुनगाविश्वेष्टनाय ।

चर्यां मरुद् रमि निशाकर वह्नि तोय थाज्याम्बरोच्चवपुषे सुपुत्रे नमस्ते ॥ १९ ॥

जो काम के गर्व को नाश करनेवाला है, मृत्युभिन्नी है, वरुणाण करनेवाला है, ज्वराज से घिरा हुआ है, और धरती, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, जल, हवनीय द्रव्य और आकाश को जिसने अपने शरीर में धारण किया है, उस शिव को नमस्कार है ॥ १९ ॥

नीरन्ध्रभूतिधवलाय गजेन्द्रकृत्तिसंवीतदेहकवलीकृतपन्नगाय ।

निर्दग्धदानवकुलाय विपत्तयैककार्याय कारणनुताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥२०॥

सान्द्र भस्म से श्वेत बने हुए, गजराज की खाल से युक्त जिसकी देह को सांपों ने घेर रखा है, जिसने राक्षसकुलों को नष्ट किया है, जो विपत्ति का नष्ट करने के लिए स्वयं ही कार्य-कारण बना है, उस शिव को नमस्कार है ॥२०॥

ते ते यमेव किल वाङ्मयसागरस्य पारं गताः प्रणवमात्मविदो वदन्ति तस्मै समाहितमहपिविनिद्रहृद्यहृत्पुण्डरीकविहितस्थितये नमस्ते ॥ २१ ॥

आत्मतत्त्व को जानने वाले, वाणीरूपी सागर को पार करनेवाले बड़े-बड़े योगी भी जिसे प्रणव (ब्रह्म) बताते हैं, और ध्यानावस्थित महपि लोग अपने विकसित निर्मल हृदय-कमल में जिसको धारण कर समाधिस्थ होते हैं, उस शिव को नमस्कार है ॥ २१ ॥

सत्तंसितेन्दुशकलाय कपालजूटसंघट्टितोर्मिमुखराम्बरनिर्झराय ।

भस्माट्ग्रागशुचये विकचोपवीतव्यालेन्दुमौलिमणिदीधितये नमस्ते ॥२२॥

चन्द्रकला को भाल पर सजानेवाले, सिर के जटाजूट से टक्कर खाकर ध्वनि युक्त लहरोवाली आकाशगंगा को धारण करनेवाले, भस्म के अंगराग से श्वेत बने हुए, सांप के यज्ञोपवीतवाले, सर्पमणि की प्रभा से पूर्ण मस्तकवाले शिव को नमस्कार है ॥ २२ ॥

नास्त्रं न भस्म न जटा न कपालदाम नेन्दुर्न सिद्धतटिनी न फणीन्द्रहारः नोक्ता विपं न दयिताऽपि न यत्र रूपमव्यक्तमीश किल तद्धते नमस्ते ॥२३॥

न अस्त्र, न भस्म, न जटा, न कपालों की माला, न चन्द्रमा, न सुरगंगा, न सर्पों के हार, न वृषभ, न विष, और न स्त्री ही अर्थात् इन सबसे विहीन निर्गुण रूप धारण करने वाले आप शिव को नमस्कार हो ॥ २३ ॥

नागराजगृहागमनम्

स्तुत्वेत्यवन्तिपतिरिन्दुकलावतंसं तन्मन्दिरात् सहचरैः सह निर्जगाम ।

अन्तर्निवेशितहरिन्मणिवेदि वल्गन् नागाङ्गनं स फणिराजगृहं जगाम ॥२४॥

नागराज के घर आना

इस प्रकार चन्द्रशेखर शिव की स्तुति करके वह अवन्ति का स्वामी अपने साथियों के साथ उस मन्दिर से बाहर चला आया, और फिर भीतर घरे घरे मणियों की वेदी से चमकते हुए, नागलोक के अंगन तथा फणिराज के घर में प्रविष्ट हुआ ॥ २४ ॥

तत्रावतीर्य रथतः स रमाङ्गदात्तपाणिः समुच्छलितमङ्गलतूर्यघोषे ।

उन्निद्रसान्द्रकुसुमप्रकरावकीर्णमाणिक्यकुट्टिमतले मसृणं विवेश ॥२५॥

रमाङ्गद के हाथ का सहारा लेकर वह राजा रथ के नीचे उतरा । फिर वह अत्यधिक भगलवाजों की ध्वनि के साथ, खिले हुए ताजे फूलों वाले, मणि निर्मित आंगनवाले फणिराज के मन्त्र म गन्वा ने धीरे धीरे प्रवेश किया ॥२५॥
अन्योन्यपल्लिततद्विजयप्रशंस प्राप्तम्यतिविन्दकाञ्चननिष्ठरेषु ।
पद्मन्ददायतदृशा ददृशेऽथ तस्मिन् एकत्र तेन मिलित फणिराजलोत्र ॥२६॥

उसकी विजय का आशय आपस में व्यक्त करने वाले, फैले हुए सुनहले आसनो पर एक जगह बैठे हुए फणिराज के लोगों को कमलपत्र के समान नेत्रवाले उस राजा ने उस आंगन में देखा ॥ २६ ॥

तत्कृत सत्कारः

तस्मिन् गते नयनगोचरमुद्युताग्री यटाञ्जलिस्तिति पद्मगराजससन ।
मन्दाकिनीत्र परितो हारणावचूडकगलोक्कुट्मलितनः।अनपङ्कजाभूत् ॥२७॥

राजा का सत्कार

शत्रुओं का विनाश करने वाला वह राजा जब आँखों के सामने आया तो नागराज की वह सभा हाथ जोड़कर खड़ी हो गई । तब ऐसा शत होता था, भगवान् विष्णु द्वारा देखी गई मन्दाकिनी चारों ओर में मुकुलित स्वर्ण-कमलों को घारण किये हुए हो ॥ २७ ॥

न्यञ्जलिस्तिति पद्मगराजससनोचिश्छटाघटिततन्फणरत्नकाञ्चि ।
राजन्यमौलिमण्डितुम्भितपादपीठ तन्मन्त्रकार स महाभजन प्रणामम् ॥

प्रणाम करने से मुझे हुए सिर पर चमकते हुए पञ्चराग मणियों की प्रभा से जिलने नागा की रक्षा के रत्नों की क्रांति प्राप्त कर ली थी, ऐसे तथा समस्त छोटे-बड़े राजा जिसके चरणों पर अपना सिर मुकाते थे, ऐसे उस महानुभाव सन्धुराज ने उस नागजन को प्रणाम किया ॥ २८ ॥

प्रत्युमरत्नममिव प्रमदात्रकीर्णं मुक्त्वा चतुष्कमुरगेऽग्निदेशितं स ।
अध्यास्तसादृजरत्तर्पाणकल्पिताशीस्तमध्यर्वातकनकासनमुन्नतास ॥२९॥

तब वह पुष्ट कर्णों वाला सन्धुराज प्रमदाओं द्वारा बिलेरे गये नये रत्नों से संकुल चौराहे को पार कर, आदरपूर्वक फणिराज के बताये सोने के आसन पर बैठा । उस समय वृद्ध नाग लोग आशीर्वचन का पाठ कर रहे थे ॥ २९ ॥
यत्सा घनानय ममेति शनैर्विसृज्य नैपथ्यनीलमाणवेश्मनि रत्नचूडम् ।
तत्रासनद्वयमदापयदस्य पार्श्वे विद्याधराविषयशोभदयो फणीन्द्र ॥ ३० ॥

जामो, जाकर मेरी पुत्री को लाओ, ऐसा कहकर रत्नचूड़ की नीलमणि-मय अत पुर की ओर भेजकर उस नागराज ने राजा के समीप में ही विद्याधराज के लिए और रमाङ्गद के लिये दो आसन बिछवा दिये ॥३०॥

स्वर्णासने स्वयमथाच्छफणातपत्ररत्नप्रदीपशतजर्जरितान्धकारः ।

लोकत्रयैकतिलकस्य स नातिदूरे देवस्य दारितमहेन्द्ररिपोर्न्यपीदत् ॥३१॥

स्पच्छ फणारूपी छाते के रत्न रूपी दीप से अन्धकार का नाश करनेवाला फणिराज भी तीनों लोकों में श्रेष्ठ और वज्राक्षुश जैसे इन्द्रशत्रु का नाश करने वाले सिन्धुराज के पास ही सोने के सिंहासन पर बैठा ॥ ३१ ॥

स्थित्वैकतो युवतिमङ्गलगीतिमत्र शृण्वन् स विन्ध्यतटट्टचरः कुरङ्गः ।

चित्रे निवेशित इवाथ यशोभटेन स्मित्वा सविस्मयमसूच्यत पार्थिवाय ॥३२॥

युवति जनों द्वारा गाये गये मङ्गलगीतों को सुनते हुए विन्ध्याचल में देखे हुए उसी मृग को रमाङ्गद ने एक तरफ चित्र-लिखा सा चुपचाप बैठा देखा और फिर राजा को भी सूचित किया कि यह वही मृग है ॥ ३२ ॥

शशिप्रभादर्शनम्

अत्रान्तरे प्रमदलोलहशा नृपेण दूराददर्शि फणिराजसुताऽभियान्ती ।

तन्वी शिरीषपुमनःसुकुमारमूर्तिर्देवस्य कार्मुकलतेव मनोभवस्य ॥ ३३ ॥

शशिप्रभा का दर्शन

इसी धींच अत्यन्त मद से चञ्चल नेत्रवाले राजा ने आती हुई उस नागराजपुत्री शशिभा को दूर में ही देखा । शिरीषपुष्प की भाँति कोमल देहवाली वह सुन्दरी मानो कामदेव के धनुष की मौर्वी थी ॥३३॥

ज्योत्स्नासिताम्बररुचिस्नपिताननेन्दुर्मात्राऽचिरोद्गतयवाङ्कुरकर्णपूरम् ।

मुक्तवोज्ज्वलं ललितशतुककङ्कणं च वेपं विवाहसमयोचितमुद्वहन्ती ॥३४॥

वह चाँदनी के कारण श्वेतवर्ण के आभास की कान्ति से स्नात मुखचन्द्र-वाली थी, और माता ने अभी-अभी उसके कानों में जो के श्रृङ्गुर सजाये थे, सुन्दर श्वेत विवाह-कगन हाथ में पहनाये थे । ऐसी वह शशिप्रभा इस प्रकार विवाह के योग्य वेश-भूषा को धारण किये हुए थी ॥ ३४ ॥

सख्या कयापि लिखितं मदनानलैरधूमावलीवल्लयसंशयमर्पयन्तम् ।

एकान्तकान्तमसितागरुपत्रभङ्गम् आविभ्रती लवलिपाण्डुतले कपोले ॥३५॥

लवली के पत्ते के समान गौर और चिकने गाल पर एक ओर किसी सखी के द्वारा बनाई गई अत्यन्त सुन्दर जो अगद की पत्ररचना थी, वह ऐसी दिखाई दे रही थी, मानो कामाग्नि से उठती हुई धूँये की रेखाये हों ॥३५॥

आत्प्रसावनमनङ्गविलासवेश्म लीलानिधानमवविनयनोत्सवस्य ।

लावण्यसंवर्लितमङ्गकमुद्वहन्ती शृङ्गारदुग्धजलधेरधिदेवतेव ॥३६॥

वह ऐसी मालूम पड़ रही थी, मानो सुसज्जित प्रसाधन-सामग्री वाला कामदेव का विलासग्रह हो, नयनों के विविध हावभावों से मरी तथा आनन्दः

देनेवाली हो और शृंगाररूपा दुग्धसमुद्र की अधिष्ठात्री देवता सौन्दर्य में
युक्त ग्रन्थों की धारण करके आइ हो ॥ ३६ ॥

सा पाटलाग्रिद्युतचामरमारुतेपन्थ्यानतिवालकलता सहिता मखीमि ।
नातिस्फुटकणितनूपुरमाकुलानि किञ्चिद्विलम्ब्य दधती त्रपया पदामि ॥३७॥

पाटला उसके ऊपर धीरे धीरे चामर हुना रही थी । उसकी हवा से
धीरे धीरे हिलनेवाले बालों की लता वाली वद शशिप्रभा सखियों के साथ
नूपुर की अस्पष्ट मृदु ध्वनि से युक्त चरणों की लम्बा के कारण रक रक
कर धरती पर रख रही थी ॥ ३७ ॥

नायकदर्शनम्

उत्पद्मणा नित्यमोन्मत्तसितप्रभोर्विस्तारलङ्घितविलामसरोरुहेण ।
साद्रस्मरज्जराभ्यासितया तयापि दुरादपायि नयनाञ्जलिना नरेन्द्र ॥३८॥

नायक का दर्शन

उठी हुई पलकों वाली, अनुपम उल्लास और अनन्दक विस्तार को पार
करने वाली, कमल के समान नयनों की अनुलिया सत्यधिक कामज्वर के
कारण प्यासी बनी हुई उस शशिप्रभा ने भी दूर से ही राजा के रूपसौन्दर्य का
पान करना प्रारम्भ कर दिया ॥ ३८ ॥

मान्यरतीराक्यम्

ग्रीवाग्रनम्रमुष्पद्ममुपागताया तस्या पितु र्नकमिष्टरभागभानि ।
मास्यादिकल्पितयथोचितसत्क्रियात्ते त मालयेन्द्रमिति माल्यरती जगाद

मान्यरती का कथन

लज्जा से झुके मुखकमलवाली शशिप्रभा ने अपने पिता के पास ही
स्वर्ण ग्रासन पर बैठ जाने पर, माता इत्यादि पहना कर सज्जक करने के
बाद माल्यरती सखि ने मालयेन्द्र से कहा ॥ ३९ ॥

राजन् महीतलमृगाङ्ग विलम्बमे हि अत्रापि नूणममुना स्वमुचान्वितेन ।
हमाप्नुनेन प्रिरचर्य वर्तसममया पूर्णप्रतिजमुगताधिपात विधेहि ॥४०॥

हे राजन् ! हे धरती के चन्द्रमा ! अतः दूर किस लिए कर रहे हो, अब
शीघ्र ही अपने मातुल से प्राप्त किये हुए स्वर्णकमल से सबक कानों को
सुशोभित कर नागराज की प्रतिज्ञा को पूरा कीजिए ॥ ४० ॥

उत्ते व्येत्यहंन काञ्चनपुष्कर तत् यात्रा म कर्णशिखर फणिराजपुत्र्या ।
तावद् विहाय मृगरूपमदारमूर्तिरथे बभूव पुरुषाऽस्य सहेमनेत्र ॥ ४१ ॥

उस माल्यरती के ऐसा कहने पर जोही राजा ने उस नागराजपुत्री शशिप्रभा
के कान को उस स्वर्णकमल से शिम्पूयत किया था हो मृग का रूप रथाग

कर वह कोने में बैठा मृग सुन्दर आकृति वाला बनकर हाथ में सोने का वेत लिये हुए एक पुरुष के रूप में आगे आकर खड़ा हो गया ॥ ४१ ॥

पुरुषम्प्रति प्रश्नः

कस्त्वं मृगः कथमभरिति पार्थिवेन पृष्ठः स विस्मयसमुत्सुकमानसेन ।
इत्यब्रवीदुरगनेत्रपरस्पराभिरापीयमानवपुरुक्तिमवन्तिनाथम् ॥ ४२ ॥

पुरुष को प्रश्न

तुम कौन हो ? किस प्रकार तुम मृग बने, इस प्रकार आश्चर्य से उत्सुक-
मनवाले राजा ने जब उसे पृछा, तब नागों द्वारा प्रेमपूर्वक देखे गये उसने
अवन्तिनाथ से अपने शरीरसम्बन्धी कथा यों कही ॥ ४२ ॥

प्रतिहारस्य वृत्तान्तः

कैलासशैलवसतेर्गिरिशोपरोधान् द्वारप्रवेशविनिवेशकपायितेन ।
शप्तोऽस्मि कएवमुनिनाऽयमहं पितुस्ते श्रीहर्षदेवनृपतेः प्रतिहारपालः ॥ ४३ ॥

कैलास पर्वत पर शंकर भगवान के पास जाने से मना करने के कारण क्रुद्ध
हुए कएव ऋषि ने मुझे शाप दिया । मैं तुम्हारे पिता श्री हर्षदेव का द्वार-
पाल था ॥ ४३ ॥

राजा फणीन्द्रदुहितुः कनकारविन्दं कर्णे करिष्यति यदा नवसाहस्राङ्कः ।
स्वं रूपमाप्स्यसि तदेति समादिदेश शापान्तमेव विहितानुनयो महपिः^१ ॥

शाप देने के पश्चात् जब मैंने अनुनय-विनय किया, तब उन्होंने कहा
कि जब नवसाहस्राङ्क राजा नागराजपुत्रा शशिप्रभा के कान में स्वर्णकमल
पहिनायेगा, तब तुम पुनः मृगरूप छोड़ कर अपने रूप को प्राप्त करोगे ॥ ४४ ॥

तद् वासवारिविजयोत्थमिदं यशस्ते गत्वैकपिङ्गलगिरेरवतंसयामि ।
उक्त्वेति दिव्यकुसुमैरवकीर्य मौलों पातालमल्लमनिलस्य पथा जगाम ॥ ४५ ॥

‘इन्द्रशत्रु वज्राकुश को मारने से’ फैले हुए तुम्हारे महान् यश से
मैं जाकर पिङ्गल पर्वत को भी अलंकृत करूंगा अर्थात् वहां भी तुम्हारा यश-
गान करूंगा ।’ ऐसा कहकर दिव्यपुष्पों को पाताल के एकमात्र वीर राजा के सिर
पर चढ़ाकर वह पुरुष आकाशमार्ग से चला गया ॥ ४५ ॥

विवाहविधिः

तूर्यस्वनेषु विलसत्सु पठन्स्वमन्दं चन्दिष्वनीयत फणीन्द्रपुरोधसा च ।
कोणावसक्तजलपूरितरत्नकुम्भां वेदि तथा सह स मध्यमलोकपालः ॥ ४६ ॥

१. तंजीर पुस्तकालय में उपलब्ध संस्करण में यहीं पर सर्ग-
समाप्ति हो जाती है ।

विवाहविधान

तत्र तुरही क बजने पर, तीव्र स्वर से बन्दीजों के द्वारा यशगाय करने पर, रत्नमण्डित जलपूर्ण घडों से सुशोभित कानों वाली वेदी के ऊपर उस शशिप्रभा के साथ नागराज का पुरोहित सिधुराज को लेकर आया ॥ ४६ ॥ अभ्युदगतार्चिरनलोब्धितधूमराजिष्यामीभवत्कनकतामरसावतसम् ।

तस्या यथाविधि स मालवपुष्पकेतु कयामहे कुबलयाश्व ह्योपयेमे ॥४७॥

उठती हुई अग्नि ने जब धूआँ छाड़ा, तब उससे जिसके स्वर्णकमल का आभूषण काला हो गया था, ऐसी उस नागराजकन्या को विधिवत् उसी वेदी में मालवा के कामदेव उस सिधुराज ने उसी भाँति ब्याहा, जिस प्रकार कुबलयाश्व ने नागपुरी में दालसा को ॥ ४७ ॥

आनीतया झटिति रूपमदृष्टपूर्वम् अङ्गेन पुष्पशरभङ्गितरङ्गितेन ।

भाति स्म शतनुरिव त्रिदिवसांस्तस्या पातालचन्द्रकलाया स तथा समेत्य ४८

कामजनित विलास से तरंगित अथवा फूलों की लङ्घियों से सुशोभित अंग से शाय ही जब उसमें अपूर्व रूप भर गया, तब उस पाताललोक की चन्द्रकला से युक्त वह सिधुराज इस भाँति सुन्दर लग रहा था, मानो गंगा-देवी से युक्त शन्तनु हो ॥ ४८ ॥

फणिपतिराक्यम्

निर्गच्छदच्छरुचिर्भरमशुकेन सच्छादितं किमपि पाणितले दधान ।

ऊचे तमित्यधिपति फणिनामुदञ्चन्द्वाशुशारितरदञ्चदरत्नकान्ति ॥४९॥

नागराज के वचन

पैलनेवाली स्वच्छ-सुन्दर कान्ति से युक्त, वस्त्र से ढँकी हुई किसी वस्तु को हाथ में लेकर, निकलती हुई दन्त त्रिशूलों से ओठों को रत्नमयी कान्तिवाले बनाता हुआ वह नागराज नृपति से यों बोला ॥ ४९ ॥

यद् दीयते तब त्वाद्यामस्ति किञ्चिन् गोहे ममात्र नृपते नवसाहस्राङ्क ।

कीर्तिप्रतिष्ठितनिधानशत यतस्त्वाम् ऐश्वर्यनिजितपुरन्दरमायनति ॥ ५० ॥

हे राजन ! आपको क्या दिया जाय ? हे नवसाहस्राङ्क ! मेरे पर तो आपके योग्य कोई वस्तु ही नहीं है । क्योंकि आपके पास तो ऐश्वर्य से इन्द्र को भी नीत लेनेवाली कोशस्थित सैकड़ों निधियाँ विद्यमान हैं ॥ ५० ॥

तत् स्फटिक स्वमिव शुद्धमिदं गृहाण त्वष्टृप्रयत्नघटितं शिवलिङ्गमेकम् ।

आकारमर्धनित्यवपुष पुरारेर्यस्यातरे सुकृतिनो हि बिलोकयन्ति ॥५१॥

इसलिये तुम्हारी तरह शुद्ध स्फटिक का यह एक शिवलिङ्ग है, जिसे विश्व-कर्मा ने बड़े प्रयत्नों से बनाया है और जिसमें अर्धनारीश्वर भगवान् शंकर की आकृति का दर्शन पुण्यात्मा लोग किया करते हैं, इसे तुम ग्रहण करो ॥५१॥

व्यासः पुरा किल पुराणमुनेः प्रपेदे तस्मान् किलादिकविपाणितलं जगाम ।
लेभे ततोऽपि भगवान् कपिलो महर्षिः सानुग्रहेण मम चेदमद्रायितेन ॥

सयत्ने पहले यह शिवलिंग भगवान् विष्णु ने मुनि व्यास को मिला, उनसे
इत्ने आर्द्रकवि वाल्मीकि ने पाया । फिर भगवान् कपिल महर्षि ने पाया और
बड़ी कृपा करके उन्होंने यह मुझे दे दिया ॥ ५२ ॥

शिवलिङ्गार्पणम्

उक्त्वेत्यनर्घमतिपावनमर्पितं तद् अन्तःस्फुटैकशिवरूपमहीश्वरेण ।
पूर्णेन्दुकान्ति सहसा निगृहीतशत्रुर्जग्राह पिण्डतमिव स्वयशो नरेन्द्रः ॥५३॥
शिवलिंग का अर्पण

इतना कहकर बहुमूल्य, अतिपवित्र स्वच्छ वह शिवलिंग नागराज ने राजा
को समर्पित किया, उसके अन्दर शिव का रूप स्पष्ट दीख रहा था । शत्रुविनासक
सिन्धुराज ने पूर्णचन्द्रमा की कान्ति की भाँति एकत्र हुए अपने यश के रूप में
ही मानो उस शिवलिंग को ग्रहण किया ॥ ५३ ॥

तत्राय दिक्कतपरिस्खलितप्रवृत्तसीमन्तिनीचटुलनूपुरकाञ्चिनादः ।
कोप्युच्छलनपटहवंशह्रुड्कुक्कशङ्खवीणामृदङ्गमुरजध्वनिरुसवोऽभूत् ॥५४॥

फिर वहाँ चारों दिशाओं में फैलनेवाली नारियों की चञ्चल पयलों और
करधनी का शब्द व्याप्त हुआ, एवं ढोल, ढंशी, हुड़की बाजा (जो पर्वतीय क्षेत्रों
में बजता है), शङ्ख, वीणा, मृदङ्ग, पखावज की ध्वनि से पूर्ण उत्सव हुआ ।
वृत्ते वधूमथ विवाहमहोत्सवे ताम् आदाय निष्पत्तिमपौरुषवैजयन्तीम् ।
अन्वागतादरनिवर्तितपन्नगेन्द्रः पर्युत्सुकः ग्वनगरीं स नृपः प्रतस्थे ॥५५॥

विवाहमहोत्सव हो जाने पर अद्वितीय पुरुषार्थ की विजय पताका-
स्वरूप उस वधू शशिप्रभा को लेकर और स्वागतार्थ पीछे आते हुए नागराज
को लौटा कर घर जाने के लिए उत्सुक बना हुआ सिन्धुराज अपनी नगरी की
ओर चल पड़ा ॥ ५५ ॥

गत्वाथ दूरमहिविष्टपतः सहेलम् अंराः पुराणपुरुषस्य स निर्जगाम ।
शिप्रापितेन सहसा पुरतः प्रभावसीनन्तितानुपटलेन पश्चात्सैन्यः ॥५६॥

पुनः आनन्दपूर्वक वह विष्णु का अंश नवसाहसार्द्ध नागराज-भूमि से
दूर जाकर, स्वप्रभाव से नीमावद्ध जन-समूहवाले शिप्रा नदी के किनारे हुए मार्ग
पर सेनासहित चल पड़ा ॥ ५६ ॥

तस्याः स्पृहस्तमुनिसंदृष्टिकल्पितायः सिन्धोस्तटे स पदमेकपदे चकार ।
शृङ्गे तदा च भगवानरविन्द्वन्ननुर्वन्धूकपाटलरुचिः कनकाचलस्य ॥५७॥
उस शिप्रा नदी के तट पर मुनिसमूह के द्वारा किये ध्यातिथ्य को ग्रहण
कर उसने एक पड़ाव वहीं पर डाल दिया । उसने रात वहीं बितायी । फिर गुल-

दुपहरी के फूल के समान लाता, कमला का मित्र भगवान् सूर्य कनकाचल के शृङ्ग पर विराजमान हो गया अर्थात् सूर्योदय हो गया ॥ ५७ ॥

उज्जयिनीप्रवेशः

वालातपन्धुरितहर्म्यविटङ्कयति पारायतातिमधुरध्वनितच्छलेन ।

सभापणं विदधतीमिव पौरमुक्तपुष्पाञ्जलि स पुरमुज्जयिनीं विवेश ॥ ५८ ॥

उज्जयिनी में प्रवेश

रालसूर्य के प्रकाश से युक्त भजन के छन्दों पर कपोतों की अतिमधुर ध्वनि के गान सभापण करनवाली उज्जयिनी नगरी में पुरवासियों द्वारा पुष्पाञ्जलि प्राप्त करते हुए सिधुराज ने प्रवेश किया ॥ ५८ ॥

का-तायशोभटयुतं कृशतामवाप्तास्तचिन्तयैः सचिवास्तमथ प्रणोमु ।

काटुस्थमादृतमुरारिमिवानुया-त सौमित्रिणा जनकराजतनूतया च ॥ ५९ ॥

उनो सिधुराज की चिंता से दुर्बल रहे हुए मंत्रियों ने शशिप्रभा कास्ता और यशोभट (रमाङ्गद) के साथ ही उस भेद और शत्रुओं को नाश करने वाले राजा को उसी प्रकार प्रणाम किया, जिस प्रकार भेद और रावण जैसे शत्रु का नाश करके आये हुए, लक्ष्मण और सीता के सहित भीराम के मंत्रियों ने उन्हें प्रणाम किया था ॥ ५९ ॥

महाकालेश्वरदर्शनम्

आनन्दोऽप्यसलिलार्द्रदृशोऽधमार्गे सम्भाष्य वान्मिमितमुत्सहतेर्जगाम ।

विद्याधरोरगकराहतहेमघण्टाहाङ्कारहारि भवन त्रिपुरान्तकस्य ॥ ६० ॥

महाकालेश्वर का दर्शन

राजा आनन्द के आमुओं से गीली आँखोंवाले उन मंत्रियों के साथ रास्ते में ही सम्भाषण करते हुए हँसता हुआ उनके साथ विद्याधर, एक नागा के हाथों से बचाये जान वाले, खर्णघण्टाओं की झंकार से मन हरण करने वाले, त्रिपुरासुर का नाश करने वाले, भगवान् (शिव) महाकालेश्वर के मन्दिर में पहुँचा ॥ ६० ॥

तस्मिन्नेवाचरगुरोर्हरिणावचूलचूडामणोपविति विधिवत् रिवाय ।

सारं फणो-द्रमुतयाऽम्बररोधिकम्बुतूर्यस्वनोमि च स राजकुल शिवेश ॥ ६१ ॥

उस मन्दिर में चरान्तर के स्वामी चन्द्रशेखर की विधिपूर्वक पूजा करके, नागराजकन्या शशिप्रभा के साथ राजा गगनचुम्बी शिखर वाले तुरड़ी की ध्वनि से ध्वनित अपने राजकुल में प्रविष्ट हुआ ॥ ६१ ॥

धारागमनम्

तत्रार्णवध्वनिधनोत्सपतयघोषे स्थित्वा दिनानि कनिचित् स नरेन्द्रचन्द्र ।

याति स्म भूपितकुल कुलराजधानीं धाराममात्यकवितामृगयेतिवृत्त ॥ ६२ ॥

धारानगरी में प्रवेश

वहाँ उज्जयिनी में कञ्चि-गर्जना एवं घन-गर्जना की भांति बाघों की ध्वनि से युक्त उत्सव करके कुछ दिन ठहरकर फिर वह कुलभूषण नरेन्द्रचन्द्र सिन्दुराज अपने शिकार के वृत्तान्त ने लेकर सम्पूर्ण कथा मन्त्रियों से कहता हुआ, कुल की राजधानी धारानगरी में प्रविष्ट हुआ ॥ ६२ ॥

ऋघाटितेष्वयं विलोकनकौतुकेन वातायनेषु परितः पुरमुन्दरीभिः ।
तस्मिन्निराद्विशति जीव इवैश्वरे सा प्रोन्मीलितोरुनयनेव पुरी बभूव ॥ ६३ ॥

राजा को देखने की इच्छा ने चारों ओर जब पुरमुन्दरियों ने वातायनों को खोला तो जिस प्रकार ईश्वर में प्रवेश करने पर लीव की वशा होती है, उसी प्रकार वह पुरी मानो नेत्रों को उधाड़े के उधाड़े ही रह गई, अर्थात् किसी ने भी लिङ्गियों दन्द नहीं की ।

विमर्श—वर्माध में लीव की आँखें खुली की खुली रह जाती हैं, वही भाव यहाँ पर है ॥ ६३ ॥

शिवलिङ्गप्रतिष्ठा

तन् साध्वकारयदयाधिगतप्रतिष्ठं तत्राच्छदस्त्वशिवलिङ्गमनर्घशीलः ।
तस्य प्रभाववटितैर्व्यधुरर्हणां च विद्याधरा विकचकल्पतरुप्रसूनः ॥ ६४ ॥

शिवलिङ्ग की स्थापना

तब धारानगरी में सुन्दर स्वभाववाले सिन्दुराज ने न्फटिकनिर्मित उस शिवलिङ्ग की अच्छी तरह से प्राणप्रतिष्ठा करवाई । उस समय उसके प्रभाव से विकसित कल्पतरु के फूलों से विद्याधरों ने भी पूजा की ॥ ६४ ॥

अनुयायिप्रस्थानम्

कृत्वा यथोचितमकृत्रिममुत्सवान्ते
सत्कारमायतनतिश्लथमौलिरत्नौ ।

दत्ताङ्कपाणिरुभयोः प्रजिवाय सोऽथ
विद्याधराधिपफणीन्द्रसुतौ स्वदेशम् ॥ ६५ ॥

साथियों की विदाई

उत्सव के अन्त में राजा ने यथोचित हार्दिक सत्कार करके प्रणाम करने के लिए सिर मुकाने से जिनके मस्तकमणि दीले हो गए थे ऐसे विद्याधरराज और नागपुत्र (शशिखण्ड और रत्नचूड) दोनों को आलिङ्गन देकर उन्हें स्वदेश जाने के लिए विदा किया ॥ ६५ ॥

एकस्तयोरगमदन्वरगामिसैन्य-

सीमन्तिताम्रपटलः शशिकान्तशैलम् ।

अन्योऽप्यगाधनलमालजडकन्या—

मिश्राणितोरुसरणिर्निजराजधानीम् ॥ ६६ ॥

उनमें से एक तो बादलों को चीरता हुआ अपनी सेना के साथ आकाश-मार्ग से शशिकान्त पर्वत पर चला गया । और दूसरा भी अगाध जलजाली मालव जङ्गल गंगा के तटवर्ती मार्ग से अपनी राजधानी पहुँचा ॥ ६६ ॥

शशिप्रभासखीगमनम्

मा भू कदापि मिमसा रमणे यदस्य

छदानुवृत्तिरतिमननं न मदस्य ।

सकृत्वेति तामहिमुतामगमन् गृहाणि

गन्धर्वकिन्नरमहोरगसिद्धकन्या ॥ ६७ ॥

शशिप्रभा की सहेलियों का प्रस्थान

“देखो शशिप्रभा ! कभी भी अपने पति से नाराज न होना, अपने गर्व का बशीकरण करके तुम इसकी दृष्टानुसार आचरण करके ही इसे अपने अनुकूल रख सकती हो ।” इस प्रकार उस नागपुत्री को समझाकर गन्धर्व, किन्नर, महा नाग और सिद्धों की ब्यायें अपने अपने घर चली गई ॥ ६७ ॥

साम्राज्यलक्ष्मीस्वीकारः

नीलज्जत्रातसा भुजगपतिमुतापाण्डुगण्डस्थलाव —

कस्तूरीपङ्कपत्रव्यतिरशषलव्यायतासे सलीलम् ।

देवेनाथ स्वमन्त्रिपनरचिरधृता साहमाङ्गेन दीर्घे

रोहज्याघातरेरे पुनरपि निद्वे दोष्णि साम्राज्यलक्ष्मी ॥ ६८ ॥

इति भी मृगाङ्कदत्तस्यो परिमलापरनाम्न पद्मगुप्तस्य कृतौ

नवसाहसङ्कचरिते महाकाव्ये शशिप्रमालामो

नामाष्टादश सर्ग ॥ १८ ॥

साम्राज्यलक्ष्मी का स्वीकार

देव नवसाहसङ्क ने नील छत्र से निर्मूषित, और पणिराज की पुत्री के पीले कपोल पर लगी कस्तूरी की पनरचना के कारण बरधुरे लम्बे चौड़े कंधे वाले धनुष की डोर क आवातों से चित्रित मिशाल बन्धों पर अपने मंत्रियों की चिरकाल तक धारण की हुई राज्यलक्ष्मी को पुन धारण कर लिया ॥ ६८ ॥

मृगाङ्कदत्तपुत्र परिमलोपनामक पद्मगुप्तरचित नवसाहसङ्क

चरित महाकाव्य का शशिप्रमालाम नामक

अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥



अथ ग्रंथप्रशंस्तिः

श्रीमत्कविप्रियसुहृच्छलदङ्करामराजेन्द्रभक्त्यधिगतप्रतिभाविशेषः ।

एतद्विनिद्रकुमुदद्युतिपद्मगुप्तः श्रीसिन्धुराजन्तपतेशचरितं ववन्ध ॥

ग्रंथ की प्रशंसा

परमशोभासंपन्न, कवियों के प्रिय सुहृद अर्थात् कवियों का आदर करनेवाले विस्तृत लक्षण (यश) वाले राजधेष्ठ रामचन्द्र भगवान की भक्ति के फलस्वरूप विशेष प्रतिभा को प्राप्त करनेवाले पद्मगुप्त नामक कवि ने (अर्थात् मैंने) श्री सिन्धुराज नवसाहसाङ्कन्तपति के इस विकसित कुमुद के तुल्य सौन्दर्यवाले चरित-काव्य का सृजन किया है ।

लक्ष्मीलतानवयसन्तमहीतलेन्द्र विद्याविलासमणिदर्पणसिन्धुराज ।

एतन्मया घटितमज्ज्वलकान्तिकाव्य-माणिक्यकुण्डलमिह श्रवणे विधेहि ॥

लक्ष्मीरूपी लता के लिये नये वसन्त के समान हे धरती के इन्द्र ! विद्या के विलास के लिए मणिदर्पणस्वरूप सिन्धुराज ! मैंने यह उज्ज्वल कान्तिवाला काव्यरूपी मणिकुण्डल बनाया है, इसे अपने कानों पर धारण कीजिये ।

विमर्श—मेरे उज्ज्वल कान्तिवाले मणिकुण्डलों की भाँति सुगठित इस काव्य को आप सुने । अर्थात् जिस तरह मणिकुण्डल सौन्दर्याधायक होने से आनन्ददायक होता है, उसी तरह यह काव्य भी आनन्ददायक होगा ।

न्यस्तानि यानि मयि सूक्तिसुधापृषान्त ।

देवं तेन कतिचिन् कविबान्धवेन ।

चन्द्रातपस्नपितमौक्तिकसोदराणाम् ।

तेषामिदं विलसितं नवसाहसाङ्क ॥

हे नवसाहसाङ्क ! कवियों को चाहने वाले (वाक्पतिराजदेव) देव मुझि ने मेरे हृदय में जो कुछ सूक्तिसुधा के फल भर दिये थे, चन्द्र की व्योम्ना से सराबोर मोती जैसे उन्हीं सूक्तिरूपी अमृतकणों का यह काव्य विलास है ॥

यच्चापलं किमपि मन्दधिया मयैवम् ।

आसूत्रितं नरपते नवसाहसाङ्क ।

आज्ञैव हेतुरिह ते शयनीकृतोत्प-

राजन्यमौलिकुसुमा न कवित्वदर्पः ॥

हे राजन्, अपनी मन्द बुद्धि से मैंने इस प्रकार की अपनी चपलता को जो इस काव्यरूप में निबद्ध किया है, इसमें समस्त बड़े पराक्रमशाली राजाओं के शिरस्थित मुक्तामणियों को धराशायी कर देनेवाली आप की आज्ञा ही कारण है । मेरा अपना कवित्व का कोई गर्व इसमें नहीं है ।

इति नवसाहसाङ्कचरितं सम्पूर्णम्

श्लोकानुक्रमणिका

अ	पृष्ठ	अतिदृढमनुरक्तया	पृष्ठ
अशुकेन शरदिन्दुमधुना	१२८	अतिदुर्लभसूर्यभासि	४७
अमावलग्निसीरिभ्रत्	१६५	अतिदूरत षष्ठ दूरयते	७५
अस मवत्कलप्रग्नि	१७६	अतिपाटलाधरमवाञ्छित	१५५
अक्कणमकेयूरम्	१७९	अतिमासुररत्नकुण्डलाम्	१८३
अकरात् पद्	२३१	अतिमात्रमुपोदसौकुमार्ये	६५
अकलङ्काकृतेस्तस्य	८४	अतिवत्सल्या सम सखीभि	८०
अकृत्रिमध्रीमिलयेन	२००	अतिविततगुणैकधास्त्रि	४५
अकृत्रिमयागसमुद्गतामि	१६	अतिवेलमुत्तरदिगन्तवर्तिना	१४७
अकृत्रिमोऽय गुग्गुलुसु	१३३	अतिरक्तमायततरेण	२३५
अकृ वा भवत प्ररन	१६७	अतिरागिणी प्रणयिनीव	२३५
अकृतातिथ्यमेतस्य	११७	अतिसान्द्रकाञ्चन	१४६
अक्षिपत्तटशिलाचिट्छित	१२३	अतिविनतशशि वहन्न	४७
अकारि कापेयमिद्	२०६	अति स्वाधीननीवार	१७८
अकाङ्क्षुलपितै	२६	अतीते विक्रमादिष्ये	१७९
अपण्डमण्डलेनाय	१७४	अतो वरोऽय युवयो	१११
अगमत् त्रयस्य मममेव	२३५	अत सम्प्रति वीचन्ते	१६५
अगलन् कुसुम पात्रात्	१६१	अथ कनकमृगालिका युगस्य	४९
अग्रत कृतपयोधरश्रिया	११९	अथ कमलमरस्तरङ्ग	४४
अग्रत स च	१२८	अथ क्रमोन्मीलितसीङ्गदाम्	१८०
अगाधपातालतलोद्भवानि	१४२	अथ किन्नरानेन्द्र	९३
अद्वाद्मिमासपृषत्	२६३	अथ ताभिरेकतपनीय	२३१
अचल विप्रय पतत्रिणो	७३	अथ ता गृहीतशरदिन्दु	२३१
अक्षितयत् मेति च	५६	अथ ता शिथिलीकृतप्रपाम्	१९३
अज्ञातपाकस्य भवातपाधिका	२००	अथ द्वययागनिपाकशासन	२०१
अज्ञायताम्त नरणेन	१९७	अथ द्विरेफस्य	११२
अयम्बुदशनोद्	१७३	अथर्धिमस्या परव्यासि	६२
अयादरानतसुरामुरमौलि	२७७	अथ नमसि पिशाटाप्य	४६
अतसीकुसुमोपम	१८८	अथ प्रजालाधरविम्बचुम्बि	२२३
अत्रातरे श्रुति	११४	अथ पयि नवसाहसाङ्क	२०९
अत्रान्तरे प्रमदलोलदशा	२८०	अथ पार्श्वचरेण	१८२
अत्रान्तरे नभस्मिन्धु	२४०	अथ बहुचरते	३४
अत्रातरे समायाती	९५	अथ मदगवलीलावेल	८०
अत्रोर्वीतिलके	९१	अथ मधरलोचन हिमा	१९२
अतिकम्पमूर्मिकुटिल	२३१	अथ स्वरेणागणदीपिकाणा	१३२
अतिकाति गुणाभिराम	६८	अथ मानवमीनलक्ष्मणो	१८१

अथ माह्यवती नाम	८४	अथेदं रत्नवल्यं	१७८
अथ सुखरखगापनीत	३२	अथेन्द्रचापललितं	२७
अथ मेकलाचलसुतातिरोहिती	१४४	अथंतेन गृहीतेयं	१७८
अथ वदति शनैः	२५८	अथैष दीर्घा दशनार्चिषः	५३
अथ वल्लभार्पितकराग्र	२२७	अदृश्यमेतच्छदि	१०९
अथवा परतोऽस्तु नर्म	७८	अद्य नः सफलं	८९
अथवा मृगयिष्यतेन	७५	अदृश्यैरथ सा	१७७
अथवा मृगभङ्गिनोपनीते	७३	अद्य नः पुण्यवीजिन	१६७
अथवाऽस्यास्ति शक्तिश्चेत्	२५५	अदृष्टेऽप्युत्सुका	८३
अथवा सुभटैः	२५८	अद्यैष कस्यापि मया	१३२
अथ विद्रुमताम्रोष्ट	२४२	अदः सुगन्धीकुरु	२२०
अथ विभ्रत् सरागेण	१६०	अध्यामते कामपि	२१९
अथर्वेक एव विभुरस्यरेवधे	१५१	अधराग्रमुन्नमवाप्य	२३६
अथ शुचि पठता शुकेन	१९४	अधिकर्णमुदगतमयूख	२३२
अथ स त्रपया धृतांशुकाम्	१९४	अधिकाधिकजातलज्जया	१९४
अथ सानृजुवादिनी	७९	अधिरोहति यत्र वंश	६८
अथ सा सिद्धतनया	८५	अधिरोहति स्वयमचिन्तिता	१४४
अथ सुतनुरलोलतारके	९९	अधीत्य कौतुकेनाथ	८३
अथ स्वविम्बाधर	१०५	अधुनापि देव	१४७
अथ स चटुलपट्पदो	३४	अधुना पुनरत्र विन्ध्यपादे	७०
अथ सम्भ्रमादनुचरेण	५०	अधुनैव तेऽत्र निजतां	१५०
अथ समुदित्रासा	११४	अधःकृताः सत्यमधीरलोचने	१०८
अथ सस्मितमात्तवेपथुः	१८३	अधः स्थितोऽुामर	२७०
अथ सान्द्रघर्मजलविन्दु	२२६	अधः सन्नद्धमेधेषु	१६९
अथ सा वदने नवेन्दु	६५	अनङ्गकल्पद्रुममञ्जरीणाम्	२२२
अथ हारमनादरेण कंठात्	७६	अनङ्गचण्डातपतप्तयोः	५२
अथ हारलताविकृष्ट	७७	अनङ्गतापवत्यस्या	२४६
अथार्थर्वविदामाद्यः	१७१	अनङ्गसाम्राज्य	१०२
अथादधद्वक्त्र इवांशुकाञ्चलं	१९८	अन्तर्जटापिहित	२७७
अथाऽदूरे सुखासीनः	१६६	अन्तः प्रवेशायामास च	२४०
अथाधिगन्तुं किल तस्य	५९	अनयन् सहसैव	२३७
अथानङ्गवती नाम	८८	अनया साम गायन्त्या	१६४
अथान्तिकस्थेन स	२११	अनया विद्रुमस्तम्भ	२७
अथार्पितं तेन फलं	२००	अन्योन्यकृत्तास्तरसा	२६३
अथावर्तसीकृत	१०६	अन्योन्यसंश्लेष	१३
अथाश्रमोपान्तमहीं विहाय	२१०	अनर्पणं महीपाले	२५७
अथास्य कोपः प्रशशाम	२०६	अनयोः किमपि त्वया	७८
अथास्य सीदन्मणिवन्धनात्	२००	अन्योन्यपल्लवित	२७९
अथासुरेन्द्रद्विरदेन	२६८	अन्योन्यसंघट्टवशेन	२६०
अथाहिविद्याधरराजसैन्यैः	२६०	अन्योन्यसंघट्टविसूत्रितानि	२१३

અનરૂપલાવણ્યવિલાસ	૫૨	અમ્યાગતાયા સહસાઽમુનાસ્યા	૨૧૯
અનરૂપસરૂપત્રિકલ્પજાલ	૧૫૮	અમ્યુદ્ગતા	૨૬૯
અનવદ્યમિત પુર	૧૮૯	અમ્યુદ્ગતાચિરનલો	૨૮૩
અનાતપત્રોઽપ્યયમદ્ર	૫૭	અમવદ્ દ્યયમેવ	૧૮૧
અનિવારિતકેલિકૌતુકા	૭૦	અમિકામમિસર્તુમુદત	૬૮
અનુષ્ઠિતીશ નલિનીદલાસને	૧૦૬	અમિકાન્તમપાદ્મપાતિના	૧૮૨
અનુગુણપદચિનિર્ગતાસુ	૪૭	અભિગમ્ય ય્વ સ તવાધુના	૧૭૯
અનુપુજિતપિદ્મદીપિતિ	૧૮૬	અભિતોદ્ગનામુપેમૃગાઙ્ક	૨૨૯
અનુપાધિમ્પાદ્મતા	૬૭	અભિષેદિ ડ્રવ કુન્નહલસ્ય	૬૬
અલુલિપ્તપિ રોદ્યતી	૬૬	અભિનવલિખિતામિવ	૮૯
અનેકરૂપાઽલિલ્લખ	૫૭	અભિનવવિમલજ્ઞયા	૧૮૭
અનેન ક્ષનાપિ તવાશ્રમે	૨૦૫	અભિસરતિ વનસ્થલી	૪૭
અનેન ગેલેન્મદ્દન્તિના	૬૨	અમેદ્મિન્દુના મીત	૮૩
અનેન ચ્ચેદ્યોગમુપેતિ	૫૮	અમન્દમારનાલેપમુક્તમ્	૧૬૧
અનેન તાવદ્દશો પુર	૧૯૯	અમ્મસસ્તનદગ્ધપાતનાદિતાત્	૧૨૩
અનેન તે સશ્રમચારિચિન્દુના	૧૦૯	અમૂન પર્યાકુલા	૯૭
અનેન તે સુન્દરિ	૧૦૮	અમેદ્મુહસ્તવકાભિરામૃતા	૫૫
અનેન પીનસ્તનકમ્પ	૬૧	અમિત્વજ્ઞાસ્ય	૯૩
અનેનમેકોઽપિ હરિ	૧૩૭	અમીભિર્યાલિ	૨૬
અનેન રૂપાનિશયેન	૫૫	અમી સરોજપ્રતિમે મુખ	૬૧
અનેન ચિન્ધ્યાદ્રિવિહાર	૬૧	અમૃતેન્દુરુલા સહોદરા	૭૫
અનેન વિહિતાન્યત્ર	૧૭૭	અમુના શતપત્રધન્વના	૧૮૬
અનેનાસ્ત કપોલેપુ	૧૭૭	અમૂનિ પુષ્પાણિ મહીરુદ્ધાણામ્	૨૧૬
અનેનેન્દ્રસિ ચેદ્ કર્તુ	૨૫૪	અયમભિનવકર્જિકાર	૮૨
અપકર્તુમત્ર સમયે	૧૪૬	અયમિદ્દિ ક્ષતામુપેતિ	૪૨
અપ્યપાદ્મનરય સ	૧૧૯	અયમુચિતતર જ્ઞાનિશ્રિયો	૩૯
અપયાતુ લગ્ન સ	૭૪	અયમુત્પલપસ્ત્રલોચને	૧૮૪
અપરિસ્ફુટોન્નિલલિતાસુ	૨૩૭	અયમુલ્લિલિત ધ્રુવ	૧૯૦
અપદ્મમગાસ્ત્રમેવ	૭૭	અયાચિતોઽપ્યપિત	૧૧૨
અપાદ્મસવર્ધિત	૧૦૨	અયિ ! કથય સિતચ્છદ	૩૯
અપાસ્ય ધામેતરકર્ણમૂષણ	૧૯૬	અયિ સ્વા	૯૩
અપિ કૃતનયનોત્સવેન	૪૯	અયિ મેકલાદિતનયા	૧૪૪
અપિ કોશગૃહોદરે	૭૭	અય મુલિનપીલોમી	૨૪
અપિ દત્તકુન્નહલા	૬૮	અય મેત્રોત્સવસ્તસ્માત્	૧૦૫
અપિ ચન્નવધૂરિય	૧૯૨	અય સ ન સ્પાશ્ચરસાદસાઙ્ક	૮
અપિ જ્ઞાત્યયેતસ્ય	૨૫	અય સ નો દ્વાર દ્વાસ્ય	૫૮
અપિ નામ મૃદૂનિ	૭૬	અરણ્યમહિષેર્દૂર	૫૧
અપિ ધમેનાયતમાગત મના	૧૯૮	અરણ્યાની કવેય છત	૮૦
અપિ સ્વચ્છજલા	૨૭	અરતિત્વમવાપ્યામ્ભ કળિકેય	૨૬૫

अर्धचन्द्रमथ तज्जिघांसया	१२५	असतामसुहृज लज्जते	७४
अरविन्दकरेण लोहितं	१८४	अस्ति क्षिताबुजयिनीति	४
अरविन्ददलत्विषा करेण	७०	अस्याः क्षमापाल	२१५
अरविन्दमुखकोट	१६१	अस्याखण्डलकोदण्ड	२५
अरातिमुक्तेषु	२६९	अस्याः श्रुतौ चम्पकमादधत्याः	२२१
अरालकेशीयमनेन	१०१	अस्याः लताक्षेपविसृजितस्य	२१७
अरुचदथ करे स	४७	अस्याः स्मराप्रिसन्तप्तं	२४५
अरुणाङ्गुलीदलनिरुद्ध	२३४	असावितः पाथिव दन्तपत्रम्	२१८
अलकच्युतमन्दार	१७०	असितकान्तिजालजटिलाग्रवाहुना	१४७
अलक्ष्यसन्धान	२६५	असिताञ्जनाङ्गमभिजात	२२९
अलङ्कृतः कस्य	२०१	असुराधिपतिं सान्ना	२५०
अलं प्रहस्य भूपाल	२२	असुरेन्द्रस्य दोःकण्डु	२५१
अलं विपादेन धनाधिरुढा	१३३	असूययेवाथ विमुञ्जती	१०७
अलं हयैवं समुपेक्ष्य	१०४	असूचयत् प्रसङ्गेन	१७८
अवकृष्य सलीलमुत्तरीयात्	७७	अमेवन्त समीरास्त	२२
अवदक्ष विहस्य पार्थिवेन्द्रः	७६	असैरिभमसारङ्ग	२२
अवददथ विद्युद्धपुण्डरीक	३८	असौ पराधीनतयाऽस्पदीकृता	५६
अवददथ स साहसोन्मुख	१४३	असंशयं प्रागसृजत्	१६
अवधूतमानमधुपानरस	२३६	अहिराजसुतानिदेशतः	७२
अवन्तितिलको	९७	अहिराजसुते विलोक्यताम्	१८९
अवनीवलये त्वमात्तदण्डः	७८	अहो किमपि कल्याणमासन्न	२५३
अवपेत समुन्मीला	८३	अहो गुणेन राजेन्द्र	२४२
अव्यात् स वो यस्य	१	अहो दूरस्थितेनापि	९०
अवलोकय भीरु सम्प्रति	१८५	अहो न कस्य भिन्दन्ति	९२
अवलोकयामि शकुनं	१५१	अहो पुराणराजपि	१७९
अवश्यं तन्वि	९४	अहो वत विदग्धोऽपि	२५४
अवश्यंभाविनी तत्र	१७९	अहो महत्साहसमेतदेव	३
अवशा स्याऽभवच्चित्रं	८१	अज्ञानमस्मिन्विषये	१३७
अवाप देवः श्रियमन्तिक	६०	आ	
अवाप्य गस्यां गृहदीधिका	८	आकर्णकृष्टात् धनुषः	२६४
अविरलमणिदीपोद्द्योत	२३८	आकर्णकृष्णकोदण्डस्त्वां	२४५
अविशङ्करनाथनाम	७१	आकर्णितानां मरुतेषु	१४
अवैमि गीतेन हते	८	आक्षिप्य हारान्	१३
अवैमि संवेयममोघ	१००	आक्रान्तदिङ्माण्डल	१४
अशून्याः सुरगन्धर्व	२५	आत्तप्रसाधनमनङ्ग	२८०
अशेषभुवनख्यात	२२	आदातुमवतंसाय	१६८
अशोकपुष्पप्रथितां	१३५	आदाय सादरफणीश्वरदत्तमर्ष्यम्	२७४
अशोककण्ठलम्प्रेयं	९२	आध्मान्ति पातालतले	२६२
असत्कवेर्वागिव	५३	आधूतकार्तस्वरकेतुयष्टि	२१२

आननेन लक्षितादिपद्मगा	१२९	इत्युक्ते मष्ट्य तेन	२८
आनन्दवाप्यमलिलाद्	२८५	इत्युक्ते मुनिना सोऽथ	१५९
आनेनुकामेन भवन्तमत्र	१४०	इत्युक्त्वले तस्य	२०३
आनीतया श्रुति	२८३	इत्युदीर्य माणिकान्तिकदली	१८३
आनीय तद्यो दुहितुर्ममास्या	१३९	इतरा पदाद्वमिव	२३३
आनीयताकुन्त्रव	८६	इति कथयति चाप	४३
आपान मरमाद्द	१२४	इति चिनीश्रुतिश्रुतिपेयाम्	१३६
आपानभूरवमितामव	२३७	इति किञ्चिदेव न तव	१४८
आमन्तुगुप्त कलह्य	४	इति त्रियदपि यावद्व	५०
आमन्तुगुप्तपदहस्वनसूचित	२०८	इति तद्वचम	९५
आयामिमालामणिकानि	२११	इति तद्वचसा स्मरैक	४६
आयद्वा चन्द्र	२६७	इति भरपते स्वाम्ने	१५८
आयद्वागङ्गस्य कृपात्रिचिन्ता	१३५	इति पार्ष्णिधन कथिते	१४५
आयद्वागसेय गमिना	२१९	इति पार्ष्णिधनमुदीर्य	१५३
आलक्ष्य स्तनसक्यलक्ष्मणि	५०	इति पृष्ठवते तस्मै	२८३
आलोक्य रूपगतले	२७५	इति प्रहृष्टा मधुरोक्ति	६
आवर्तनामूर्मिलतायमान	२६२	इति प्रियमग्नीसूक्ति	९६
आवृत्तिवृत्तमन्त्रेणा	२४८	इति भूतलक्ष्मणव स	१९२
आधयस्ववनिमेघवाहने	१२४	इति वक्त्रु जहरति	१५४
आग्ना किमयै फणिभि	१४१	इति वक्त्रु वक्षो	७९
आमन्त्रपद्मरमा	१६०	इति विरतवक्षस्युदीर्य	३९
आमन्त्र मुखाणि	२०१	इति साऽभिहिता मृगायतादी	६३
आमन्त्रानुचरपृतेन	९९	इति सा समुदीय तत्	७३
आमामित सत्वरगामिनीनाम्	२१३	इतीहितेनै वदति	१०४
आमा पृथुम्बद्वङ्गाङ्कितानि	२२२	इतीतिवृत्त तदुपाग्रय	११२
आसा लताप्रस्तवकोपितानि	२१६	इतो गात्रपरावृत्ति	१६४
आसा मुधारसार्द्राणा	२५३	इतोऽथ याती पुरतो	१३३
आसीत् पुरस्तात्रिपुरावमन्त्रे	१४२	इतोऽप्ययमपि परय	१६४
आमीनमन्त्रनश्याममुच्चै	२५१	इतो मिथ पार्श्वविघटितेषु	२१३
आह्लादहतुं शिग्धे	२७	इतो रस पञ्चवयसि	२१४
आहृत इव साटोप	२०	इतोऽवतसोऽप्यललास्य	६१
इ		इतो वान्ति हविर्धूम	१६३
इत एव निवततत्र	२५५	इतोऽस्ति गव्यूतितात्पर्यमात्र	१४०
इत्येकालजलजलादिवैकृते	११९	इतो हिरण्मयी मृमिस्तरवा	१६३
इत्यादि व्याहरन्ती	९३	इत शिलोऽक्षगतले	५७
इत्यापनन् मदनरागापरम्परानाम्	२४५	इत स चित्राङ्कित	५६
इत्युक्त्वति सामपभट्टष्टे	२५४	इदमववर्तिना	१८३
इत्युक्त्वा विरते	२५	इदमज्ञवनीमाहृतम्	१९०
इत्युक्त्वा विरते तरिमन्	१६८	इदमज्ञाहृत परय	१६४

इदमर्धविलोकिताधरं	१८४	उचितं निजसायकानुरोधात्	७९.
इदमभ्यरपत्त्वलोदरात्	१८५	उज्जति स्म स ज्ञानैः	१२२
इदमिन्द्रजालमिति मे	१४४	उज्जिता झटिति	१२४
इदमुद्गतमिन्दुमण्डलम्	१९०	उहुभिः खमितस्ततः	१८९
इदमोमिति गृह्यते	७६	उक्षिप्य वेपथुमता	२७४
इदं नृप त्वमवलोक्य	१३२	उत्पद्यमा निरुपमोहसित	२८१
इदं भान्त्यतिलोहितातपस्तवकाः	१८५	उत्पतन्निपतदग्रतो	१२६
इदं महच्चित्रममानुषं	६२	उत्पनाकमणितोरणाङ्कितं	१२७
इदं मृणालादपि	१०९	उत्प्लुत्य वेगात्	२६१
इदं वदाशिक्षत	१०९	उत्प्लुत्य हेलाहत	२७०
इन्द्रनीलकपिशिर्षकं	१२७	उत्तंसितेन्दुशकलाय	२७८
इन्द्रनीलप्रतोलीतः	१६०	इत्युक्त्वा सूक्तिचतुरो	१७८
इन्दुः कटकमाणिक्यं	१६९	उत्सृज्य गीतमसमाप्य	२७४
इन्दुद्युतिः कुन्दसितान्	१४	उदग्रकस्रोलकदर्थित	२०३
इमाः समं प्राणसमैर्वनेऽस्मिन्	२१६	उदग्रतुरगाधिरुदः	१८
इमां त्वदाकारनिरूपणे	१११	उदग्रदिग्धारणहस्त	५२
इयत्तया मुक्तमवैमि	१०१	उद्घाटितेष्वथ	२८६
इयमत्यच्छुद्धये	२४५	उद्ब्रज्जिन्द्रचापानि	१७०
इयमश्रुतरङ्गितां दशं	१८६	उदञ्चितव्यायतपद्यमा	१११
इयमिन्दुद्युतिहरं	२४६	उददीयत खे मुखेन	७१
इयमिन्दुमुखि त्वया	१९१	उदनमदय तत्क्षणादुदञ्चत्	११४
इयं किमु स्याद्भनदेवता	५६	उदरस्थितयोः कुतूहलात्	१८८
इयं त्रियामापतिका	१०३	उदस्य वक्त्राणि	२१०
इयं तवानेन	१०१	उदितत्रपा इव	२२७
इयं नताङ्गी	१०२	उदितानि तमांसि सा च	१८७
इयं परिभ्रान्तिरगेन्द्रकन्दरे	६२	उदितासु काञ्चिगुण	२३३
इयं पुरो निर्यतिदूरमायते	१०३	उदितेन वैरितिमिरदुहा	१४७
इयं महीपालविलोकितेन	१०३	उदित्य पट्वत्या श्रमवारि	६१
इयं विलासोर्मि	१०१	उदियायमानतिमिरौघ	२३४
इय सुधा सुग्धविलास	१०१	उदेति कान्तामणिमेखला	५
इर्पाश्रुलवकीर्णेन	९५	उदण्डहेमाम्बुरुहासु	१३४
इह किं प्रतिस्फुरति	१४५	उदामदुग्धाब्धितरंग	१२
इहानुतापो भगवन्	२०६	उद्यद्विधृतकरवेणिकया	२७५
उ		उन्मोचयन्तीमलकाग्रमेत्य	१३४
उक्त्वेत्यनर्धमतिपावन	२८४	उपयुक्तामृतस्पर्धि	१६२
उक्ते तयेत्यकृत	२८१	उपरोधमिमं न मन्यसे	७३
उक्त्वेति तूष्णीभवन्तृसोमः	१३७	उपवन इव सम्भवः	४०
उच्छिन्दतः क्षमासरसी	१६	उपान्तविश्रान्तपयोदमण्डलैः	२०३
		उपायनीकृतोजिद्र	१९

उपोढतारापतिता	१०३	एष जानु न विकल्पते	१२२
उपोढनानामणिमौक्तिकोत्करै	२०२	एष ते न घटति	११७
उपोढलावण्यतरङ्गमद्गया	१००	एष दृष्टस्त्वयेत्युक्ता	८७
उल्लसन्नपयोधरालसा	११६	एष वज्राकुशस्याजी	१७९
उल्लस-कुटजा	९८	एषा तमालावलिनीलकाते	२१५
उल्लासिषु स्वर्गगवाक्ष	७	एषा शिखेव दीपस्य	२४६
उवाह लज्जानत	१०४	एषां द्वितयमेताभि	१६४
उवाह विस्फुरजाल	२९	क	
उरसा रङ्गीर्वाण	२५१	क एष राजेति	१११
उरमि नरपते पतन्	४८	कञ्जिदस्य प्रमोदाय	८९
ऋ		कठोरातपतस्य	२७
ऋतु ऋचित् षाप्यनृतु	५५	कर्णभूषणमणिप्रभालत्रे	११७
ऋतु तमथ विद्यायमा	४३	कर्णावतसीकृतपञ्चवाना	२२२
ऋतुनेषत यश्चित्र	८८	कतिचिदपि लतान्तरे	४७
ऋतु प्रकृत्यामि पर	१३६	कतिचिदलिनिपीत	३५
ए		कथञ्चित् प्राणनाधस्य	२४८
एकत्र पाथ क्षशिवण्डनामा	२६७	कथमेता प्रविष्टस्त्वम्	२४१
एकस्तपोरगमदम्बर	२८६	कथय त्रिपे निहितसात्र	१५७
एका माणिक्यकटक	२४९	कदलादलदन्तमारुतो	१८१
एकेन राजहसेन	९७	कदाचित् पाटले कश्चित्	२४२
एक शिमी माहासिकसवमेव	१४०	कदाचिन्नोचनातिप्य	१८
एताकर्णात्पल	९०	कनकारविन्दमरविन्दलोचन	१४९
एतद्योगोभटकरै	१७६	कन्दपदर्पशमनाव	२७७
एतया साग्रत द्रुहि	२५२	कन्दपस्य त्रिलोकाहठ	२३८
एतान्पयन्तीश्वरपारिजात	४	कम्यकासि	११८
एतानि परम	२२२	कवन्धकथोद्बलदत्तवत	२६३
एतामि काश्चै	२२१	कमलेव मुकुन्दस्य	२५६
एता मिथो रङ्गविमानमार्गा	२२१	कया न सारङ्गदशांसि	१९७
एतासु मीदन्मजिबधमूल	२२२	करादनुचरस्तस्य	२८
एता करै काञ्चनपद्मगौरे	२१६	करुणार्पितलोचन मिथ	१८१
एता प्रयात्य पुरतो	२१३	करेण विभ्रमधुमत्त	१९९
एते गतिक्षोभवशात्	२१३	करेण सासूयमपास्य	१११
एते रलीनपतशागिताका	२१५	कस्तव गृहा	२८२
एभिर्महीपालविमानरश्नै	२१४	कलहस्तकलस्वनैविबुद्धा	७०
एवमारुण्य ललित	२४७	कस्तुलाग्रमधिराप्य	१२३
एवमादि यदभून्महामनेरद्भुत	१२६	काक्पण्डितमूर्धान	१६३
एव निसर्गमधुराण	६४	काचित् पर्यङ्गमालोचय	२४९
एव सुधारससमृद्धिमनोहरेण	२०७	कादम्बचन्द्रस्तचन्द्रावकी	२२४
एष चैत्रोत्तराश्विने	९३	कात्यानुलिप्तानि	१६

कान्तायशोभटयुतं	२८५	कुर्वन्ति यस्यां कुसुमेषु	८
कान्तिच्छटाच्छुरिता	२७६	कुर्वन् सुखानि स्मेराणि	२५२
कामं दुर्लभमेवैत	९४	कुरु विजयमितो	४३
कार्मुके सति शरेषु	१२१	कुसुमशरसखस्य कस्यचित्	४९
कारितासनपरिग्रहे	१३०	कृजन्ती कोकिलवधू	९१
किं ताम्रसि	९१	कृतचाटुशतैः परस्परं	१९१
किं निमग्नमिह चालया	१२१	कृतनूतनार्गलकपाटसम्पुटां	१५०
किञ्चापरं त्वमेतस्या	२४७	कृत्वा यथोचितमकृत्रिम	२८६
किञ्चित् त्रपानुविद्धेन	८७	कृतसम्भाषणा साथ	२४१
किञ्चिदन्तरितमूर्मिभिः	१२३	कृताङ्गदः कम्बलकालिकाभ्यां	१४१
किञ्चिदस्य पुरतोऽथ	१२५	कृतानतिभ्यः सहसा	१५
किमत्र करवै	९१	कृतानतिर्विस्मितमानसे	२०१
किमनङ्गवती वक्ति	२४२	कृतावधानातिशयेन	११
किमन्यजायतामेप	२५६	कृतावतारं तद्वंशे	२५६
किमन्यत्तव	८५	कर्ताति चार्ता तव वेत्ति	११०
किमन्यत् सममेतेन	२५८	कृती दशाऽस्याः सुदशः	१०६
किमन्यदत्रोल्लसितं	११३	कृतं यदेतेन मुनीन्द्र	२०७
किमन्यदस्याः कृतपाणिपीडनः	११३	कृपाणपातैर्दलता	१४
किमन्यदस्याश्चरितैः	३	कृतातामङ्गके गाढमस्याः	२४५
किमन्यदुक्तं सुधयेव	१०३	केयूरपञ्चरागाशुमञ्जरी	२५१
किमन्यदुत्तिष्ठ गृहाण	१४२	केपाञ्चिदूहः कवचानि	२६७
किमन्यन् नार्थिनां	२५४	कैलासशालवसते	२८२
किमपरमनुगम्य एष	३९	कोऽन्यः सखि	८९
किमयं मयि सम्भ्रमो	६५	कोऽयं कोप्ययमन्योन्यभवं	२५०
किमागतासि किं	२४२	कोष्णिनिः श्वसितवेपितच्छदं	१२१
किमाश्रमं शून्यमिदं	२०५	क्रियते बलयेनास्याः	२४६
किमालिखितवर्त्यपा	९३	क्रुधेवाधिज्यचापेन	२५
किमु विपुलमिमं मनुष्यं	४९	क्रोधादथार्धशशालान्छन	२७१
किमेतत् भवतिष्ठवे	८४	क्वचित्क्वचित् पतन्त्या	१६९
क्रियताप्यथ कालेन	२५०	क्वचित् क्वचित् स्वेद	५५
किसलयकलिताञ्जलि	४१	क्वचित्त्वयाऽयमज्ञायि	२५३
कुचयोः प्रतिविम्बितः	१९१	क्वचित् मणीनां	२०४
कुचलसपत्रलतयाथ	२२७	क्वचित् सुधापाण्डुनि	२४०
कुचाद्भरागः कृशमध्यया तथा	१९६	क्वापि नूनमपहृत्य	११९
कुतश्चापा तवालीषु	९०	क्षणादभिमुखेन खण्डिता	१८७
कुतूहलाध्यासित	१०८	क्षणमप्यहो पतमि मे	१५७
कुतूहलोह्लासितपद्म	२१०	क्षणादपाङ्गस्तिमिता	१०७
कुम्भस्थली-रक्षतु	१	क्षणाद्वलन्ति स्म	२६४
कुरववनतः कदम्भराजि	४३	धमायां यशुः खड्गपृथक्कृतानि	२६३

चितिचुम्बितहार सा	२४१	जगदेकत्रिलोकनोरसवे	१८३
चितिप रम्यसे किमेप	७८	जगाहे स महा	३१
चितिरेकातपत्राया	२१	जटाहिरबधतिपार	६१
र		जडरचिरपि रोचते	४०
श्वरोदभङ्गे न तथा	१४१	जाने जगन्मोहन	७
ग		जाम्बूनदलतागुलम	१६२
गत्वाथ दूरमहिविष्टपत	२८४	जायते पेशलमपि	२४६
गत्वा विद्याधरभटचभूचक्रवालै	२५८	जितमेतेन कोऽप्येष	८९
गतानि सद्य श्रूयतां	१३५	जितवर जगति	१२०
गतासु तीर तिमिरहृनेन	१०	ज्योत्स्ना सिताम्बर	२८०
गमने तदेहि सहितौ	१५२	जाम्बुविह्वितैवात्र	९४
गलिताद्गदा गुरुरग्नदलित	२३०	म	
गुप्ताभितो यन्निद्रसारिबीरै	१३९	झन्तिव्याप्तप्रतिविम्बमेतत्	२१४
गृहाणि यस्या सधराद्गमानि	५	झटिति विगते	१९५
घ		झटिति स्फुटभावसङ्गरां	१९२
घटित विधेर्दिग्मज्यर्मावधोर्न	१५४	त	
घ		त कारयपिसहस्रा	८४
चक्षार च पद चित्र	३१	त विष्टपत्रितयकण्टकदृष्टसारम्	२३४
चकाशिरे शक्नोभृता	२६७	त हेमकदलीपत्रकस्तूरी	२४३
चकिरे वेधस्ता नून	१७६	तटभुवि तमपरपदापत-त	४५
चक्षुस्तस्यानिलरुपर्दा	१६१	तटोद्गतप्राशुतमालराशि	२२४
चक्षुस्तदुन्मेपि सदा मुञ्जे	१	तरुणेनैव सा	८८
चतुरङ्गतकचप्रह स	३४	तत्कालोचितरुतंभ्य	१६२
चतुरां कोकिलामेप	९२	तत्र वेद्रुमगवाचमूर्द्धित	१२७
चमरीणां शरोऽकृते	२५	तत्राथ दिग्गटपरिस्त्रलित	२८४
च्युतरत्नभूषणमरीचि	२३१	तत्रावतीर्य रथत	२७८
च्युतमिव सितचामर	३७	तत्रार्णवध्वनिधनो	२८५
चरणयुगतले	३७	तत्तले स्थितिमुपेयुषा	१२८
चलितयनिसमाधि	२०९	तत्तत्पृथक्स्थे कवय	२
चलितोऽसि वद क्र	१८६	तत्तस्मिन्नगते तस्मिन्	८६
चिन्नेप पृथ्वीतिलके	२७०	तत्तस्मिन्नयिल	९८
चित्त प्रसादश्च मनस्विता	२१	तत्तस्तथा पञ्चशरप्रतारित	१९६
चिन्मत्तनु विसपता	३५	तत्तत्तदालोकनकौतुकेन	५६
चित्रवतिन्त्यदि	८७	तत्तत्तद्वीरे रदितप्वनौ	२०५
चिरेण मन्ये यदुल्लङ्घ्योऽय	२२१	तत्तत्तदग्रतमर्षोऽस्य	१७८
चिर विभिन्ना कुमुद्वन्दु	१९	तत्तत्तद्वनिधीन	२९
शुभवनहृष्टविभ्रोष्ट	२४९	तत्तत्तापमक-यामि	१७१
ज		तत्तत्तिरोहिते तस्मिन्	२४
जगदेकललाम तस्य	६९	तत्तत्तुरगमुत्सृज्य	२३

ततस्तुरगहेपाभिः	२०	तदनेन विनोदयाशु	७६
तत सः दूरादहिराजकन्यकां	१००	तद्देहकान्तिस्तिमिरं	१३८
तत् स्फाटिकं स्वमिव	२८३	तद्बधूस्वकरन्यस्त	२४
तत् समीहितभवन्ति	१२२	तद् वासवारिविजयोत्थमिदं	२८२
ततस्य रोमाञ्जनिपीड	११२	तद्वीर्यनिर्वासितसौष्ठवानां	२६४
ततस्सुधासूतिकराभि	१३८	तदधीयखुरोत्खातैः	१९
तत् साध्वकारयदथा	२८६	तदस्य कार्यस्य पुरस्कृतस्य	१४०
ततो वज्राकुशोधान	१७७	तदा फणीन्द्रकन्यापि	८१
ततो विसृज्युतहारयष्टिः	२३८	तदालिपितभपाल	८५
ततः क्षणात् सकोदण्डः	१७१	तदाश्रयैवानुचरेण यधिता	१९७
ततः कृतप्रणामस्य	१६६	तदितः स्वयमेव देव	७५
ततः कृताशीर्मणिवेदिकामृते	१९८	तदिन्द्रनीलद्वारे सा	२४०
ततः त्वमिन्दीवरनीलमेकतस्तया	२०२	तदीयनामाङ्गलिपि	५१
ततः चेतस्यवनीपतिर्दधे	५१	तदीयमुद्गमरसोर्मिनिर्भरं	१०७
ततः पपात जलधौ	३२	तन्निदेशितमध्यास्त	२५२
ततः पिनद्धोज्वलहेमवत्कलं	१९७	तन्निरीक्षणसविस्मयं	१२९
ततः प्रभृत्यद्भुतरूपरेखा	१३९	तन्नि तिग्मांशुनेव	८४
ततः प्रभृत्येव वलीमुखाकृतेः	२०७	तपनीयशिलीमुखस्तदङ्गे	७०
ततः प्रियामौलिमणिर्न	२०५	तमात्तं वाचयेत्युक्त्वा	२४३
ततः फणिकुमारेण	२४९	तमानर्चं स राजेन्द्र	३०
ततः ज्ञानेच्छया	२८	तमित्युक्त्वा सभामध्यान्निर्जगाम	२५८
ततः स मुक्तासितमादधत्	१९७	तयातिदीर्घदर्शना	६०
ततः स मुन्धेन्दुमयूखबन्धिभिः	२०२	तयोस्तथेष्वासपर	२०१
ततः सुधासूतिमिवोज्जिताकृति	२०१	तरङ्गभङ्गोज्ज्वल	२२४
तथा कार्यं न वन्ध्यः	२४८	तरलमणिरुचाऽऽवृतं	३५
तथा तथा दृष्टपथान्तरान्तरा	११०	तरलेऽतिसिताप्रसितद्युतौ	१८९
तथा न चूते नवमञ्जरीयम्	२२०	तरलोमिलितनितम्ब	२२९
तथाप्ययं देव निजप्रयोजने	२०७	तरुकोटरमूकसारिकं	१८८
तथा त्रिवेहि न यथा	२५७	तरुवितपलतान्तरेण	४१
तथैव तस्योपरि गत्वरस्य	२०४	तव चण्डि वितम्बयत्यद्	१८७
तथोपलेभे समरोन्मुखस्य	२६५	तव वेद्मि पौरुषमहं	१५२
तद् गच्छतां शशिमुखीम्	२४७	तव शंसति	१६७
तदत्र कुसुमस्मेरे	२७	तवैतया सत्कृतिपात्र	११०
तदत्र प्रहितो राज्ञा	२५३	तस्मिन् कुसुमकिर्भरि	३१
तदनङ्गपटशर सन्दिश	१५३	तस्मिन् गते	२७९
तदन्तराद् किंशुककान्तितस्करः	२००	तस्मिन् गते नरेन्द्रेषु	१७३
तदनु त्रपया पराङ्मुखीं	१९२	तस्मिन्नित्युक्त्वत्येव	१६५
तदपास्तमेवमवितर्कितोत्थिते	१४५	तस्मिन् पृथुप्रतापोऽपि	१७२
तदनु पुलिने सद्यो	२२५	तस्मिन्श्रराचरगुरो	२८५

तस्य तापजननेन	१२०	स्वदुर्जनोपकारिण्या	२४५
तस्या स्वदुर्गतमुनि	२८४	स्वदीयविच्छेपमवाप्य	१३५
तस्या कुचयुगे	८६	त्यमघ्न भावेव	८९
तस्याग्रतः कनककुण्डल	२७२	त्वमफल्यु नेत्यसि	१५३
तस्यावनिप्रदीप्तस्य	८५	त्वमिद्वैव नाथ मणिधाशि	१५१
तस्याऽविरलमत्तालि	२९	त्वया महीभृतामत्र	१६७
तस्यास्तटेऽथ	२२५	त्वयि पुण्यवशेन दृष्टिमाप्ते	६५
तस्यास्त्रये च	७५	त्वयि स्थिते सम्प्रति	१३३
तस्यासगोर्नुसिंहस्य	१९	त्वामप्यवज्ञिता	८९
तस्या स सादसजिता	१७	त्वामिवाकुर	२७
तस्या हृद्दलचक्रेणि	८७		
तस्याऽसुरे द्रस्य	१४०	वृक्षामयोपनतपीरशना	२७२
तस्यै शपास	१३३	वृक्षाना नलिनीदलानिल	१९४
तस्यै हार महीभर्तु	९७	वृक्षतमरणमद्राराग	४६
तस्योपरि बिम्बो	१८	वृक्षतीव कायि रचिमाप	२३०
ना वृक्ष मरित	१२६	वृक्षताभिरि दुर्करजाक	२६३
ना निशाम्य स	११८	वृक्षस्योपवीतन	१६६
ता दृष्टेनामसात्कर्तुमसुरेन्द्र	२५७	वृक्षान दीप्तिपर्यस्ततिमिरी	२५१
तादृशवृक्षमपात्र	२५४	वृक्षितामनङ्गमदसुति	२६६
तावदागच्छ धनेन	२४७	वृक्षनष्टदमात्त	७७
तिमिराञ्जनभक्तिशोभिना	१८८	वृक्षानयोस्त्रया	२४
तिलकाङ्किता मञ्जुरपुष्प	२३२	वृक्षा दिनस्य तामेय	२६
तुङ्ग वृषन्	२७०	दायिताहिते युवजनन	२३६
तुषारपाण्डुना	९१	दिव चक्रमचारिमरीचि	७
तूर्यस्वनेषु विलसामु	२८२	दिव यियासुर्मम बाधि	२
तेजसि स्फुरति ताडिते	११७	दीर्घेण चक्षुषा लक्ष्मी	१७४
ते त यमेव किल	२८८	दुर्गेति सवत्र गता	९
तेन विन्ध्यादधी	२४	दुमना नृप पथाऽमुना	१३०
तेनाथ मृतसवच श्रुतये	२०८	दुर्लभोऽयमतिथिममापि	१३०
तेनावाप्ततदाताम्र	८२	दुरितघ्नमिव सुदर्शन	११४
तेनैवमुक्त प्रणयो मुपन	२१७	दूरात् सुपर्वारिसुत	२६५
तेनैव मुक्ते च तदा परेषु	१३९	दूरादव स तेनाथ	९३
तेनोपपादितमयो	२०८	दूर सन्तपसेनेव	१७१
तैस्तस्य बाहुवीर्येण	२१	दृष्टस्ततस्तत्परिवारयोभिता	१०५
तौ मुजुलचरैरहरयताम्	१२३	दृश विशादस्तिमितामुपागतो	१९७
व्रुद्धितोऽक्षितहारलेखया	१९३	दृशा वरस्थली	२४
त्वदृशनोत्सवनेव	१६७	दृष्टि फणी द्र	९६
त्वद्वत्ते मुखात्	१५२	दृष्टि सर्वत्र राज दो	२४३
त्वद्वापिहेमपद्मेन	२५३	दृष्टि दास्यति मे	२४९

दृष्टा सखिभिस्साकृतं	८७	न चिरादलङ्कृतिविशेष	२३२
दृष्ट्वा नरेन्द्रमायान्त	९८	नदन्नुत्कम्पिमनसां स	२४८
दृष्टे शिरस्युत्फलिते	२६६	ननर्त विद्याधरसुन्दरीणां	२६६
देवपञ्चगवधभिरुज्ज्वलं	१२९	न नागेषु न सिद्धेषु	८५
देव पश्चात्स्थितो	९७	ननु याम्यमुना शशिप्रभावात्	७९
देव प्रसीद समितिः	२०८	न पक्षपातेन वदामि	६
देव विद्याधरः कोऽपि	२४१	नभश्चराणां व्रजतामसीपाम्	२१२
देवस्ततः स मुनिकल्पितमिन्द्र	१८०	नमदवनिपतिः पतिः	३४
देवस्यार्पितहेमाञ्ज	२५७	नमोऽस्तु साहित्यरसाय	३
देवः स वार	१८	नयनपथमयं यथा	४१
देवः साहसिकोऽप्य	२७२	नयनाम्बुभिः क्षपितधूसराधराः	१४७
देवो रमाद्गदेनाथ	२३	नरदेव देवमधिकृत्य	१४८
दोर्दण्डकण्डूतिमथास्य	२६५	नर्मदोर्मितुलिते	१२१
दोश्चन्दनानोकहमाप्य	१५	नरेन्द्र तस्माद्	२१४
द्राघयत्यस्तत्रिग्वोष्ट	९२	नरेन्द्रं दुर्जिगीपातस्सद्गच्छ	२५५
द्रुतमनुदत् विबुधसिन्धु	२२८	नरेन्द्रनामाङ्कलिपि	८२
द्रुतमयमनुगम्यतामिदानीम्	४०	नरेन्द्रविद्याधरपुङ्गवानाम्	२१२
द्वयोरिवार्थः खलु	१९९	नरेन्द्र सत्यं स	१०१
द्वितये द्वयेन सहसोऽक्षितस्तदा	१५५	नवकुङ्कुमारुणपुरन्धि	२२७
ध		नवपल्लवकान्तिना	१८२
धन्या हि ता वनलता	३०	नवपल्लवारुणमुवाह	२३७
धनुपि तनुभरं निधाय	३४	नवप्रवालद्युतिपाटलोदरः	२०२
धनुपि क्रियतेऽधिरोहणं	१९१	नवमेघमलीमसाद्युगान्ते	७१
धवलाभ्रकच्छुरितभित्ति	२२७	नवसाहसाङ्क नं तवासुरादहं	१४९
धवलोदरैर्भयवशेन	२३०	नवानुरागमङ्गेन	८३
धावत् कराकर्णशिरीपलोभात्	२१८	नवाम्बुधरनीलोयं	२७
धूमेन या नैकमखोद्गतेन	९	नवाम्बुवाहप्रतिघम्य	११
धृतमूमिहस्तनिवहेन	१५५	न विनोदयितुं शक्यमेवा	२४४
धृतयावकाङ्क्षमणिकान्त	२३२	नवीनसाहसाङ्कस्य	८२
धृतया हृदि बालेयं	२४५	नवे नवे पङ्कजिनीपलाश	१५७
धैर्यं नवृतकोपोऽथ	२७६	नवोद्गताशोकपलाश	६२
ध्वजाप्रलम्बेन विलम्बता	९	नवं प्रेम नवोत्कण्ठा	८७
न		न शेकतुस्तस्य गतिं	२६५
न कयाप्यतिशय्यते	६९	न स दृष्टिमितस्तवापि	७३
न किञ्चिदिच्चाकुकुलावतीर्णात्	१३३	नानाङ्गरागशबले	२३८
न किमयमुद्गमण्डलापवादः	४८	नाखं न भस्म न जटा	२७८
नगरीं स्वदात्तहृदयोऽपि	१५५	नास्य क्षितीशोपकृतं	१३२
न चन्दनेन नोशीरवारिणा	२४७	निकाममच्छैः प्रमदा	९
न चित्रमेवं	१०९	निकाममुक्तं सुकुमारमङ्गना	१०७

निकामसरले तस्मिन्	८२	नृप शुद्धोत्तु न यमप्र	११२
निर्गच्छदच्छरचि	२८३	नृलोकपातालललाधये	१९९
निबुलवनमसीत्य वसते	४१	नेत्रोधिनि तपोर्न	११६
निजमर्थयसे शिखीमुग्ध	७१	नेत्र प्रवालशय्याया	२४४
निजद्वारप्रयोगनपटीयसाऽमित	१४८	नेत्रे कवीन्द्रा वति	२
निजवशविशेषकोऽस्मि	६९	न्यञ्जच्छिन्नाभरण	२०९
निजौघसीमन्तितसाधु	२०३	न्यभादनीक करिणा च	२६०
निद्रायलक्ष्मीहसितच्छदेय	२१७	न्यस्तानि यानि	२८८
निद्रागृहीतनिर्मुक्त	३१	प	
निपप्य कुम्भेषु	२६२	पञ्चैकन स्मर इव	३२
निपीय निखिल	३०	पतरयथ कुङ्कुमपट्टपाटले	१०३
निपीयमानस्य पौरुषी	२५१	पतद्गत निदलितारववार	२६४
निपीयमानस्य तथा	१०५	पया यह वनाग्नेषु	१७०
निपुण ! नि शसिप्येऽ	९०	पशु प्रजानामसुरेश्वरोऽथ	२७१
निषङ्गभीमभृदुदिविलाकयन	२०६	पशु प्रमादस्मिन्तरङ्गुहृष्टा	२६६
निमग्नविद्वाभरुपोल	२२४	पथि चेदवतिष्ठते	७४
निघन नरेन्द्र	१५०	पथिस्मरस्य विषमे	९१
निगुण्यते नृपेणार्थे	२५३	पदे पदे साग्द सुधोऽवलानि	५
निर्घृकनानाद्भुत	१२	पद्मरगारचिताललाङ्का	१२८
निवर्तमान तु हठात्	२०४	पद पथि निधत्तेऽत्र	२५७
नित्राणवीर्यवासेऽस्मिन्	२५६	पया पुरोऽसरस्याथ	१०१
निमगरकमेतस्या	२४१	पन्थारिसवोऽथ पुरतोऽत्र	१४२
निसर्गकलिता	२९	पञ्चतेन्द्र बुद्धिदु क्लेश य	१२२
निहतेषु स्वया	२६	पपौ सशिरभाष्येन	८६
निहित बलिदीपकेषु	१८७	पयाधरोत्सगनिवास	५९
निहिता साम्रमालिभि	२४६	पयाविजातोभयसंय	२६८
नीर भ्रभूतिधवलध	२७८	परमर इति प्रापत् स	१७२
नीरभ्रसिधुजल	२७७	परवज्जनपण्डिता मति	७८
नीलकण्ठप्रिया काम	१६९	परस्परसंधि विलास	६२
नीलच्छत्रावतसा	२८७	परस्परवद्वित	२७०
नीलातपत्रमित्रेण	३०	परस्परयात	२६८
नृपतिरथ तदो मुग्ध	३५	परस्परपातिरूपाजनिवत्	२६१
नृपतिरनुभयी वने	४४	पराङ्मुपीतामपि रत्न	८
नृप वासराणि निरूप्यत्वा	१४८	पराङ्मुपनापि सदा	१२
नृपस्य कस्यापि परिच्छदाग्रना	६२	परिच्छेदितमयवपूरिता	३७
नृपस्य चित्रे	१०४	परिच्छुम्बति वाष्णी दिप्त	१८५
नृपस्य दीपिकावृत्त्य	२५०	परिणाहवत् कुशनिषिद्ध	२२८
नृपस्यारण्यसञ्चार	९४	परितापयत्यविरलो	१५६
नृपेण स्वयमुपगमि	२४१	परिपिञ्जरिताऽसिताम्बरै	१८७

परिमृज्य मुखं विलासिना	१९३	प्रतिभाति दधन् फणा कलापे	६७
परिविन्दरेखमधिनीर	२२६	प्रतिमागतेन्दुकरजाल	२३५
परिवेषविभ्रम	२२८	प्रथमं हि मण्डलमखण्डशक्ति	१४५
परिस्फुरत् कुण्डलधृष्ट	२६९	प्रधावदशवीयसुराहतानाम्	२६२
पश्य पश्य चपलेयमन्तिकात्	११८	प्रधावमानेन मयान्तरान्तरा	२०४
पश्यात्र वातायनमेतदेत्य	२१६	प्रभामण्डलपर्यस्ततमसः	१६४
पश्यात्र दपणतले लिखिता	१९४	प्रभुशक्तिरुधम	१४८
पश्येयमुद्राहुलताऽहितश्रीः	२२०	प्रभुस्तव न यज्ञोऽपि	२५५
पाण्डुपचमलदृशः	१२०	प्रभुतटसुगयारेणु	२८
पाण्डुः शरद्वर्णे	१६९	प्रणायतूर्यध्वनिरेप किं	२११
पातालमेतन्नयनोत्सवेन	२१३	प्रवृत्तपतिशोकार्त	२५७
पीनांसतरसंश्लिष्ट	३१	प्रशान्तचिन्तासन्ताने	१७२
पुनः पुनरिति स्वाहु	८२	प्रशास्ति परितो	१७६
पुनः पुनः पट्पदराजि	५१	प्रस्थानशंसी सहमा	२४८
पुरा किल ब्रह्मकमण्डलोर्यत्	९	प्रस्थितस्तदनु सोद्यमं	१२७
पुरो रणोत्सेकभृतां	२६०	प्रसाधिता येन च	१३
पुरो विमुञ्चन्नयने	५३	प्रसादमस्माकमरण्य	५४
पुरं कालक्रमात्तेन	१७६	प्रसादमाप्तेन चिराद्विलीने	१४२
पुरः पदे पदे तस्य	१९	प्रसादहृद्यालंकार	३१
पुरः शिरस्याहित	१०५	प्रसूनमप्यत्र न जातु	२०६
पुष्पदाम दधती	१२९	प्रसूतेव विलोचनोदरे	१९१
पुष्पप्रवालाङ्कुरमण्डलं	२२३	प्रसूतैर्गिरिकन्दरोदरात्	१८८
पुष्पाणि चिन्वत्यतिमुक्तकस्य	२१८	प्राकारवप्रच्छलतः	४
पुष्पाणि नानाविधवर्णभाजि	२२०	प्रावृड्विलासस्मितमुद्रहन्ती	२१८
पुष्पोद्गमेनेव	९८	प्रावृत्तितातिविस्तीर्ण	१७२
पूर्णन्दुग्धियादपि सुन्दराणि	२	प्रियकीर्तयो जयपवित्रिताशया	१४६
पृथिवीभृतः प्रथितविक्रमेण	१४६	प्रियपाणिपङ्कजधृतेषु	२३३
पृथुप्रतापस्सविता यथैव	१३५	प्रियसोमः सदा युक्तः	१६६
पेशलोक्तिनिपुणस्य	१३०	प्रियं नः सोऽयमायाति	९६
पौलोमीरमणस्यैव	१७४	प्रियापितः कान्तनिपीतमुक्त	२१७
प्रकटं दधज्ज्ञटिति	२३४	प्रियेयमारुदगुणा	५७
प्रकाशयन्तः करणप्रपञ्चं	२६१	फ	
प्रकाशिताशः परितः	१५	फणावलीप्रापतितोरगाणाम्	२६२
प्रकृतिः किल यस्य ते	७१	फणिराजसुताकर्ण	२४२
प्रणयोक्तिभिर्मुनिरथ	१५३	फणिराजसुतामेप	२५३
प्रत्युत्तरत्नमभितः	२७९	फलं शिरीषेण चिरादवाप्तम्	२२१
प्रतिक्षणं या गलितांशुका	६	च	
प्रतिपदमतिदीर्घहार	३६	वन्युजीवकुमुदच्छवीमुखे	१२८
प्रतिभान्ति पुरस्तेऽपि	१७०	बहुना किं	९३

त्रेक्षाण्डमण्डपरतमम्	१६८	भनागिवासादपवर्तितानना	१०७
घालप्रवालाङ्कुरपाटलस्य	१५७	भनोहरं कामिजनस्य	१०
विभ्रतो विकटदृष्टमाननम्	१२५	भमापि तस्यामधिक	२०२
विम्रोष्ठ एव	९०	भयाऽथ तत्र भ्रमता	२०१
ब्रूम क्रियगय कथञ्चन	१५८	भयि गासुरि	२०
भ		भयैवमुक्त स	२०७
भक्त्याथ वास्येव मम	३	भरतावधूतभलघोत	२२६
भटाद्यपूर्ण परितो	२६२	भरुता सुहृदेव वीजिनम्	१०२
भदन्तस्मरसाभ्राज्य	१६५	भसृणात्तिपल्लवितनी	१११
भद्रतद्वज्र रत्नचूड	१५८	भसृणोत्तसदशु	१९०
भ्रमद्विरेफात्रलिलोलदृष्टि	२१७	भहामहिपनिप्लेश	२१
भरेण भूमे स्फुट	१३	भहमयोस्तत्र	२६८
भवत कुतोऽपि नृप	१५०	भाग्यु रुदासु निरुदभारात्	१२५
भरता यदोच्चलिन एव	१४९	भागरिवापतैर्वाचा	२१६
भयद्विहितवदिनैव	६५	भागिव्यवातायन	११
भनादशीना महता	१३६	भा मू कदापि	२८७
भाति स्म कपटा	१९	भारनैरपरपारमुद्यया	१२७
भारानभज्जोतिफणास्थिताया	२२४	भा त्रिपीद नवसाहसाङ्क	१२१
भालेषु भीमा भृकुटीर्वह्मो	२६०	मिलितस्तत्र गण्डलेखया	१८४
भुजङ्ग रक्षणार्थकीमुदीयम्	१३८	मुक्तघररवस्त	१०५
भुजन बिजान्नवरज	५७	मुजाद्य स्त्रीषु	१६५
भूपतावनुरक्ताया	९२	मुनै समूहन	२६३
भ		मुग्व निशाघ्रातमिहारविन्द	१३४
भगिकान्तिलुसतिमिरे	१५६	मुग्धमरवरजच्छत्र	२०
भगिप्रप्रीवकोद्गूर्ण	२४०	मुखे तवासक्तमिद	११४
भगिमुक्तिपु जगमुषोड	२३४	मुखे दुमि पौरविलासिनीभा	६
भगिहर्म्यतलानि रत्नदीपा	६७	मुञ्जत्पक्षि पुष्पलतामिनोऽयम्	२१०
भदनात्तरिनाऽपि	१८२	मुद्रितस्मरसौन्दर्यवाता	२४१
भदमासवेन रमणेन	२३६	मुहुरद्वलताविवतने	१८१
भदाभ्युवर्षी समरेऽभिघातन्	२६६	मुहु प्रजानामभिपेन	२९६
भदिरासि पुरोऽवलोचयताम्	१८६	मृत मनोरथमिषोपवनात्	२७२
भदिरार्पिताधरदलेन	२३६	मूले भुव कञ्जलपूलिन्स्पम्	२११
मध्यच्युते विभ्रति	२१९	मृगजातिपूर्वैव	२५
मधु कापि पाटलकपोल	२३५	मृगयासक्तचित्तस्य	२६
मन्द्रकण्ठनिमदो	१२६	मृगानुसारी विचरन्	२३
मन्दानिला दोलितपञ्चवामा	२१५	मृदुप्रयातीयमनिग्ननिग्नयो	५४
मये तवैतस्त्रीरन्ध्रमज्ञात	२५६	म्लानिमाप स तथा	१२०
मनसा किमालिपति	१५६	य	
मनसिजवरवीरवैजयन्त्या	४९	य द्यौःशुशलाकस्य	१६८

यच्चापलं किमपि	२८८	यावदेते न मुञ्चन्ति	२५५
यत्र प्रतापोर्जित	१६	या साऽस्य शक्तिः	१३६
यत्राननेरेणदृशां	५	यां हरस्याष्टमीमाहुः	२५६
यत्राष्टमीचन्द्रमुपेयिवांस	७	युगात्ययाम्भोधरनादधीर	२६१
यथा तवेयमरतिर्यथा	९०	युतां सिताभैः सुमनोभि	५३
यथातिजिहेपि	११०	यूथे महावराहाणां	२२
यथाप्रदेशमायातैर्व्यक्ति	१६७	यूयं वव मानुषाः	२५४
यथाऽयमभ्येति पुरो	२१४	योगक्षेमोपपत्यर्कमुपविष्टः	१६६
यथास्मि वक्तृसि	१०४	र	
यदधितार्ताऽभूदनुबन्धमानसैः	१३९	रणे रणे मुक्तकृपः	१३
यद् दीयते तव न	२८३	रक्षासव	२६७
यद्वभूव पुरतोस्य	१२४	रत्नचूडोपनीतेन	२४७
यदभूत्तमसा जगत्तथा	१९१	रत्नवातायनस्थस्य	२४०
यदलं किल मानवत्यभूत्	१९३	रत्नाकरत्वं भुजगेन्द्र	१३८
यदाश्रमे वङ्गमुनेर्युवयः	२५२	रथाङ्गपाणेः प्रतिमा समुद्रतः	२०२
यदि कौतुकमायतेक्षणे	१८९	रभसाकृष्टकोदण्डं	२०
यदीश विद्याधरवाहिनीयम्	२१५	रभसादपास्य मणिकङ्कणावलीः	१४७
यदुदीरितश्च	१५०	रम्भा त्वयेव यत्	८४
यदैव सा तर्जित	१३७	रमाङ्गदास्तृतस्तिग्ध	३२
यथा सखी वः किमपि	२४७	रमाङ्गदोप्युद्भ्रुकुटिः	२६९
यदैवास्मत्सली	२४३	रमाङ्गदोऽपि निर्वर्त्य	३०
यद्यद्वनेऽभूत् कुसुमं	२२२	राजन् महीतलमृगाङ्ग	२८१
यद्यदस्तीह पाताले	२५५	राजा फणीन्द्रदुहितुः	२८२
यन्निमज्जति	२५	राजास्ति तस्यां स	११
यशोभटे रूपमवन्ति	१०७	राजेन्द्रदीपके तस्मिन्	२५७
यशोभटोपदिष्टन	२८	रामार्थवद्धकक्षेण	२५०
यशोभिरिन्दुशुचिभिः	१७६	रुक्चेऽलिमण्डलमुदंशु	२३४
यस्मिन्वहृत्यग्बुधि	१४	रुक्चे स पुरस्	१९
यस्य प्रयाणे पृतना	१५	रूपमास्वादयामास	८६
यस्य शृङ्गेन्द्रनीलांशु	१६९	रूपेण तेजस्वितया	१३२
यस्याप्सरोभिः	१३	ल	
यस्यामनेकामरवेश्म	१०	लक्ष्मीपतेः पृथुभुजद्वयम्	२७१
यस्यामसंचितदृशां	६	लक्ष्मीरधोक्षजस्येव	१७४
यस्यां गृहप्राङ्गणपद्म	७	लक्ष्मीलतानव	२८८
यस्यां विसृत्रोऽक्षित	१०	लग्नसान्द्रगजशोणितच्छटैः	१२५
यस्यां समुन्मीलति	८	लग्नेनाङ्गे युगपदुदज	२०९
या जूटमध्ये च	१३६	लज्जयावलितकंठकदलं	१२०
यान्तमेकान्तशिशिराः	१६०	लतया कार्णिकारस्य	९२
यावदङ्कुरितमत्सरो	१२६	लतापुष्पोत्करैः	२८

लतेव मग्नीलितपट्पदत्थना	१०९	विजयी यदस्मि समरेषु	१५१
रतैतया चूनतरो सलीलम्	२१७	विजयैकसन्नि गुण	१४९
लीलाकटाक्षे मदिरेक्षणा	७	विजित्य लकामपि	१७
लुम्पन्ति स्वन्मुखच्छाया	२५४	वितेनेऽप्यहिकयाभि	९६
लुलिताञ्जनस्य नयनस्य	२३०	विदधे वधूर्निजकराग्र	२२९
लूना ममूल सुभटामिपत्रै	२६३	विद्याधरव्यालभटावलुप्त	२६४
र		विद्याधरस्तदनु स	२०८
वन्नि व्यक्ताध्रुलेखेन	२४४	विदिता खलु वासुकेखिलोदया	६७
वक्षो दधानममराद्रिशिलाविशालम्	२७५	विद्यानुमेनामहमेव वा	५८
वस्मा व्रजानय	२७९	विधाय तत्तादशमिन्द्रजाल	१३७
वदन्ति नाशिमूर्खमिमो	४९	विधिरसुरात्मन	२१
वदान स्म हसन्	७७	विभूतनिश्चिततरङ्गितानि	२६७
वदानवधाग्नि मग्नीजनाहत	१०८	विधूयमाना पवनेन	५
वधूर्दिलीपस्य सुवर्णिना	११३	विधृता करे प्रियतमेन	२३५
वधून्तवाधिरेणात्र	१७९	विन् यान्तश्चरतानेन	१७७
वनभुवि पतित कुतो	३९	विन्यस्यवन्धूकदली	२२१
वनभीरवमञ्जीरो	९५	विपक्षहृद्भङ्गता	१४
वनान्तदेवतावास	९१	विपद् विलोक्य तव	१५४
वनान्तमेता वनिता न भोक्तुम्	२२३	विभिन्नचूर्णलकभक्ति	६०
वनानिलाहतो	८९	विभिन्नमान कमले	१५
वलिनाहितनि सहाहुलि	१८३	विमुञ्चती चक्षुषि	२१९
वलितेऽपि किञ्चन	१५०	वियुक्तपर्यङ्गल	१९८
वलित न विभाति पृष्ठत	१८३	विरतेऽपि मेघतिमिरे	१५५
वशी कृताक्षमालो य	१७५	विरमन्नपि पलवाचरे	१८६
वश प्रवृत्ते	१७२	विरमात्यदर कोऽय	२६
वसति स्वयमेव	६८	विराजतेऽस्यास्तिलको	१०२
वसन्तकमलोद्भासि	९८	विलासकाञ्चीमयकालरात्रे	२६६
वसन्तमप्यम्ब मयि प्रसन्ना	१३७	विलासिनीसमलसत्	४
वहस्यऽशोकोऽयमर्यवान्ता	२२०	विलोकयन्ती कुसुम	१०२
वहति स्म निर्मलकपोल	३३२	विलोकयन्ती तमपाङ्गलोचना	११३
वाचालयन्त्य कुकुभा	२१२	विलोकयास्या	१०२
वाचालरत्नवलय	२७५	विलोकितालेख्यकपोलभागात्	२१८
वामनस्वमलिन स्वमयजन्	११६	विलोकिन्ति चित्रमलीकभापिणी	११३
वालातपच्युरित	२८५	विलघयन्ति श्रुतिवर्त्म	९
विरसितकुमुदच्छदा	३५	विवतयन्ती यदनेन्दुमण्डल	१०६
विरुलितऋषरीकटाक्ष	४४	विवृतमुखश्चरस्य	३६
विरुतिरुदाधिभुक्तिपु	४८	चिवेश हृदये तस्या	८६
विगलत्तिमिराष्टुके	१९०	विश्वाङ्गना सरकवचे	२६५
विधिवती किञ्चिदिवयमाद्रात्	५४	विशालनेत्राभरणैरनुदुष्ट	१९८

विषयेऽत्र मौनमुचितं	१४५	शाखाग्रलग्नासु	२१६
विस्मयेन विषयीकृतः	१२७	शिखण्डकेतोः शशिखण्ड	२०२
विस्त्रस्तमाल्यां श्लथयन्धनत्वात्	१३४	शिखरासन्ननक्षत्रौ	१६८
विहस्य विद्याधरवालिकाभिः	२१२	शिथिलाकुलकेशपाशया	१९३
विहितो नहि वत्सि	७८	शिथिलीकृतजीवाशाः	१७४
वीरव्रतस्यालङ्कारमहंकारस्य	२५२	शिरीषादपि मृद्वङ्गी	२४४
वीरपु धावत्सु	२६१	शिलाभेदक्षमेनापि	२३
वृते मधूमथ विवाहमहोत्सवे	२८४	शिलीमुखेऽस्मिन्	१११
वृन्तादपास्तेर्मरुता	९	शुद्धैकगुणसम्पृक्ता	१६६
वैरिसिंह इति प्रापज्जन्म	१७४	शुशुभे कयापि	२२८
व्यक्ततत्त्वरणलघमणा	१२२	शृणु शङ्खचूडशुचिवंशभूरहं	१५३
व्यधादिवोद्वतै	१९	शोभिता किमपि	१२८
व्यधितप्रणयं दृशां	१८१	श्रममपहरस्तंनूर्मि	४२
व्यनक्ति कल्याणमयी	५७	श्रममेव मुञ्चत	२२६
व्यञ्जितानङ्गलीलेन	८८	श्रमानुरोधादुपविश्य	१०६
व्याधूतिमुक्ति	१८	श्रान्तासि कौतुकहतेन	६३
व्यापारयन्ती वलिताननेन्दुः	१३४	ध्रियि प्रतापे यशसि	१७
व्यासः पुरा किल	२८४	ध्रियं नीलाब्जकान्त्या	१७६
व्रजन्नमर्त्यप्रमदाविमुक्त	२११	श्रीकण्ठवैकुण्ठपुरन्दराद्यैः	१४१
व्रजन् स विद्याधरवाहिनीनाम्	२१०	श्रीमत् कविप्रियसुहृद्	२८८
व्रीडावनभ्रमुखपद्म	२८१	श्रीमद्वाक्पतिराजोभूद्	१७५
श		श्रीसाहसाल्लोज्ज्वलकीर्ति	४
शक्तितेन्द्रेण दधता	१७३	श्री सीयक इति क्षेत्रं	१७४
शकुनिरयमितो दिगन्त	४०	श्रुतशक्तिसङ्कलितमत्र	१४६
शङ्के शरमृजृकुर्वन्	८७	स	
शतशो विलसन्त्युदंशु	६८	संसर्गमासाद्य विलासिनीनां	१०
शनैर्वयन्ध जघने	२४८	सख्या कयापि लिखितं	२८०
शनैस्ततस्तां सविधो	५९	सखि ! साहसिकः	८४
शनैः शनैरथ व्योम्नि	३२	सखीनामनुरोधेन	९७
शनैश्चरन्ती विपिने	५३	सङ्गीतवेशमनि	२७५
शवलं शशालान्धुनत्विषा	१८९	स च त्रिजगतः	२५०
शबलास्त्रिह कृष्णसारयूथैः	७२	स च परिणतलोध्र	३८
शय्यीकृतातनुस्वर्ण	१६२	स च विततमरीचि	४५
शरदिन्दुमरीचिनिर्मलं	१८२	स च विन्ध्यवनान्त	७२
शरदीव प्रसर्पन्त्यां	२१	स च सपदि रमाङ्गदो	४६
शरादुज्ज्वलकपोल	१२०	स चान्तुतप्राभृततोपितः	२०१
शरः संहृततामेप	२६	स चित्रवर्ण	२०
शशीकररुचिना स	४८	सचेन्द्रनीलहर्म्येषु	२५१
शशिप्रभाक्षिविस्तार	१६१	स जलांशुकान्तिविशदा	२३१
शशिप्रभाशानलिनी	५१		

सक्रिया रचयितु	१२९	सरसि घबलिते तत	४५
सत्पुष्करानजनपुत्रभास	२६१	सरसोऽस्य विमुञ्चनी	७९
सत्पुष्करोद्घोति	११	सरागवरयुक्कलिका	१०५
स तव श्रुतिमास	६६	सरोजिनीव	९८
स तस्योपायनीचक्र	२४९	सलिलगतधियाऽथ	४४
स तस्या दूर	२९	सलिलाहतिश्रुतिहार	२३०
स तेषा सहजो	२२	सलिल किरन्तमवलोक्य	२२८
सद्य करस्पर्शमवाप्य	१२	सलीलमेव वदति	११०
सदागतिमनुचेन	१७३	स वत्स, जाते जनक	१३२
सदा समकरस्यास्य	१७७	सविलासमुदस्तहस्त	६६
सदा सदाचारपरेति वार्तया	१०८	सविस्मयो लोचनमार्गमाप्तया	१००
स दूरोदस्तपर्यस्त	२९	सवंगमलानिलवेष्टिता	२०४
स दृष्टिमथमायाति	१६६	स शरापातमीतेन	२४
सद्भाभिधिग्वेन	२६६	स सन्नत यन्मृगशावचक्षुष	१९६
सनये नृपतावरद्विताज्ञे	७४	स सम्भ्रमोत्ताम्भतर्कणतालम्	२१०
स नृलोकशशिस्वमेव	७३	सहते नृपती नैव	२५५
सपरागे विश्राम	३०	सहसा हृदये तस्या	८१
स बाष्पपर्याकुललोचनानि	१४१	सहसैवातिथि प्राप्त	१६५
स भृङ्गध्वनिना	३०	सहामुना किञ्चिदुपान्त	५८
समनिस्तम्भमग्रेऽथ	१७७	स हि केनापि कृत्येन	८५
समस्तरे चेतसि दुजनानां	३	सहेमशृङ्खला	२०
समदक्रोडदंष्ट्राभि	२२	सहेलमभ्युदरता	१२
सम्प्राप्य पृथिवीपाल	१६१	सा च दो सायितभुवा	८८
सम्प्रत्यवेमि प्रथिता	१३९	साऽचिरांशुतपनीय	११८
समर्पिता पार्थिवपुष्पकेतुना	११२	साऽतनुषसनस्पृष्ट	८२
समया न तटेपु	७२	सा ते समासाद्	१४२
समानभावैस्त्रिभिरेव	१३३	सा द्रहेभरमसा महौजसाम्	१२४
समीरवेष्टततहेमवस्त्रि	२२३	सा द्रोन्मीलसौरभाण्डुद्रहन्त्यो	२३८
समुच्चरन्नपुरसि	५९	सान्द्रानुरागपिशुन	२०६
समुद्रहन्ती स्रवदंजनधु	१५७	सापदेऽथ मुञ्चगे द्रकयका	११६
समुपेति सनायतां	७४	सा पाटलाविधुत	२८१
समेधितश्रीरभितस्तलोत्थितै	२०३	सा पुरातनपथेन	११८
स मौलिरत्नानि	१४०	सा पुरो मम हृतेति	११९
सरलनकास्त्रीवल्यै	२१२	साम्राज्यभारोद्ग्रहण	१७
स रत्नचूडोऽपि	२७०	सारोपमारोपितचापवष्टि	२६१
सरले क्षटियुद्धित	१५६	सावहित्यमथेत्य सा	८३
सरले सह वारिजश्रिया	१८७	साहसोदधिविलोदने	११८
सरस्वती कवचलतैककन्द	२	सा हारहस्ता स्तुचे	९६
सरसागसेव रमणेन	२३३	सितचक्षुषामसितरत्न	२२६

2017

(३०८)

सितचामरधारणे	७२	स्फुटविद्रुमराजिनैकतः	१८०
सितप्रसूनस्तवकैस्त रूणाम्	२१५	स्फुरदद्भुतरूप	६९
सिताश्महर्म्यमुत्तुङ्गं	२४०	स्फुरदुदरनिवेशितेन्द्र	४८
सीमा सती तिश्दस्य	१६३	स्मरवरकरिहस्त	३८
सुगन्धिहारदनुलेपनं	५१	स्मराग्निकणमेणाद्यास्तस्याः	८१
सुजनमिव गुणरूपोढ	४६	स्मरेणमर्मणि	८८
सुजातकाटिन्यपयोधराः	२०३	स्मितङ्गोत्तनादरिद्रेण	१७५
सुदृशां निमज्ज्य	२२७	स्मितमेतदलोलाक्षि	९०
सुदृशां मदादथ	२३७	स्मित्वा यशोभटकरार्पित	२७२
सुदृशः स किलान्वतश्चुतं	१९४	स्पर्णाग्ने स्वयमथाच्छु	२८०
सुदृशः स्फुटं	२२९	स्वपुरोपवने समुत्सुकः	१८२
सुदृशः स्फुटं नयनखाद्वसुरसि	२२९	स्ववीर्यपर्यस्तपुरन्दरेण	१३८
सुधारस इवोर्वीभृत्तया	९६	स्वस्ति स्थितस्य स्वः	२४३
सुधानितं क्षौममिवास्वृतं	१३४	स्वेदभिन्नाङ्गरागः	२९
सुन्दरी द्वितयस्यात्र	९३	स्वेदोदविन्दुच्छलतः	२२२
सुभ्रुव' स्मरविलासदैगिकं	१२२	ह	
सुर-किन्नर-सिद्धकन्यकाभिः	६९	हंसैरिव स्मेरतटाः समन्तात्	२६४
सुरतवलान्तशवरी	९१	हटेन नेतुं वशतामिवात्मनो	५४
सुरभिक्षुसुप्रभुभिः	३८	हन्तैप पद्मपते	२७६
सुरापगावीचि	१०३	हरयः शेरते यस्य	१७०
सुवर्णपुङ्खे लिखितं	५८	हरहसितसितं दिवापि	३७
सोऽतिमात्रगहनेऽपि	१२१	हरिणाङ्गसुन्दरमनेक	२३३
सोऽथ प्रवृत्ते गन्तुं	२४९	हरिणीदृशो हतपुरन्धि	२२८
सोऽपि तं वलित	२३	हरेस्त्वमशोऽत्र	१४१
सोऽहसस्मरलीलेन	८१	हारेणाऽमलक	१८
स्तनपत्रलतां तस्या	८६	हिमच्छटाहारिभिरंशुजालैः	५
स्तिमितेवावतस्थे	८८	हिरण्मयी पार्थिववाण	२६९
स्तुत्वेत्यवन्तिपति	२७८	द्विये तवेयं यदि	११०
स्थाने तवानुरागो	९४	हृतमुग्धमधूरुशोभयोरनयोः	१९१
स्थाने यदाह्लादयसि	१३६	हृतसुप्तमशतपत्र	२३३
स्थापितैर्मणिपीठेषु	१७२	हृतं कुतूहलेनाऽलं	१६३
स्थितमेतदयमुखेषु	७४	हता तस्यैकदा धेनुः	१७१
स्थित्वाथ किञ्चित्तमवन्तिनाथम्	१३०	हृदयन्यस्तकर्पूर	१६२
स्थिता परिप्लव्य सरोजिनी	५५	हृदयेशसुकजलधौत	२२९
स्थितोयमन्तर्नवपल्लवानां	२१८	हृदि प्रविष्टैरविशुद्धि	२६८
स्थिरा भव नृपेण	९५	हेतुद्वितयमेवात्र	१६७
स्थिरो भव मितं कालं	१७९	हेमपुङ्खाङ्किते तस्मिन्	८२
स्थूलाध्रुधारासन्तान	१७१	हेमं नृप स्यन्दनमुत्पताकम्	२११
स्फुटत्फणच्छत्रमणि	२६७		

